संपादक

## श्रीनारायण चतुर्वेदी — कृष्णवल्लभ द्विवेदी

*सहयोगी लेखक आदि*

**डा० गोरखप्रसाद,** डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

**श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव,** एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, किशोरी रमण इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा।

**श्री० मदनगोपाल मिश्र,** एम० एस-सी०, लेक्चरर, रसायन विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

**श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल,** एम०ए०, एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

**श्री० रामनारायण कपूर,** बी० एस-सी० (मेटल०), मेटलर्जिस्ट, नेशनल आयर्न एण्ड स्टील कंपनी लि०, बेलूर।

**डा० शिवकण्ठ पाण्डेय,** एम० एस-सी०, डी०एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

**श्री० श्रीचरण वर्मा,** एम० एस-सी०, एल-एल० बी० लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

**श्री० सुरेन्द्रदेव बालुपुरी।**

**श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना,** एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थ-शास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

**डा० रामप्रसाद त्रिपाठी,** एम०ए०, डी० एस-सी० (लंदन) रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

**डा० राधाकमल मुकर्जी,** एम० ए०, पी०-एच० डी०, प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

**श्री० वीरेश्वर सेन,** एम०ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ़्टस्, लखनऊ।

**श्री० व्रजमोहन तिवारी,** एम० ए०, एल० टी०, लेक्चरर, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

**डा० सत्यनारायण शास्त्री,** पी-एच०डी (हाइडलबर्ग)।

**डा० डी० एन० मजूमदार,** एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ़० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

**श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी,** बी० ए०, साहित्यरत्न।

**डा० विद्यासागर दुबे,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (लंदन), डी० आई० सी०, अध्यक्ष, ग्लास-टेकनालाजी डिपार्टमेंट, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय।

**डा० इबादुर रहमान खाँ,** पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।

**श्री० कुँवर सेन,** एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ; जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट।

**श्री० भैरवनाथ झा,** बी०एस-सी०, बी० एड० (एडिन०) इंस्पैक्टर ऑफ़ स्कूल्स, यू० पी०।

*प्रकाशक*

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

**एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,**

चारबाग़, लखनऊ.

# इस अंक की विषय-सूची

## विश्व की कहानी



## पृथ्वी की कहानी



## मनुष्य की कहानी






पं० भृगुराज भार्गव द्वारा अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स, चारबाग़, लखनऊ, में मुद्रित तथा
एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कम्पनी लिमिटेड के लिए प्रकाशित

# विश्व की कहानी
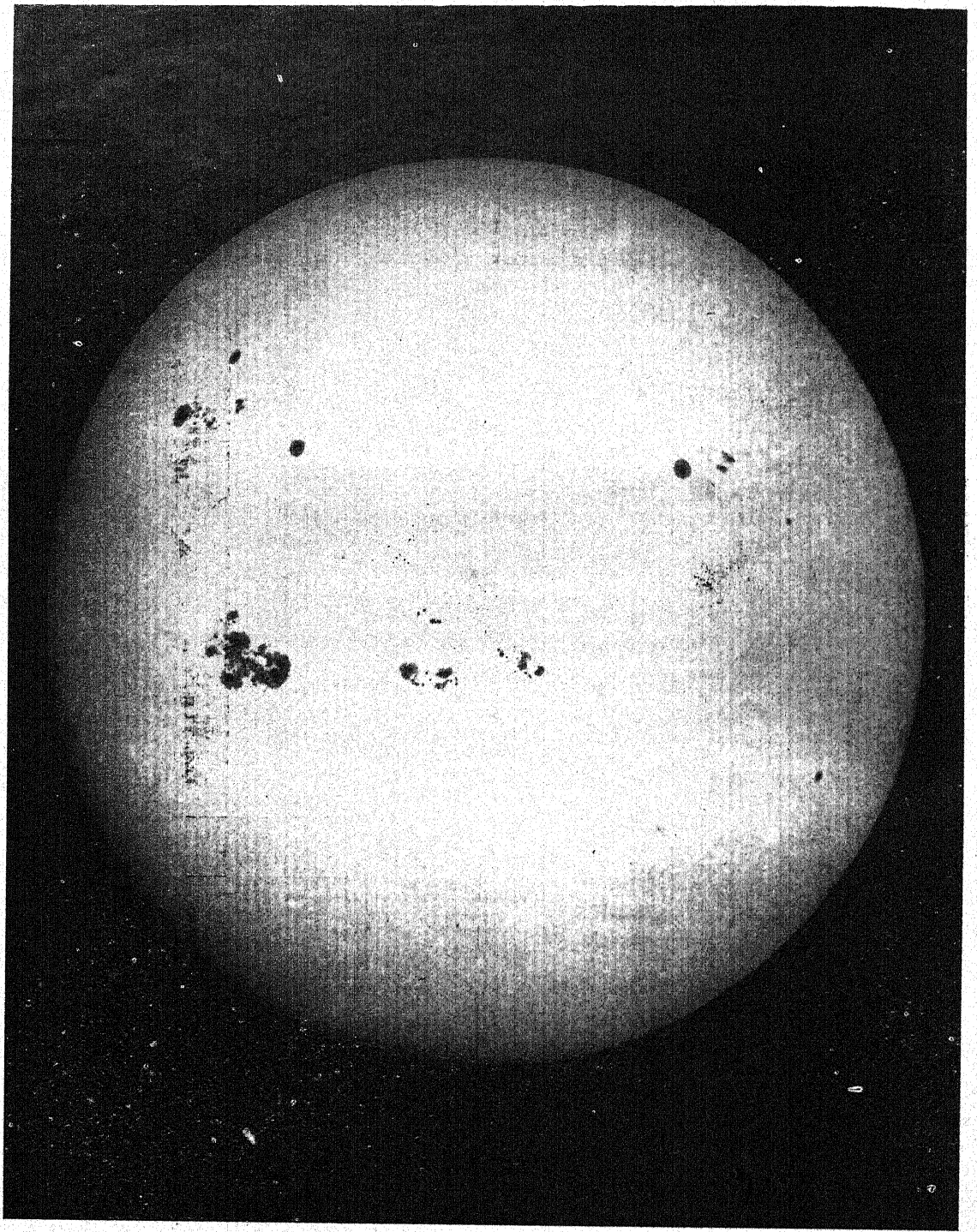
**हमारे जीवन का अवलम्ब—सूर्य**

विश्व की अनंत व्यापकता में एक-से-एक बढ़कर तेजस्वी और विशाल नक्षत्र बिखरे पड़े हैं, किन्तु हमारे लिए तो सूर्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि सूर्य मिट जाय तो तीन ही दिन में पृथ्वी से जीवन विलुप्त हो जायगा। ऊपर का चित्र माउण्ट विल्सन वेधशाला में लिया गया सूर्य का एक फ़ोटो है। इसमें बीच-बीच में छोटे-छोटे काले धब्बे 'सूर्य-कलंक' हैं, जिनके बारे में विस्तृत हाल आप आगे पढ़ेंगे। इनमें से कई आकार में पृथ्वी से भी बड़े हैं। इसीसे आप सोच सकते हैं कि सूर्य कितना अधिक बड़ा होगा! [ फ़ोटो 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से प्राप्त। ]

# परम तेजस्वी सूर्य

आकाश के कौतुक-भरे पिण्डों और प्रकाशपुञ्ज नक्षत्रों की ओर आँखें उठाने पर सर्वप्रथम सूर्य ही पर—जिसके साथ हमारा सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है—हमारा ध्यान खिंचता है। इस और आगे के अध्यायों में आप इसी परम तेजस्वी नक्षत्र की कहानी पढ़ेंगे।

आकाश के विभिन्न पिण्डों में सूर्य ही परम तेजस्वी है। चंद्रमा, तारे, ग्रह—ये सभी मिट भी जायँ तो हमारी कुछ हानि न होगी, परंतु सूर्य पर हमारा जीवन ही निर्भर है। सूर्य ही की शक्ति से पौधे उगते हैं, अन्न उत्पन्न होता है, हम जीवित रहते हैं। सूर्य जब दक्षिण चला जाता है और उसकी रश्मियाँ तिरछी होकर आती हैं, तो सरदी पड़ने लगती है। उस ऋतु में चार दिन धूप न मिले तो सरदी ख़ूब बढ़ जाती है। ध्रुव-प्रदेशों में, जहाँ सूर्य की किरणें बहुत तिरछी ही होकर पहुँच सकती हैं, गरमी के दिनों में भी बर्फ़ के पहाड़ समुद्र पर तैरा करते हैं और अनेक स्थान बर्फ़ से ढके रहते हैं। जाड़े में तो वहाँ बर्फ़ ही बर्फ़ दिखलाई पड़ती है। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि सूर्य हमारे लिए कितना आवश्यक है। वैज्ञानिकों ने गणना द्वारा पता लगाया है कि यदि आज सूर्य मिट जाय तो तीन दिन के भीतर ही पृथ्वी के जीव, चर और अचर सभी, मर जायँगे; सूर्य के मिटने के दो दिन के भीतर ही वायुमंडल का कुल जलवाष्प ठंढा होकर पानी या बर्फ़ के रूप में गिर पड़ेगा और फिर ऐसी सर्दी पड़ेगी कि कोई भी जीवित न रह सकेगा। तब क्या कोई आश्चर्य है कि प्राचीन लोग सूर्य की पूजा किया करते थे!

**परम पूजनीय सूर्य**

जीवन के लिए सूर्य का महत्त्व प्राचीन जातियों में आर्य्यों ही ने सबसे अधिक समझा था। तभी तो सूर्य को हमारे यहाँ 'जगत् का आत्मा या चक्षु' कहा गया और सूर्योपासना को नित्य कर्मों में प्रधान स्थान दिया गया है।

आरंभ से ही मनुष्य के हृदय में यह जिज्ञासा उठी होगी कि सूर्य है क्या, कैसे इससे इतनी गरमी और रोशनी बराबर आया करती है? प्रति दिन प्रातःकाल नियमित समय पर यह कैसे उदय होता है, ऋतुएँ नियमानुसार कैसे हुआ करती हैं? हज़ारों वर्ष तक इन रहस्यों के भेद का पता न चल सका। ऐसे-ऐसे भ्रमपूर्ण सिद्धान्त भी कहीं-कहीं प्रचलित थे कि प्रत्येक दिन एक नवीन सूर्य उदय होता है और सायंकाल के

**हमारे जीवन का अवलम्ब—सूर्य**

विश्व की अनंत व्यापकता में एक-से-एक बढ़कर तेजस्वी और विशाल नक्षत्र बिखरे पड़े हैं, किन्तु हमारे लिए तो सूर्य ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि सूर्य मिट जाय तो तीन ही दिन में पृथ्वी से जीवन बिलुप्त हो जायगा। ऊपर का चित्र माउण्ट विल्सन वेधशाला में लिया गया सूर्य का एक फ़ोटो है। इसमें बीच-बीच में छोटे-छोटे काले धब्बे 'सूर्य-कलंक' हैं, जिनके बारे में विस्तृत हाल आप आगे पढ़ेंगे। इनमें से कई आकार में पृथ्वी से भी बड़े हैं। इसीसे आप सोच सकते हैं कि सूर्य कितना अधिक बड़ा होगा! [ फ़ोटो 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से प्राप्त। ]

# परम तेजस्वी सूर्य

**आकाश के कौतुक-भरे पिण्डों और प्रकाशपुञ्ज नक्षत्रों की ओर आँखें उठाने पर सर्वप्रथम सूर्य ही पर—जिसके साथ हमारा सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है—हमारा ध्यान खिंचता है। इस और आगे के अध्यायों में आप इसी परम तेजस्वी नक्षत्र की कहानी पढ़ेंगे।**

आकाश के विभिन्न पिण्डों में सूर्य ही परम तेजस्वी है। चंद्रमा, तारे, ग्रह—ये सभी मिट भी जायँ तो हमारी कुछ हानि न होगी, परंतु सूर्य पर हमारा जीवन ही निर्भर है। सूर्य ही की शक्ति से पौधे उगते हैं, अन्न उत्पन्न होता है, हम जीवित रहते हैं। सूर्य जब दक्षिण चला जाता है और उसकी रश्मियाँ तिरछी होकर आती हैं, तो सरदी पड़ने लगती है। उस ऋतु में चार दिन धूप न मिले तो सरदी खूब बढ़ जाती है। ध्रुव-प्रदेशों में, जहाँ सूर्य की किरणें बहुत तिरछी ही होकर पहुँच सकती हैं, गरमी के दिनों में भी बर्फ़ के पहाड़ समुद्र पर तैरा करते हैं और अनेक स्थान बर्फ़ से ढके रहते हैं। जाड़े में तो वहाँ बर्फ़ ही बर्फ़ दिखलाई पड़ती है। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि सूर्य हमारे लिए कितना आवश्यक है। वैज्ञानिकों ने गणना द्वारा पता लगाया है कि यदि आज सूर्य मिट जाय तो तीन दिन के भीतर ही पृथ्वी के जीव, चर और अचर सभी, मर जायँगे; सूर्य के मिटने के दो दिन के भीतर ही वायुमंडल का कुल जलवाष्प ठंढा होकर पानी या बर्फ़ के रूप में गिर पड़ेगा और फिर ऐसी सर्दी पड़ेगी कि कोई भी जीवित न रह सकेगा। तब क्या कोई आश्चर्य है कि प्राचीन लोग सूर्य की पूजा किया करते थे!

**परम पूजनीय सूर्य**

जीवन के लिए सूर्य का महत्त्व प्राचीन जातियों में आर्यों ही ने सबसे अधिक समझा था। तभी तो सूर्य को हमारे यहाँ 'जगत् का आत्मा या चक्षु' कहा गया और सूर्योपासना को नित्य कर्मों में प्रधान स्थान दिया गया है।

आरंभ से ही मनुष्य के हृदय में यह जिज्ञासा उठी होगी कि सूर्य है क्या, कैसे इससे इतनी गरमी और रोशनी बराबर आया करती है? प्रति दिन प्रातःकाल नियमित समय पर यह कैसे उदय होता है, ऋतुएँ नियमानुसार कैसे हुआ करती हैं? हज़ारों वर्ष तक इन रहस्यों के भेद का पता न चल सका। ऐसे-ऐसे भ्रमपूर्ण सिद्धान्त भी कहीं-कहीं प्रचलित थे कि प्रत्येक दिन एक नवीन सूर्य उदय होता है और सायंकाल के

समय वह समुद्र में डूब जाता है, या यह सिद्धान्त कि दो सूर्य हैं, दो चंद्रमा हैं, दो नक्षत्र-समूह हैं, इत्यादि ; परंतु मनुष्य अंत में अपने बुद्धि-बल से इन सबका भेद पा ही गया। आधुनिक विज्ञान ने तो यहाँ तक सफलता प्राप्त की है कि सूर्य आदि की सच्ची नापतौल, दूरी और रासायनिक बनावट का भी पता लगा लिया है। कुछ बातें बड़ी ही आश्चर्यजनक निकलीं। इस लेख में सूर्य की महान् शक्ति और उसके संबंध की अन्य भौतिक बातों का परिचय दिया जायगा। आगामी लेखों में सूर्य की रासायनिक बनावट की जाँच की जायगी।

## दूरी आदि

पहले सूर्य की दूरी ही पर विचार करो। नापने से पता चला है कि सूर्य पृथ्वी से लगभग सवा नौ करोड़ मील पर है। एकाई, दहाई, सैकड़ा गिनने पर करोड़, दस करोड़, क्षण भर में आ जाता है, पर सवा नौ करोड़ की दूरी वस्तुतः कल्पनाशक्ति के परे है। पृथ्वी कितनी बड़ी जान पड़ती है! परंतु इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक की सीधी दूरी केवल आठ हज़ार मील है। पृथ्वी की एक बार परिक्रमा करने में केवल २५ हज़ार मील की यात्रा करनी पड़ेगी। सवा नौ करोड़ मील चलने में पृथ्वी की प्रदक्षिणा क़रीब पौने चार सौ बार हो जायगी! और समय? इतना चलने में समय कितना लगेगा? यदि हम ६० मील प्रति घंटे के हिसाब से दिन-रात चलते रहें तो सवा नौ करोड़ मील चलने में १७५ वर्ष से कम नहीं लगेगा! डेढ़ पाई प्रति मील के हिसाब से तीसरे दरजे का रेल से सूर्य तक आने-जाने का ख़र्च सवा सात लाख रुपया हो जायगा। इस यात्रा के लिए यदि स्टेशन मास्टर नोट लेना न स्वीकार करे तो हमको लगभग साढ़े ग्यारह मन सोना किराया में देना पड़ेगा! सवा नौ करोड़ तक केवल गिनती गिनने में तुम्हें ग्यारह महीना लगेगा, और शर्त यह कि तुम दिन-रात बराबर गिनते रहो, कभी न सोओ, और न खाने-पीने के लिए रुको, और प्रति मिनट २०० तक गिन डालो!

एक दूसरे लेखक ने सवा नौ करोड़ मील की कल्पना करने की युक्ति यह दी है कि मान लो तुम क्षण भर में अपना हाथ इतना बढ़ा सकते हो कि सूर्य को छू सकते हो।
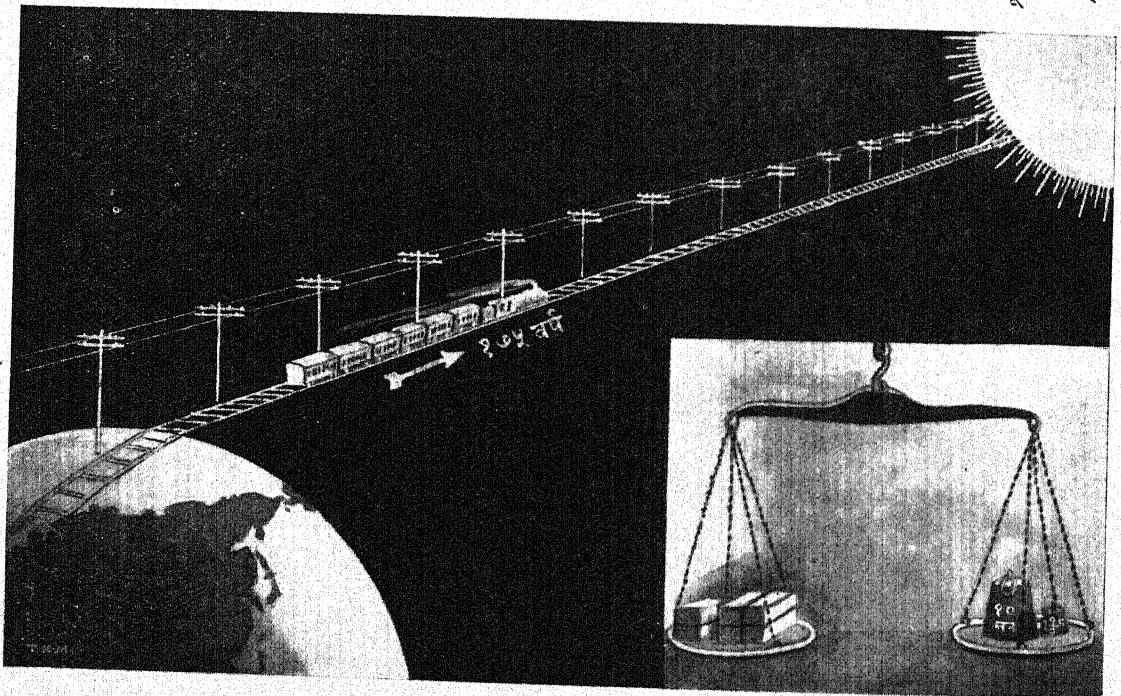
**सवा नौ करोड़ मील की दूरी!**

पृथ्वी से सूर्य इतना अधिक दूर है कि यदि हम ६० मील प्रति घंटा की गति से चलनेवाली रेलगाड़ी में बैठकर सूर्य तक बिना कहीं रुके लगातार यात्रा करें तो १७५ वर्ष से कम समय न लगेगा। इतनी लंबी यात्रा के लिए अपने देश के रेल के किराये की दर से हमें सवा सात लाख रुपया या साढ़े ग्यारह मन सोना किराये में देना होगा!
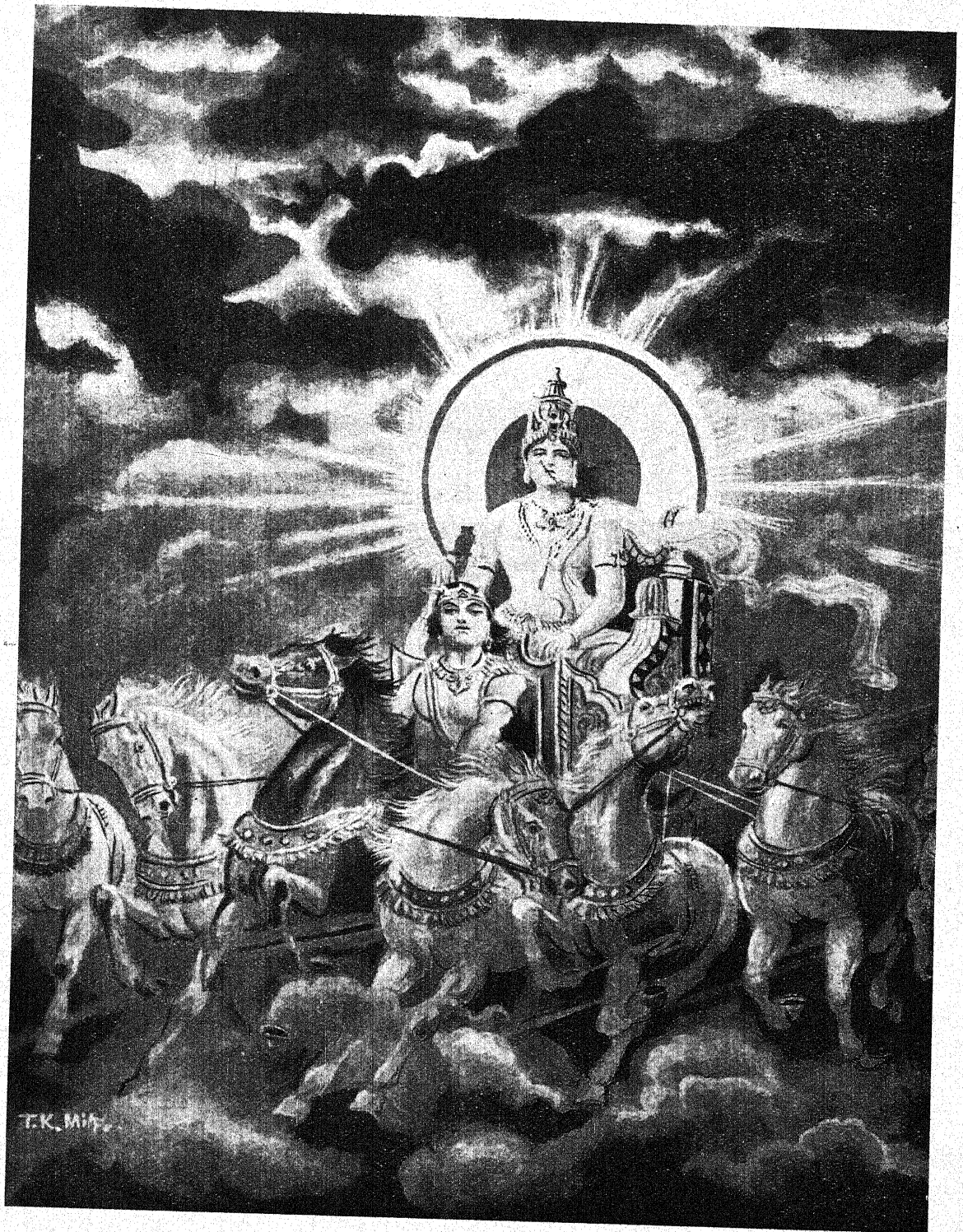
**सूर्य-संबंधी भारतीय पौराणिक धारणा**

प्राचीन मिस्री, असीरियन, पारसी, यूनानी, अमेरिका के प्राचीन निवासियों आदि के सूर्य मुख्य देवता थे। भारतवर्ष में भी सूर्य आरंभ ही से एक प्रधान देवता माने गये हैं। पुराणानुसार ये विभिन्न रंगों के सात तेजस्वी घोड़ों के रथ पर आरूढ़ माने गये हैं। इनका सारथि अरुण है। सात रंग के घोड़ों की यह कल्पना और प्रकाश-किरण के सात रंगों के आधुनिक सिद्धान्त का सामंजस्य महत्त्वपूर्ण है।

**सूर्य की दूरी की एक और कल्पना**

यदि हम अपना हाथ इतना फैला सकते कि हमारी अँगुली सूर्य को छू लेती, तो जिस गति से संवेदना की सूचना हमारे शरीर में मस्तिष्क तक पहुँचती है, उस गति से अँगुली जलने की सूचना सूर्य से हमारे मस्तिष्क तक पहुँचने में लगभग १६० वर्ष का समय चाहिए ! सूर्य इतना अधिक दूर है !!
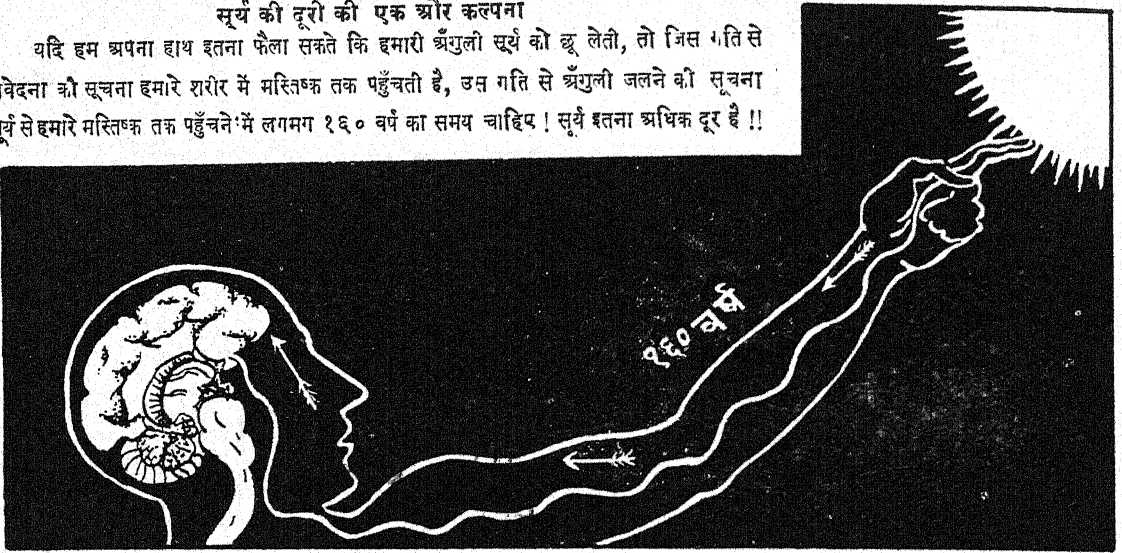
सूर्य के छूने पर तुम्हारी अँगुली जलेगी। इसकी सूचना तुम्हारे मस्तिष्क तक यदि उसी वेग से दौड़े जिस वेग से साधारण मनुष्यों में दौड़ती है तो अँगुली के जलने का पता तुम्हें १६० वर्ष बाद चलेगा ! सूर्य पर यदि कोई घोर शब्द हो और शब्द शून्य को भेद करता हुआ पृथ्वी तक उस वेग से पहुँचे जिस वेग से यह पृथ्वी पर चलता है तो सूर्य पर शब्द होने के चौदह वर्ष बाद पृथ्वी पर सुनाई देगा—सूर्य इतना दूर है !

सूर्य की नाप (डील-डौल) भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास का प्रायः १०९ गुना है, और इसलिए उसका घनफल पृथ्वी की अपेक्षा १०९×१०९×१०९ गुना है । १३,००,००० (तेरह लाख) पृथ्वियों को एक में मिला दिया जाय तब कहीं सूर्य के बराबर गोला बन सकेगा।

परंतु सूर्य की घनता पृथ्वी की अपेक्षा लगभग चौथाई ही है। पृथ्वी, कुल मिलाकर, अपनी ही नाप के पानी के गोले से लगभग साढ़े पाँच गुना भारी है, परंतु सूर्य अपनी नाप के पानी के गोले से केवल सवा गुना ही भारी है। यदि सूर्य थोड़ा-सा और हलका होता तो पानी में तैर सकता। तो भी, बहुत बड़ा होने के कारण सूर्य पृथ्वी से ३,३०,००० गुना भारी है।

## आकर्षण-शक्ति

भौतिक भूगोल के अध्ययन से तुम जानते हो कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। तागे में लंगर बाँधकर घुमाने से तुम जानते हो कि लंगर के घुमाने में तागा तन जाता है। यदि तागा कमज़ोर हो तो वह टूट जायगा और लंगर छटककर दूर चला जायगा। पृथ्वी के घूमने में भी यही सिद्धान्त लागू है, अंतर केवल इतना ही है कि यहाँ तागे के बदले सूर्य का आकर्षण रहता है। यदि सूर्य का आकर्षण बंद हो जाय तो पृथ्वी तुरंत छटककर सीधी दिशा में चल पड़ेगी, यह सूर्य की प्रदक्षिणा न करेगी।

पृथ्वी की तौल और दूरी को ध्यान में रखते हुए तुम शायद इतना अंदाज़ कर सकते होगे कि सूर्य का आकर्षण अत्यंत बलवान् होता होगा, तभी तो वह इतनी भारी पृथ्वी को नचा सकता है। परंतु वास्तविक आकर्षण से तुम्हारा अनुमान कहीं कम होगा। पृथ्वी पर सबसे मज़बूत चीज़ फ़ौलाद है। गणना से पता चलता है कि पृथ्वी को आकर्षण के बदले केवल बाँधकर घुमाने के लिए फ़ौलाद के लगभग छः हज़ार मील व्यास के मोटे डंडे से बाँधना पड़ेगा ! इससे कम मज़बूत चीज़ तुरंत टूट जायगी।

सूर्य के पृष्ठ पर आकर्षण-शक्ति पृथ्वी के पृष्ठ पर वर्तमान आकर्षण-शक्ति की अपेक्षा २८ गुनी अधिक है। जो पत्थर पृथ्वी पर एक सेर का जान पड़ता है वह सूर्य पर २८ सेर का जान पड़ेगा। आकर्षण-शक्ति की कल्पना करने के लिए मान लो कि सूर्य इतना ठंडा कर दिया गया कि उस पर मनुष्य बिना जले रह सकता है। यह भी मान लो कि कोई व्यक्ति वहाँ पहुँचा दिया गया, तो क्या वह व्यक्ति वहाँ खड़ा हो सकेगा ? कभी नहीं । वह डेढ़ मन का आदमी ४२ मन का हो जायगा और उसकी टाँगों में इतनी शक्ति ही नहीं रहेगी कि वह खड़ा हो सके। वह

वहाँ अधिक आकर्षण के कारण उसी प्रकार चिपटा हो जायगा जिस प्रकार यहाँ किसी के ऊपर ४२ मन का बोझ लाद देने से !

## तापक्रम

सूर्य कितना गरम है, उसका तापक्रम क्या है, यह भी प्रायः कल्पनाशक्ति के परे है। विचार करो कि सूर्य हमको कितना छोटा-सा दिखलाई पड़ता है—आकाश में सैकड़ों सूर्य के लिए स्थान मिल सकता है--तो भी सूर्य से इतनी गरमी आती है ! अनुमान किया गया है कि गरमी के दिनों में सूर्य की किरणों द्वारा जितनी गरमी दो वर्ग गज़ पर आती है उतने में एक अश्व-बल ( Horse Power ) के समान शक्ति रहती है । यदि सूर्य की गरमी से इंजन चलाने का कोई सुगम उपाय होता तो हम बिना मिट्टी का तेल या कोयला ख़र्च किये बड़े-बड़े इंजन सहज में केवल धूप से चला सकते।

अब इस बात पर विचार करो कि साधारण अग्नि से हमको कितनी कम गरमी मिलती है। होलिका जलते समय, पास खड़े होने पर, आँच का अनुभव तुमने किया होगा। कुछ अधिक दूर खड़े होने पर आँच की मात्रा बहुत कम पड़ जाती है। क्या ऐसी भी होलिका की कल्पना तुम कर सकते हो जिससे एक मील की दूरी पर आँच लगे? सूर्य तो सवा नौ करोड़ मील पर है। वहाँ कितनी गरमी होगी कि उसके कारण हमें पृथ्वी पर भी ख़ूब गरमी लगती है !

वैज्ञानिकों ने ठीक इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर सूर्य के तापक्रम की गणना की है। इससे उनको पता चला है कि शतांश ताप-मापक ( सेंटीग्रेट थर्मामीटर ) से सूर्य का तापक्रम ६००० डिगरी होगा । अपने शरीर के तापक्रम से चार-पाँच डिगरी अधिक तापक्रम का अनुभव प्रायः सभी को होगा। यह तेज़ बुखार का तापक्रम है। १०० डिगरी के तापक्रम पर पानी खौलता है। १००० डिगरी पर सोना भी पिघल चलता है। बिजली की भट्ठी में मनुष्य ३००० डिगरी की गरमी पैदा कर सकता है। इससे अधिक तापक्रम मनुष्य किसी रीति से उत्पन्न नहीं कर सकता है ; परन्तु सूर्य का तापक्रम ६००० डिगरी है !

गणना से पता चलता है कि सूर्य की सतह के प्रत्येक वर्ग इंच से ५४ अश्व-बल की शक्ति निकलती है। अँगूठी के नग के बराबर सूर्य की सतह से लगभग तीन अश्व-बल की शक्ति रात-दिन बराबर निकला करती है।

**सूर्य का प्रचण्ड आकर्षण**

पृथ्वी अदृश्य रूप से सूर्य की प्रचण्ड आकर्षण-शक्ति से बँधे होने के कारण ही सूर्य के आस-पास लट्टू की तरह नाच रही है। यदि इस आकर्षण-शक्ति के बदले हमें पृथ्वी को सूर्य के आसपास इसी तरह बाँध रखने का कोई और साधन काम में लाना पड़े तो छः हज़ार मील व्यासवाले और सवा नौ करोड़ मील लंबे फ़ौलाद के एक मोटे डंडे को काम में लाना होगा। इससे कम मज़बूत चीज़ होने पर पृथ्वी सूर्य का बन्धन तोड़ छटककर सीधी दिशा में चल पड़ेगी !
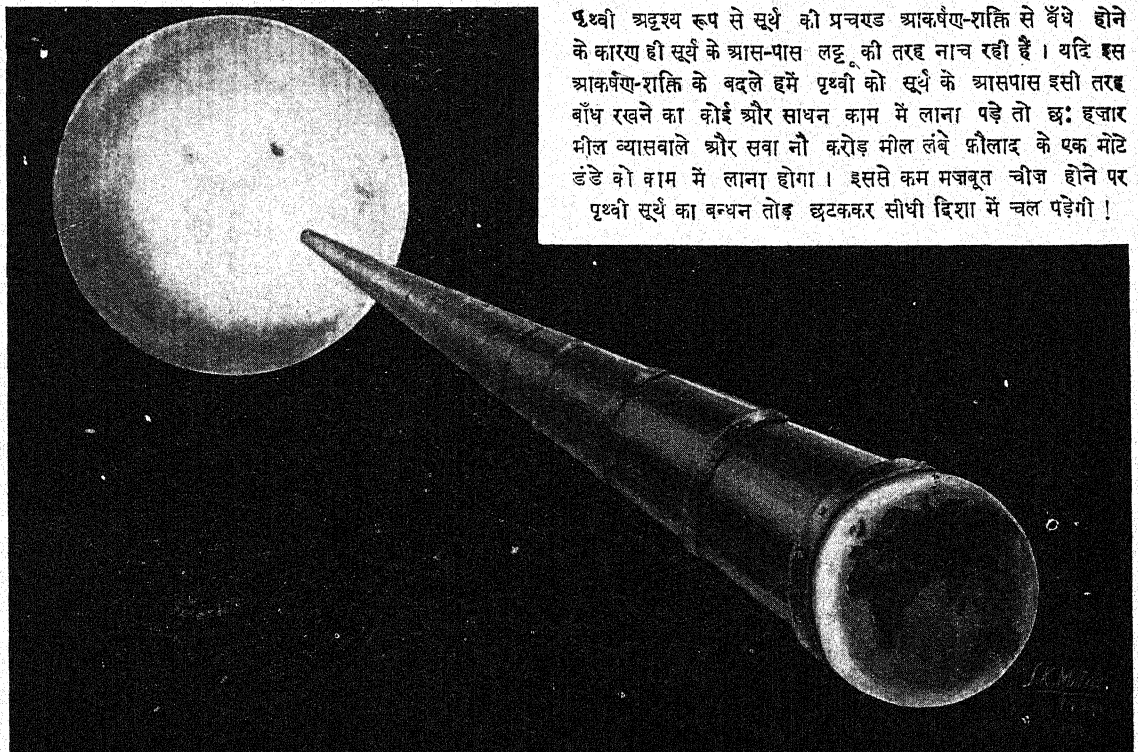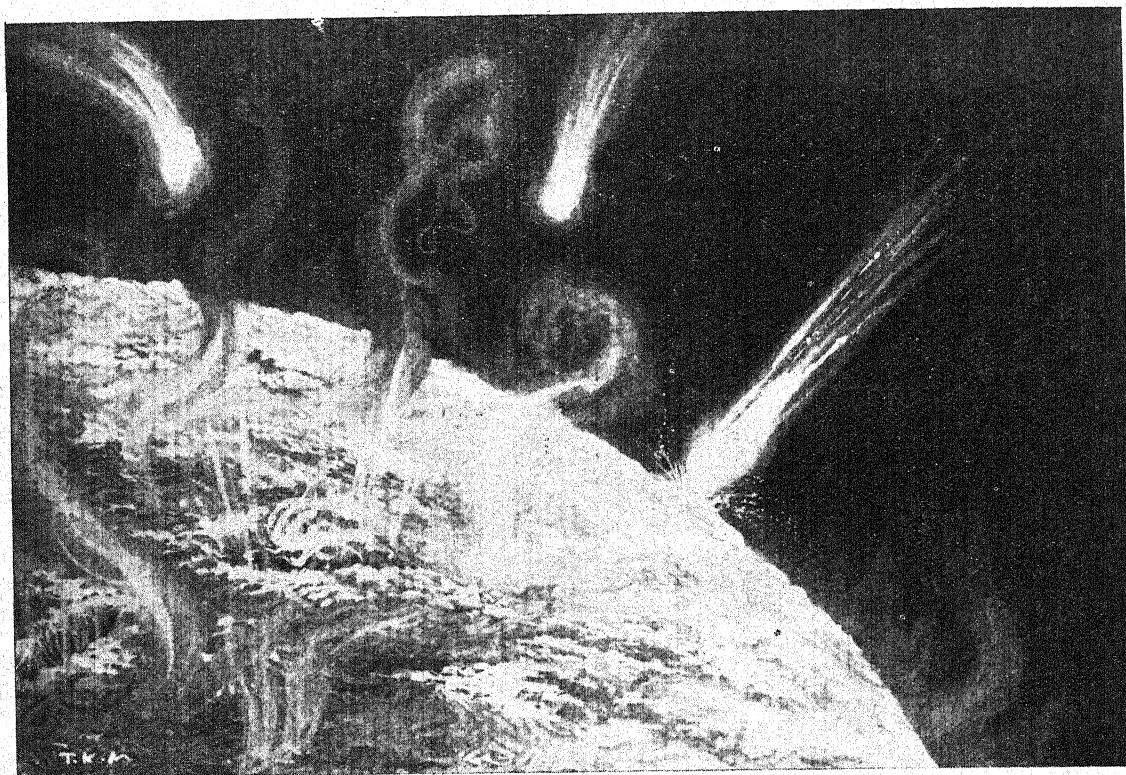
**सूर्य पर निरंतर उल्कापात की धारणा**

सूर्य कैसे गरम बना हुआ है, इस प्रश्न के उत्तर की खोज में वैज्ञानिकों ने तरह-तरह की कल्पनाएँ की हैं। इनमें से एक यह है कि सूर्य पर निरंतर उल्काएँ बरसती रहती हैं, इसी से वह गरम रहता है। पर अब यह निर्मूल प्रमाणित हो चुकी है।

सूर्य के प्रत्येक वर्ग इंच से लगभग ३,००,००० मोमबत्ती की रोशनी निकलती है!

## सूर्य में गरमी कहाँ से आती है?

विज्ञान का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त यह है कि विश्व में जितनी भी शक्ति है, उतनी ही रहती है। यह कहीं उत्पन्न नहीं होती, इसका कहीं लोप नहीं होता। शक्ति की नाप कार्य से होती है। किसी वस्तु में जितना ही अधिक कार्य करने का सामर्थ्य रहता है उसमें उतनी ही अधिक शक्ति मानी जाती है। दबी हुई कमानी में शक्ति होती है, क्योंकि खुलने में कमानी कुछ काम कर सकती है, जैसे बोझ उठा सकती है या खिलौने के पहिये चला सकती है। कोयले में शक्ति होती है, क्योंकि जलने पर गरमी उत्पन्न होती है, जिससे इंजन चल सकता है, जो काम कर सकता है। बहते हुए वायु में शक्ति है, क्योंकि बहते हुए वायु से हवाचक्की चल सकती है, इत्यादि। गरमी स्वयं ही शक्ति है, क्योंकि इससे इंजन चल सकता है। चाहे गरमी इतनी कम भी क्यों न हो कि इससे कोई वास्तविक इंजन न चल सके, परन्तु सिद्धान्ततः इंजन का चलना संभव तो है। इसलिए गरमी अवश्य शक्ति है।

अब इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सूर्य से बराबर गरमी बिखरा करती है; इसलिए सूर्य से बराबर शक्ति निकला करती है। यह शक्ति आती कहाँ से है? यदि सूर्य केवल तप्त पिण्ड है, तो गरमी के निकलते-निकलते अवश्य ही यह कुछ दिनों में ठंढा हो जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे आग में रखकर तपाया हुआ लोहा बाहर निकालने पर कुछ समय में ठंढा हो जाता है। यदि सूर्य केवल तप्त पिण्ड होता, तो यह कभी ही ठंढा हो गया होता। इससे अवश्य ही इसमें कोई ऐसी बात है, जिससे गरमी बराबर पैदा होती रहती है।

वैज्ञानिकों का ध्यान सर्वप्रथम अग्नि की ओर आकर्षित हुआ। सोचा गया कि जिस प्रकार कोयले के जलने से गरमी पैदा होती है, उसी प्रकार सूर्य पर भी किसी वस्तु के

जलने से गरमी पैदा होती होगी, परन्तु जब इस बात की गणना की जाती है कि सूर्य से कितनी रोशनी और गरमी बिखरती है और उतने के लिए कितने पदार्थ के जलने की आवश्यकता पड़ेगी, तो पता चलता है यदि कुल सूर्य बढ़िया पत्थर के कोयले का बना होता, तो उसे इतनी गरमी पैदा करने के लिए, जितनी वस्तुतः पैदा होती है, कुल डेढ़ हज़ार वर्ष में ही जलकर भस्म हो जाना पड़ता! परन्तु इतिहास से हमें ज्ञात है कि सूर्य हज़ारों वर्षों से सम भाव से चमकता चला आ रहा है।

हाल में कुछ वृक्ष ऐसे मिले हैं, जिनको काटकर रेशों की जाँच करने से पता चला है कि उनकी आयु ३२०० वर्ष है। वसंत में वृक्ष शीघ्र बढ़ते और मोटे होते हैं, जाड़े में उनकी वृद्धि प्रायः रुक जाती है। वसंत की लकड़ी नरम और जाड़े की कड़ी होती है। और इस प्रकार प्रति वर्ष नरम और कड़ी लकड़ी की तहें तने पर (छिलके के नीचे) जमती चली जाती हैं। इससे वृक्ष की लकड़ी देखने से तुरंत पता चल जाता है कि वृक्ष की आयु क्या है। प्राचीन वृक्षों की जाँच करने से पता चलता है कि आज से ३२०० वर्ष पहले भी एक वर्ष में ये वृक्ष उतने ही बढ़ते थे, जितना इन दिनों। इससे प्रत्यक्ष है कि उस समय भी प्रायः उतनी ही गरमी पड़ा करती थी, जितनी अब। सूर्य इन सवा तीन हज़ार वर्षों में इतना ठंढा नहीं हो गया है कि कोई विशेष अंतर ज्ञात हो। तीन हज़ार क्या, भूगर्भ-विद्या के बल पर—पृथ्वी के पत्थरों की जाँच से—पता चलता है कि सूर्य की आयु करोड़ों-करोड़ वर्ष होगी।

क्या बात है कि सूर्य इतने वर्षों में भी ठंढा नहीं हुआ? सन् १८४६ में एक वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सूर्य पर लगातार उल्काओं की वर्षा होती होगी, इसी से सूर्य गरम रहता है। यह बात तो अवश्य सच है कि यदि किसी पदार्थ को बराबर पीटते रहा जाय, तो उसमें गरमी उत्पन्न हो जायगी। यदि तुम लोहे को हथौड़े से दनादन दस मिनट तक पीटते रहो, तो तुम देखोगे कि लोहा गरम हो गया। इसलिए यदि उल्काओं की वर्षा सूर्य पर होती हो, तो अवश्य ही गरमी पैदा होती होगी। उल्का वे आकाशीय पिण्ड हैं, जो हमको रात्रि के समय गिरते हुए तारे के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। विश्व में प्रायः असंख्य उल्कायें होंगी। हमें वे तभी दिखलाई पड़ती हैं, जब पृथ्वी इनके समीप पहुँच जाती है या ये पृथ्वी के समीप पहुँच जाती हैं। उस समय पृथ्वी के आकर्षण के कारण वे इतनी ज़ोर से पृथ्वी की ओर खिंच आती हैं कि वे चमक उठती हैं। परन्तु जब उपरोक्त सिद्धान्त की जाँच गणित से की गई, तो पता चला कि यह सिद्धान्त भी टिक नहीं सकता। गणना से यह परिणाम निकलता है कि यदि पृथ्वी की तौल के बराबर उल्कायें सूर्य में जाकर गिरें, तो केवल १०० वर्ष भर के लिए ही गरमी उत्पन्न हो सकेगी। अवश्य ही विश्व में उल्कायें इतनी घनी न बिखरी होंगी कि सूर्य पर इतनी उल्कायें गिर सकें, अन्यथा पृथ्वी पर भी प्रत्येक रात्रि बराबर उल्काओं की वर्षा होती दिखलाई पड़ती! फिर, यदि वस्तुतः इतनी उल्कायें सूर्य पर गिरा करतीं, तो उनके कारण सूर्य तीन ही करोड़ वर्ष में दुगुना बड़ा हो जाता!

सन् १८५३ में प्रसिद्ध जरमन वैज्ञानिक हेल्महोल्ट्ज़ ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सूर्य में सिकुड़ने के कारण गरमी उत्पन्न होती है। यदि साइकिल-पंप का मुँह बंद करके हवा को ख़ूब दबाया जाय, तो हवा गरम हो जायगी; यह प्रयोग तुम स्वयं करके देख सकते हो। इसी प्रकार जब कभी वायु को संकुचित किया जाता है, तो गरमी पैदा होती है। हेल्महोल्ट्ज़ का सिद्धान्त यह था कि सूर्य गैस के रूप में है और आकर्षण के कारण बराबर अधिकाधिक संकुचित होता जा रहा है। इसलिए उसमें बराबर गरमी पैदा होती रहती है। यही कारण है कि सूर्य ठंढा नहीं हो रहा है। परन्तु ३० वर्ष बाद जब लार्ड केल्विन इस बात की गणना करने में सफल हुए कि अनन्त विस्तार से वर्त्तमान संकुचित अवस्था तक पहुँचने में सूर्य में कितना ताप उत्पन्न होगा, तब हेल्महोल्ट्ज़ का सिद्धान्त भी झूठा सिद्ध हुआ; क्योंकि गणना से पता लगा कि इस क्रिया में केवल इतना ही ताप उत्पन्न होगा, जितना सूर्य से दो-ढाई करोड़ वर्ष में बिखरता है। परन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, सूर्य अवश्य ही इससे कहीं अधिक वर्षों से चमकता आ रहा है।

इस प्रकार वैज्ञानिक बहुत दिनों से चक्कर में पड़े हैं। अब भी इसका ठीक-ठीक पता नहीं चला कि सूर्य में गरमी कहाँ से आती है, परन्तु गरमी पैदा होने की एक नवीन रीति का पता अभी हाल में लगा है! आइन्स्टाइन का प्रसिद्ध 'सापेक्षवाद' कहता है कि पदार्थ और शक्ति वस्तुतः एक हैं। एक का रूपान्तर दूसरा है। सापेक्षवाद—थिअरी ऑफ़ रिलेटिविटी—वही सिद्धान्त है जिससे वैज्ञानिक संसार में कुछ वर्ष हुए बड़ा उथल-पुथल मच गया था। सूर्य के ताप से सापेक्षवाद का कोई विशेष संबंध नहीं था,

उसका संबंध केवल गति से था। परन्तु इस सिद्धान्त का एक परिणाम यह भी निकला कि पदार्थ और शक्ति दोनों एक ही जाति के हैं, और वे एक-दूसरे में परिवर्त्तित हो सकते हैं।

परंतु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि नाममात्र पदार्थ से भयानक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। राई के बराबर कोयले से, यदि यह सापेक्षवाद के अनुसार शक्ति में परिवर्त्तित हो सके, सैकड़ों मन कोयले के जलने के बराबर शक्ति उत्पन्न होगी। कोयला जलने पर तो राख बच जाती है और गैस उत्पन्न होती है, परन्तु सापेक्षवाद के अनुसार परिवर्त्तित होने में न राख बनेगी न गैस। उस राई भर कोयले का रूपान्तर किसी अन्य पदार्थ में नहीं होगा, उसका रूपान्तर विशुद्ध शक्ति में होगा। अभी वैज्ञानिकों को पता नहीं है कि पृथ्वी पर यह रूपान्तर कैसे सफल किया जाय, परन्तु वे आशा करते हैं कि एक दिन ऐसा संभव हो जायगा। तब न रेल चलाने के लिए कोयले की आवश्यकता पड़ेगी और न मोटर चलाने के लिए पेट्रोल की। तब तो केवल राई भर किसी भी पदार्थ का शक्ति में रूपान्तर करके हम इलाहाबाद से कलकत्ता या कराँची से लंदन पहुँच सकेंगे!

वैज्ञानिकों का विचार है कि यद्यपि पृथ्वी पर अभी पदार्थ का शक्ति में रूपांतर करना सम्भव नहीं है, तो भी हो सकता है, भयानक गरमी के कारण सूर्य पर यह रूपान्तर कदाचित् बराबर हो रहा हो। संभव है, यही कारण है कि सूर्य ठंढा नहीं हो रहा है। हाँ, इस सिद्धान्त के अनुसार भी पर्याप्त समय के पश्चात् सूर्य ठंढा हो जायगा या लुप्त हो जायगा, परंतु गणना से पता चलता है कि इसमें अरब-खरब वर्षों से भी अधिक समय लगेगा—यह इतना अधिक लंबा काल है कि वास्तव में हमारी कल्पना के परे है।
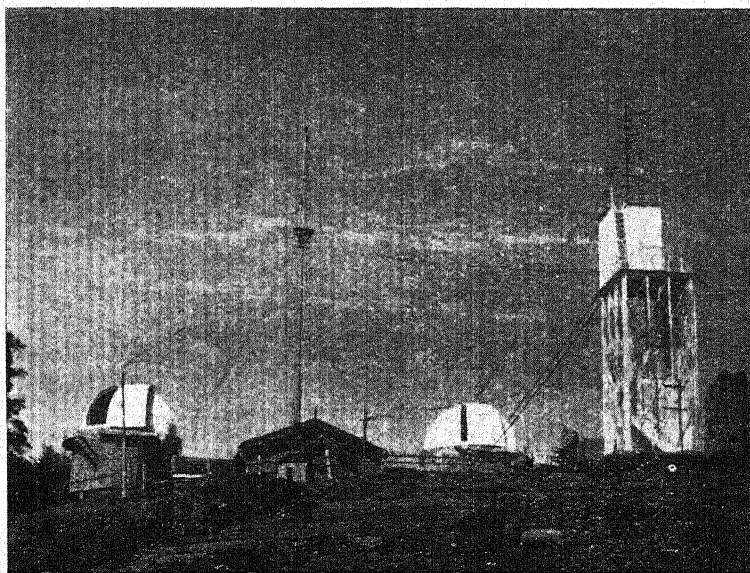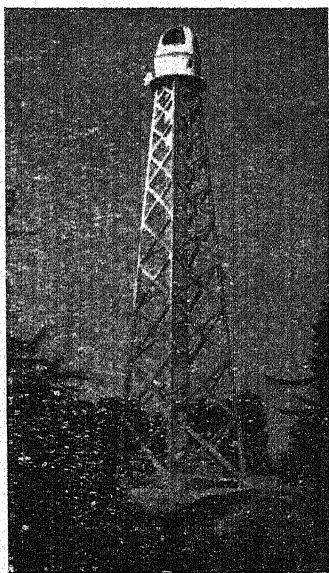
**सूर्य के अध्ययन के लिए निर्मित दो प्रसिद्ध वेधशालाएँ**

**( बाईं ओर )** अमेरिका की सुप्रसिद्ध माउण्ट विल्सन वेधशाला में सूर्य का अध्ययन करने के लिए बनाई गई डेढ़ सौ फ़ीट ऊँची एक मीनार। इसके सिरे पर एक वेधशाला है, जिसमें प्रति दिन सूर्य के फ़ोटो लिये जाते हैं। इस मीनार पर दूरदर्शक कैमेरा लगा है, उसके द्वारा सूर्य का साढ़े सोलह इंच व्यास का फ़ोटो लिया जा सकता है। इस वेधशाला में लिया गया सूर्य का एक फ़ोटो इस लेख के मुख-चित्र के रूप में दिया गया है। [ फ़ोटो माउण्ट विल्सन वेधशाला, अमेरिका, की कृपा से प्राप्त। ]

**( दाहिनी ओर )** दक्षिण भारत में नीलगिरि पर्वतश्रेणी के अंचल में कोदाईकनाल नामक स्थान में स्थापित सरकारी वेधशाला, जहाँ सूर्य का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है। आगे के अंकों में हम इन वेधशालाओं में लिये गये सूर्य के भिन्न-भिन्न फ़ोटो प्रकाशित करेंगे। [ फ़ोटो कोदाईकनाल वेधशाला ( दक्षिण भारत ) की कृपा से प्राप्त। ]

# गुरुत्वाकर्षण शक्ति

**उस अद्भुत रहस्यमय शक्ति की कहानी जिसके पाश में साधारण अणु-परमाणु से लेकर विशाल ग्रह-नक्षत्र तक विश्व की सभी वस्तुएँ बँधी हुई हैं—जो मानो सारे विश्व के कण-कण में प्रवेश करके उसे बिखर पड़ने से रोकते हुए उसका नियंत्रण कर रही है।**

हम सब इस बात का अनुभव करते हैं कि हम पृथ्वी से बँधे हुए हैं। पृथ्वी पर हम चारों ओर घूम सकते हैं, पहाड़ों पर भी ऊँचे चढ़ सकते हैं, गुब्बारों की सहायता से मीलों ऊपर आकाश में हम जा सकते हैं। किंतु स्वयं पृथ्वी से नाता तोड़कर हम दूर भाग नहीं सकते। ज़मीन से ऊपर ५-६ फ़ीट कूदते हैं, तो फिर नीचे आ गिरते हैं। गुब्बारे और हवाई जहाज़ में बैठकर आकाश में दो-चार मील ऊपर हम चढ़ते हैं, किंतु पेट्रोल समाप्त होते ही हमें फिर बरबस ज़मीन पर ही आना पड़ता है।

जीवधारी ही नहीं, वरन् निर्जीव पदार्थों की भी यही दशा है। ज़ोर लगाकर ढेला आप आसमान में फेंकते हैं, कुछ दूर जाकर वह भी नीचे ही को गिरता है। तोप से गोला छूटने पर आकाश में मीलों ऊपर पहुँच जाता है, किंतु वह भी ज़मीन ही पर वापस आ गिरता है। कोई भी वस्तु पृथ्वी के बंधन को तोड़कर भाग नहीं सकती। रस्सी में लोहे का टुकड़ा बाँधकर मेज़ पर से नीचे खिसका दीजिए, तो लोहा एकदम नीचे आ गिरेगा, और रस्सी तन उठेगी, मानो ज़मीन के अंदर से कोई शक्ति उस लोहे के टुकड़े को अपनी ओर खींच रही है। रबर की गेटिस को ज़ोर से खींचिए, तो बढ़कर वह लंबी हो जायगी। अब पुनः उसके एक सिरे पर ढेला बाँधकर लटकाइए, तो इस अवस्था में भी रबर की गेटिस बढ़ जाती है, मानों कोई अदृश्य शक्ति इसे भी नीचे पृथ्वी की ओर खींच रही है! यदि आप सीधे ऊपर को गेंद उछालें, तो वह ज्यों-ज्यों ऊपर जायगी, उसकी गति कम होती जायगी। यहाँ तक कि एक विशेष ऊँचाई पर उसकी गति एकदम शून्य हो जायगी, और अब इसके उपरांत गेंद सीधे नीचे की ओर लंबवत् गिरने लगेगी, मानो किसी अदृश्य लचकीले धागे द्वारा इसे पृथ्वी पर से कोई खींच रहा हो!
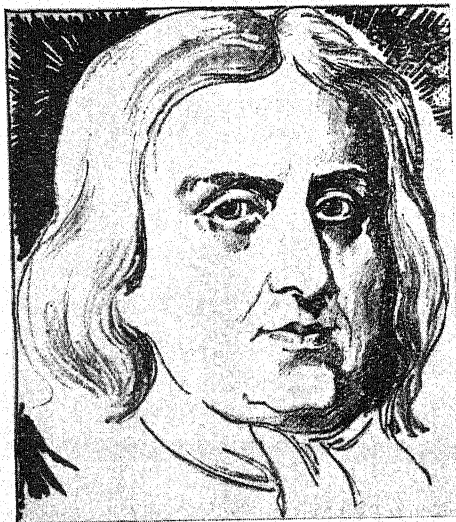
**सर आइज़क न्यूटन (१६४२-१७२७)**
जिन्होंने पेड़ पर से फल को गिरते देखकर गुरुत्वाकर्षण के महान् सिद्धान्त की सर्वप्रथम खोज की।

यह आकर्षण-शक्ति पृथ्वी के धरातल की वस्तुओं तक ही सीमित नहीं है, वरन् हज़ारों मील दूर के चंद्रमा पर भी यह शक्ति काम करती है। पृथ्वी के चारों ओर चंद्रमा २,२८७ मील प्रति घंटा की गति से परिक्रमा कर रहा है। अतः जिस तरह रस्सी में ढेला बाँधकर घुमाने से ढेला रस्सी को तुड़ाकर दूर भागने की कोशिश करता है,

उसी तरह चंद्रमा भी तीव्र गति से घूमने के कारण दूर भागना चाहता है, किंतु पृथ्वी उसे अपनी ज़बर्दस्त आकर्षण-शक्ति की सहायता से बाँधे हुए है। गणितज्ञों ने हिसाब लगाया है कि आज यदि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति दैवयोग से लुप्त हो जाय, तो पूर्ववत् पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा कराने के लिए चंद्रमा को पृथ्वी से ३७० मील चौड़े लोहे के डंडे द्वारा बाँधना होगा! केवल पृथ्वी ही चंद्रमा को अपनी ओर खींचती हो, सो बात नहीं है। चंद्रमा भी पृथ्वी को अपनी ओर खींचता है। ज्वार-भाटा इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह आकर्षण-शक्ति पृथ्वी और चंद्रमा तक ही सीमित नहीं है, वरन् विश्व के सभी पदार्थों में यह शक्ति मौजूद है। इस सर्वव्यापी आकर्षण-शक्ति को 'गुरुत्वाकर्षण' कहते हैं। सूर्य और पृथ्वी के बीच भी यही आकर्षण-शक्ति काम करती है।

वास्तव में यह आकर्षण-शक्ति है क्या, इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है। वैज्ञनिकों ने अनुसंधान करके इसका पता तो लगा लिया है कि यह रहस्यमय शक्ति किन नियमों से आबद्ध है; किंतु इस शक्ति के मूल में कारण क्या है, इसका उत्तर वे अभी तक नहीं ढूँढ़ पाये हैं।

दो वस्तुओं के बीच की दूरी चाहे एक-आध इंच हो या दो-चार लाख मील, उनके बीच आकर्षण-शक्ति हर हालत में काम करेगी। हाँ, दूरी के बढ़ जाने से यह आकर्षण-शक्ति कम अवश्य हो जाती है। परस्पर का यह आकर्षण वस्तुओं के भार और उनके बीच की दूरी पर निर्भर रहता है। ग्रीक दार्शनिकों ने पदार्थों के परस्पर के आकर्षण की कुछ थोड़ी-बहुत कल्पना की, किंतु कल्पना के जगत् से उनके विचार आगे न बढ़ सके। फिर केप्लर नामक वैज्ञानिक सौर परिवार के ग्रहों की गति का विश्लेषण करने के उपरांत इस नतीजे पर पहुँचा कि सूर्य अपने सभी ग्रहों को अपनी ओर खींचता है। विज्ञान के क्षेत्र में सर आइज़क न्यूटन ने पहली बार इस आकर्षण-शक्ति की व्यापकता को पहचाना था। बगीचे में पेड़ पर से फल को नीचे गिरते देखकर सहसा न्यूटन के मन में जिज्ञासा उठ खड़ी हुई कि ऐसा क्यों होता है? क्यों फल पेड़ ही पर टिका नहीं रह जाता? वह कौन-सी शक्ति है, जो उसे खींचकर ज़मीन पर गिरा देती है। यही नहीं, सभी चीज़ें इसी तरह खिंचकर ज़मीन की ओर क्यों गिरती हैं? क्या पृथ्वी ही इन सब वस्तुओं को अपनी ओर खींचती रहती है? इन प्रश्नों की उधेड़बुन में न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के उस महान् सिद्धान्त की खोज की, जिसके फलस्वरूप विज्ञान के क्षेत्र में एक नवीन युगान्तर हो गया। वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित इस गुरुत्वाकर्षण शक्ति की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की जा सकती है—"विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे को अपनी ओर खींचता है। यह आकर्षण-शक्ति पदार्थों के द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढ़ती है और उनके बीच की दूरी के वर्ग के अनुपात में कम होती है।"

उपरोक्त नियम की सत्यता की जाँच अच्छी तरह की गयी है। मनुष्य की प्रयोगशाला से लेकर प्रकृति की प्रयोगशाला में, सब कहीं यह नियम लागू होता है। सूर्य के चारों ओर भिन्न-भिन्न ग्रह अपनी कक्षा में इसी शक्ति के भरोसे टिके हुए हैं। सौर परिवार ही नहीं, वरन् आकाश के अन्य नक्षत्र भी एक दूसरे से आकर्षण-शक्ति द्वारा आबद्ध हैं। थोड़े में हम कह सकते हैं कि हमारे ब्रह्माण्ड को यही शक्ति सँभाले हुए है।

और इसी नियम के अनुसार आम पेड़ पर से टूटते ही ज़मीन पर आ गिरता है। यदि ध्यानपूर्वक हम देखें, तो पायेंगे कि पदार्थों के भार का मूल कारण भी पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति ही है। जिस वस्तु में द्रव्य की मात्रा अधिक होती है, उसका भार भी अधिक होता है; क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति द्रव्य की मात्रा के अनुसार बढ़ जाती है। इसी कारण भार की परिभाषा में हम कहते हैं कि किसी वस्तु का भार वह आकर्षण-शक्ति है, जिसके द्वारा पृथ्वी उस वस्तु को अपनी ओर खींचती है। यदि इस वस्तु में द्रव्य की मात्रा दूनी कर दी जाय, तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति भी तुरन्त दुगनी हो जायगी। अतः उसका भार भी दूना हो जायगा।

पृथ्वी से दूर हटने पर उसकी आकर्षण-शक्ति कम होती जाती है। गुरुत्वाकर्षण इसी के वर्ग के अनुपात में घटता है। धरातल पर पृथ्वी के केन्द्र से हम ४००० मील की ऊँचाई पर हैं। यदि किसी तरह हम आसमान में ४००० मील की ऊँचाई तक पहुँच जायँ, तो पहले की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से हमारी दूरी दुगुनी हो जायगी। अतः हमारा वज़न भी पहले से चार गुना कम हो जायगा। यदि ज़मीन पर हमारा वज़न १ मन २० सेर है, तो ४००० मील ऊपर आकाश में हमारा वज़न केवल १५ सेर ही उतरेगा!

इस रहस्यमय शक्ति में आप किसी प्रकार का फेर-बदल नहीं कर सकते। लोहा, लकड़ी, शीशा, पीतल, आदि दुनिया की कोई भी चीज़ इस अद्भुत शक्ति के काम में दख़ल नहीं
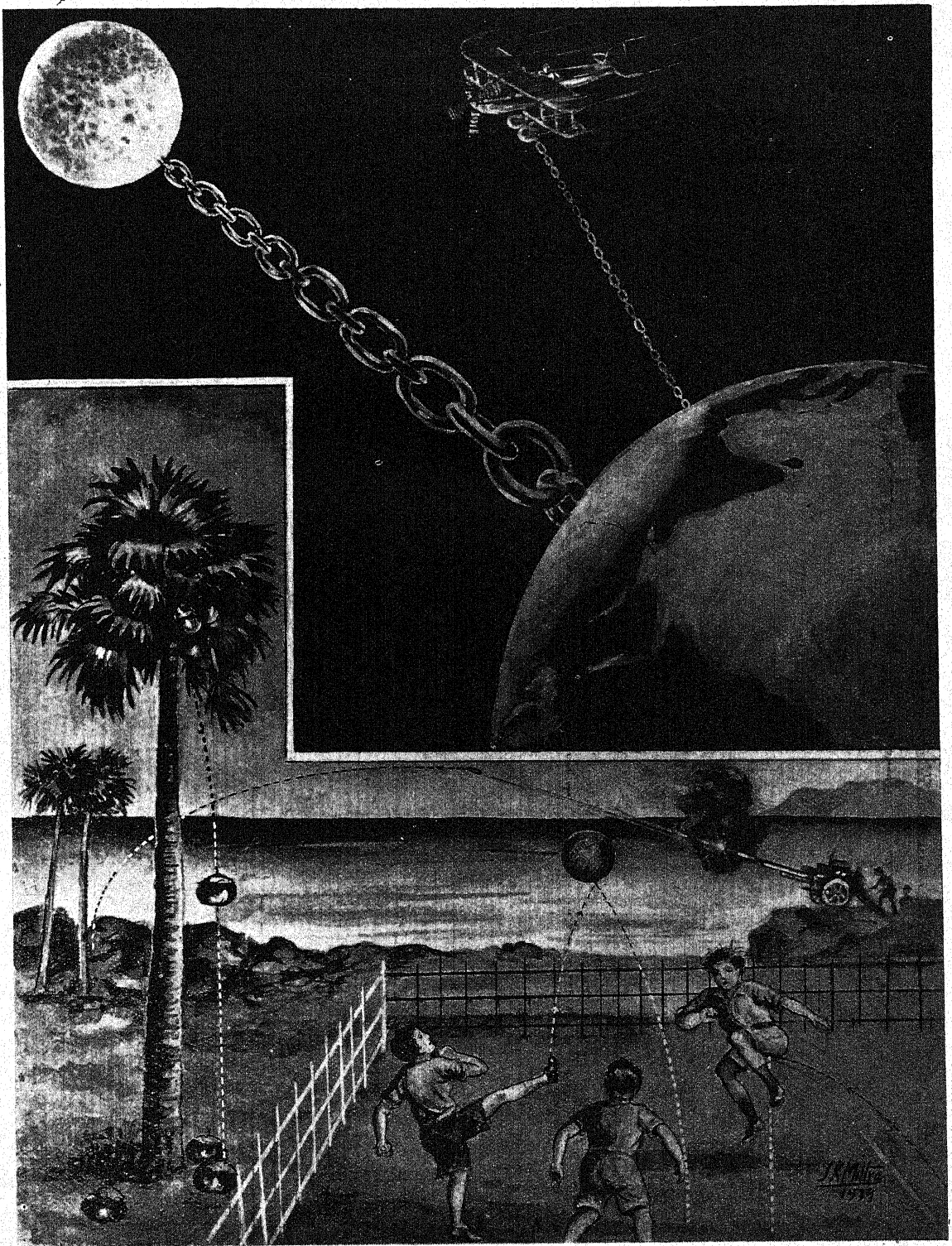
**पृथ्वी का प्रबल पाश**

हम धरती से कुछ फ़ीट उछलते, हवाई जहाज़ में कुछ मील ऊपर जाते, तोप से काफ़ी ऊँचाई तक गोला फेंक सकते हैं, पर अंत में सभी को वापस धरती पर आना पड़ता है। हम ही नहीं, पृथ्वी से लाखों मील दूर चन्द्रमा भी हमारी ही तरह पृथ्वी से बँधा हुआ है। यह कैसा विचित्र पाश है? पेड़ से फल धरती पर क्यों गिर पड़ता है? फुटबाल ऊपर उछलकर भी क्यों वापस ज़मीन पर आ गिरता है?

दे सकती । सब ठौर आपका वज़न एक समान ही होगा। गर्मी-सर्दी का प्रभाव भी इस आकर्षण शक्ति पर नहीं पड़ता, और न रासायनिक क्रियाओं का ही कोई असर होता है।

किसी भी साधन से आप इस गुरुत्वाकर्षण को अपने वश में नहीं कर सकते । यदि किसी तरह हम इस शक्ति को मिटा या रोक सकते, तो वायुयान को आकाश में उड़ने के लिए पेट्रोल और एंजिन की ज़रूरत न पड़ती । आसमान में हम ढेला फेंकते, तो वह रास्ते में कभी रुकता ही नहीं, बराबर ऊपर को बढ़ता चला जाता। किंतु पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति यदि आज लुप्त हो जाय, तो सचमुच आफ़त हो जायगी। साइकिल के पहिए की कीचड़ तेज़ गति से घुमाने पर पहिए से दूर जाकर गिरती है । पृथ्वी भी अपनी कीली पर तेज़ी के साथ घूम रही है। अतः इस के धरातल पर की वस्तुएँ हमारे मकान, स्वयं हम और हमारी कुरसी-मेज़ आदि सब-कुछ—ज़मीन पर से अलग छटक जाना चाहती हैं । किन्तु पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति उन्हें ऐसा करने से रोके हुए है। जिस घड़ी पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति न रहेगी, पृथ्वी पर की सभी वस्तुएँ ज़मीन से अलग शून्य में जा गिरेंगी!
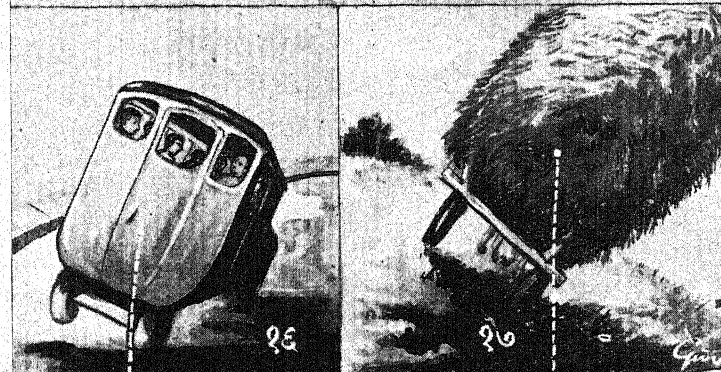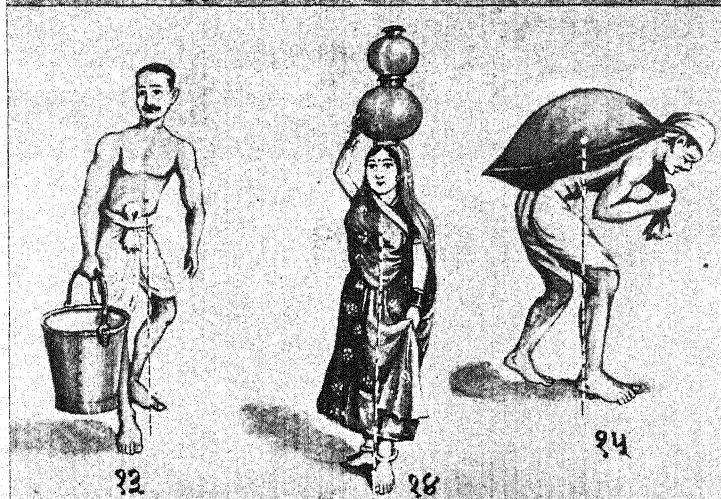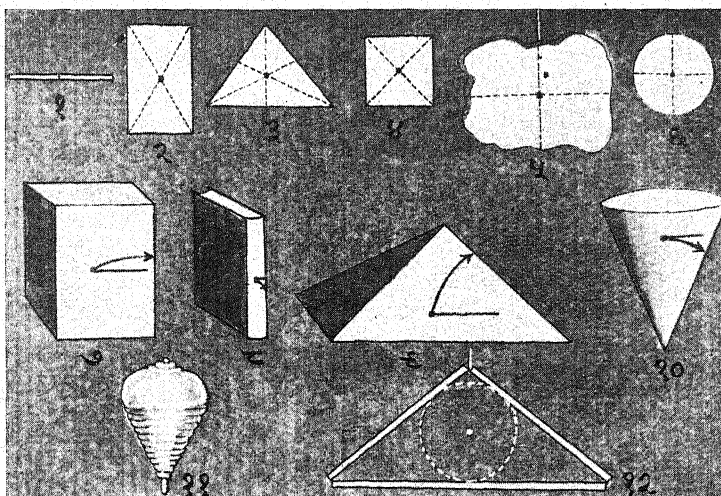
पृथ्वी नारंगी की तरह ध्रुवों पर चिपटी है । अतः पृथ्वी के केंद्र से विषुवत् रेखा पर स्थित स्थान ध्रुवों की अपेक्षा अधिक दूर हैं। इस कारण पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति ध्रुवों पर ज़्यादा और विषुवत् रेखा पर कम होती है । किंतु ऐसा होने का एक

विभिन्न वस्तुओं के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र ( देखो पृष्ठ १३७ )

ऊपर नं० १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२ में क्रमशः गोल डंडा, चतुर्भुज, त्रिभुज, आदि विभिन्न आकृतियों के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र बिन्दु द्वारा दिखाये गये हैं। नं० १३, १४ और १५ में दैनिक जीवन में गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के प्रयोग के उदाहरण दिये गये हैं। नं० १६ और १७ में दिखाया गया है कि किस तरह गाड़ी का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र झुकाव में पहियों से बाहर निकलते ही वह लुढ़क पड़ती है।

और भी कारण है। पृथ्वी की काल्पनिक धुरी, जिस पर वह घूमती है, ध्रुवों से होकर गुज़रती है। अतः विषुवत् रेखा पर के स्थान ध्रुवों की अपेक्षा ज़्यादा तेज़ी से घूमते हैं। विषुवत् रेखा की परिधि २५००० मील है। अतः २४ घंटे में विषुवत् रेखा पर स्थित स्थानों को २५००० मील का रास्ता तै करना पड़ता है, जब कि ध्रुव के निकट के स्थानों को चलकर पूरा करने में कम ही दूरी तै करनी होती है। विषुवत् रेखा पर के स्थानों की गति १००० मील प्रति घंटा है। अतः विषुवत् रेखा के समीप के पदार्थों में ध्रुवों की अपेक्षा बाहर की ओर के लिए खिंचाव (सेंट्रीफूगल फ़ोर्स) अधिक पैदा होता है। अतः इस कारण भी इन पदार्थों पर काम करनेवाली पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति कम पड़ जाती है।

किसी भी चीज़ को आप लें, उसके हर एक अणु को पृथ्वी अपने केंद्र की ओर खींचती है। यदि आप एक पुस्तक को मेज़ के किनारे रखें—इस तरह कि पुस्तक का कुछ हिस्सा बाहर निकला हुआ हो, तो वह पुस्तक मेज़ पर से गिरती नहीं है। अब आप उस पुस्तक को और बाहर की ओर खिसकाइये; ज्यों ही पुस्तक का आधे से ज़्यादा हिस्सा मेज़ से बाहर आया, पुस्तक एकदम ज़मीन पर आ गिरेगी! ऐसा क्यों होता है? पुस्तक का कुछ भाग तो अब भी मेज़ पर ही है, तो फिर यह क्यों नीचे को लुढ़क गई? ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति, जो पुस्तक के अणु-अणु पर काम कर रही है, मिलकर पुस्तक के बीचोबीच के बिंदु पर काम कर रही है। जब तक वह बिंदु मेज़ पर था, मेज़ ने पुस्तक को नीचे गिरने से रोका, किंतु ज्यों ही वह बिंदु मेज़ के बाहर पहुँचा, पृथ्वी ने समूची पुस्तक को फ़ौरन् नीचे खींच लिया। इस बिंदु को, जिस पर पृथ्वी की संपूर्ण आकर्षण-शक्ति काम करती है, 'गुरुत्वाकर्षण केंद्र' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा जान पड़ता है, मानो उस वस्तु का समस्त द्रव्य उसी बिंदु पर आकर केंद्रित हो गया हो। आयताकार वस्तुओं का केंद्र आसानी से मालूम किया जा सकता है। उदाहरण के लिए गोल सुडौल डंडे का केंद्र उसके मध्य भाग में होता है। आयताकार वस्तुओं का गुरुत्वाकर्षण केंद्र उस बिंदु पर होगा, जहाँ उनके कर्ण एक-दूसरे को काटते हैं (देखिए पृष्ठ १३६ के चित्र में नं० १ से १२)।

ऐसे पदार्थों का केंद्र, जिनका आकार ज्यामिति की आकृतियों जैसा नहीं होता, गणित द्वारा आसानी से नहीं निकाला जा सकता, वरन् प्रयोग करके देखना पड़ता है। उस चीज़ के एक किनारे में धागा बाँधकर उसे लटकाइए। चूँकि कुल आकर्षण-शक्ति एक केंद्र से होकर गुज़रती है, और आपके धागे की सीध में लम्बवत् नीचे की ओर पृथ्वी उस चीज़ को खींच रही है, इसलिए गुरुत्वाकर्षण केंद्र भी अवश्य उस धागे की सीध में ही स्थित होगा। अतः धागे की सीध में उस वस्तु पर आप एक सीधी रेखा खींच दीजिए। उस वस्तु का केंद्र उसी रेखा पर कहीं स्थित है। फिर धागे को दूसरे किनारे पर बाँधिए और उसे पूर्ववत् लटकाइए। इस बार भी धागे की सीध में ही उस वस्तु पर रेखा खींचिए। गुरुत्वाकर्षण केंद्र इस रेखा पर भी है। अतः यह रेखा पहली रेखा को जिस बिंदु पर काटेगी, वही उस वस्तु का गुरुत्वाकर्षण केंद्र होगा।

चीज़ों के समतुलन के लिए उनके गुरुत्वाकर्षण केंद्र की जानकारी रखना नितांत आवश्यक है। मान लीजिए यात्रियों से भरी हुई एक मोटर लारी एक ढलुवे रास्ते पर जा रही है। ढाल पर लारी एक ओर को झुकी हुई है पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति मोटर के गुरुत्वाकर्षण केंद्र को लंबवत् नीचे की ओर खींच रही है। किंतु जब तक मोटर लारी एक तरफ़ को इतनी नहीं झुक जाती कि उसके गुरुत्वाकर्षण केंद्र से खींची गई लंबवत् रेखा लारी के दोनों पहियों के नीचे से बाहर नहीं निकल जाती, तब तक लारी के उलटने का तनिक भी डर नहीं है (देखिए पृष्ठ १३६ के चित्र में नं० १६)। गुरुत्वाकर्षण केंद्र से खींची गई लंबवत् रेखा जब तक उस वस्तु के आधार (जिस पर वह टिकी हुई है) के अंदर रहती है, उस वस्तु का समतुलन स्थिर रहता है। किंतु ज्योंही लंब रेखा आधार से बाहर गई, वह चीज़ फ़ौरन् लुढ़क पड़ती है।

ट्राम गाड़ी तथा मोटर लारी का निचला भाग एंजिन के कारण बहुत भारी होता है। अतः उसका गुरुत्वाकर्षण केंद्र भी ज़मीन की सतह से अधिक ऊपर नहीं होता। फल यह होता है कि अगर गाड़ी एक ओर काफ़ी झुक भी जाय, तो गुरुत्वाकर्षण केंद्र से खींची गई सीधी लंबवत् रेखा पहियों के बीच से बाहर नहीं जाने पाती। अतः ऐसी हालत में भी गाड़ी का समतुलन स्थिर रहता है। किंतु उसके प्रतिकूल हमारे देहात की बैलगाड़ी के निचले हिस्से में कोई ख़ास भारी चीज़ नहीं रहती। नतीजा यह होता है कि पुरसों ऊँचे तक पुआल लाद लेने पर गाड़ी का गुरुत्वाकर्षण केंद्र काफ़ी ऊँचाई पर पहुँच जाता है। तनिक-सी भी ऊँची-नीची सड़क मिली कि गाड़ीवान के साथ ही समूची गाड़ी उलट गई (देखिए उक्त चित्र में नं० १७)।
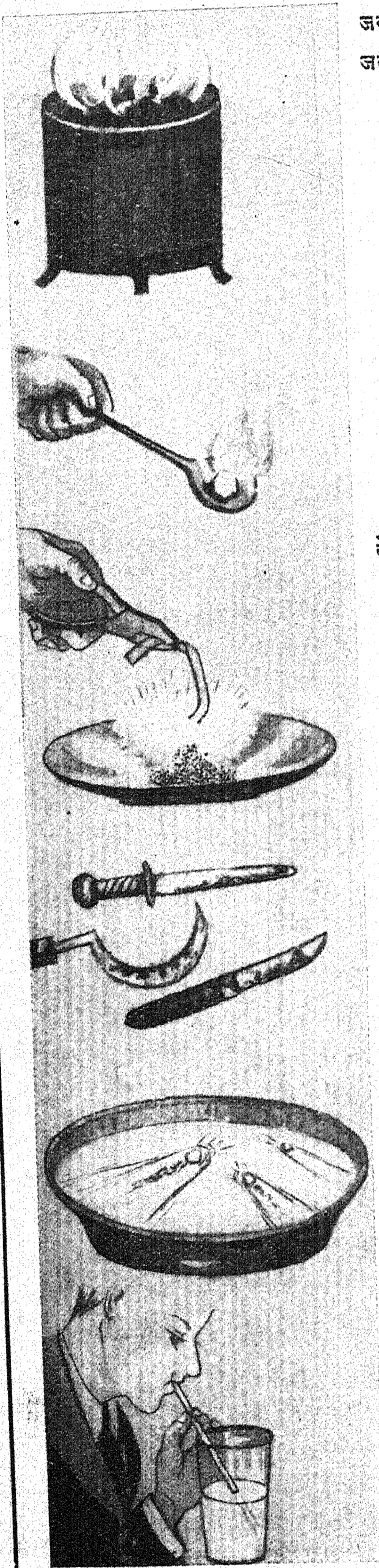
जब कोयला जलता है तो

कार्बन का प्रत्येक परमाणु + आक्सिजन के दो परमाणुओं से संयुक्त होकर = कार्बन डाइ-आक्साइड का एक अणु बन जाता है

गंधक के जलने पर
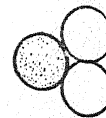
गंधक का प्रत्येक परमाणु + आक्सिजन के दो परमाणुओं से संयुक्त होकर = सल्फर डाइ-आक्साइड का एक अणु बन जाता है

मैग्नेशियम के जलने पर

मैग्नेशियम का प्रत्येक परमाणु + आक्सिजन के एक परमाणु से संयुक्त होकर = मैग्नेशियम आक्साइड का एक अणु बन जाता है

जब लोहे में मोर्चा लगता है तो
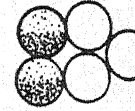
लोहे के दो परमाणु + आक्सिजन के तीन परमाणुओं से संयुक्त होकर = फेरिक आक्साइड (मोर्चा) के एक अणु में बदल जाते हैं

सोडियम धातु के टुकड़े पानी में 'तैरकुआ' कीड़ों की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौड़ते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं। इस प्रतिक्रिया में—
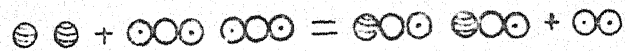
सोडियम के दो परमाणु और पानी के दो अणु मिलकर कास्टिक सोडा के दो अणुओं और हाइड्रोजन का एक अणु बन जाते हैं

जो साँस हम छोड़ते हैं उसमें कार्बन डाइआक्साइड गैस रहती है। इसलिये जब हम चूने के पानी में फूँकते हैं तो प्रतिक्रियास्वरूप—
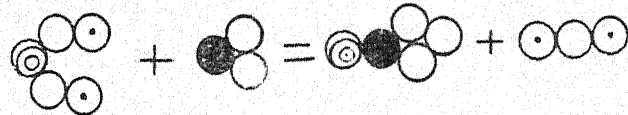
चूने का एक अणु + और कार्बन डाइआक्साइड का एक अणु = से खड़िया (कैल्शियम कार्बोनेट) का एक अणु + और पानी का एक अणु बन जाते हैं

रासायनिक परिवर्त्तन के कुछ उदाहरण ( देखिए पृष्ठ १४० )

# पदार्थों के भौतिक और रासायनिक गुण

**सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों की ठीक-ठीक परख, उपयोग तथा वर्गीकरण की पहली सीढ़ी उनके गुणों की जानकारी है, जिनके कारण वे एक दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं। इस अध्याय में हम पदार्थों के सामान्य रासायनिक और भौतिक गुणों तथा क्रियाओं का दिग्दर्शन करेंगे।**

किसी भी पदार्थ के रसायन का अध्ययन करने के लिए हमें क्रमशः निम्न बातों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है—(१) उस पदार्थ के आविष्कार, नामकरण आदि का इतिहास, (२) वे स्थान अथवा वस्तुएँ जिनमें वह पदार्थ पाया जाता है, (३) उस पदार्थ के उत्पादन और निर्माण की विभिन्न रीतियाँ, (४) उसके गुण, (५) उसके परखने की रीतियाँ, (६) उसके उपयोग, तथा (७) उसकी अणु-रचना का निर्धारण। यहाँ पर हमें अन्य बातों के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, केवल यह जानना है कि पदार्थों के गुण कितने प्रकार के और कौन-कौन होते हैं, और उनका अध्ययन किस प्रकार किया जाता है।

किसी भी पदार्थ के गुण दो प्रकारों में विभक्त किये जा सकते हैं—भौतिक गुण और रासायनिक गुण। जब हम कहते हैं कि सिंदूर लाल है, शीशा पारदर्शी है, पानी तरल है, शकर मीठी है, लोहा भारी है, नमक घुलनशील है, ताँबा गर्मी और बिजली का अच्छा संचालक है, गंधक गर्म करने पर पिघल जाता है, तो हम इन विभिन्न वस्तुओं के एक-न-एक ऐसे गुण का उल्लेख करते हैं, जिसका संबंध उन वस्तुओं के बाहरी रूपरंग अथवा आचरण से है और जिससे हमें न उन वस्तुओं के अणुओं की बनावट अथवा उनमें हो सकनेवाले किसी परिवर्त्तन का कुछ भी बोध नहीं होता। ऐसे गुणों को हम 'भौतिक गुण' कहते हैं: क्योंकि ये गुण पदार्थों की भौतिक अवस्थाओं के ही परिचायक होते हैं। किन्तु यदि हम कहें कि लोहे में मोर्चा लगने का गुण है, कोयले में जल जाने का गुण है, अथवा कार्बन डाइआक्साइड गैस में चूने के पानी को सफ़ेद कर देने का गुण है, तो हम कुछ ऐसे गुणों का वर्णन करते हैं, जिनमें हमें उन वस्तुओं के अणुओं में होनेवाले परिवर्त्तनों का बोध होता है। अतएव इन गुणों को हम 'रासायनिक गुण' कहते हैं।

इसी प्रकार, हम किसी पदार्थ में हो सकनेवाले सारे परिवर्त्तनों को भी दो प्रकारों में विभाजित करते हैं—भौतिक परिवर्त्तन और रासायनिक परिवर्त्तन। अगर हम ताँबे की एक छड़ को लचाएँ तो लच जायगी, पानी को ख़ूब ठंढा करें तो जमकर ठोस बर्फ़ हो जायगा, प्लैटिनम के तार को गर्म करें तो लाल होकर चमकने लगेगा और शकर को पानी में डालें तो घुल जायगी। इन सब बातों में कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन अवश्य होता है, लेकिन किसी में भी ऐसा नहीं होता कि वह पदार्थ ही किसी बिलकुल नये प्रकार के पदार्थ में परिणत हो जाय, अर्थात् उस पदार्थ के अणु ही किसी दूसरे पदार्थ के अणुओं में परिवर्त्तित हो जायँ। जिस शक्ति अथवा कारण द्वारा यह परिवर्त्तन हुए हैं, यदि हम उसे हटा लें अथवा विपरीत दिशा में उस शक्ति का उपयोग करें, तो हमें अपने प्रथम रूप में ही वह वस्तु फिर मिल जायगी। ताँबा दूसरी ओर झुकाकर फिर सीधा किया जा सकता है, बर्फ़ गर्म करके पानी में फिर बदली जा सकती है, प्लैटिनम का तार ठंढा करके फिर अपनी पहली हालत में लाया जा सकता है और पानी को सुखाकर फिर वही शकर निकाली जा सकती है। स्पष्टतः, ये सारे परिवर्त्तन अधिक अस्थायी होते हैं। इन परिवर्त्तनों को जिनमें द्रव्य वही बना रहता है, अर्थात् वह

किसी अन्य प्रकार के द्रव्य में परिणत नहीं होता, 'भौतिक परिवर्त्तन' कहते हैं। इनको भौतिक इसलिए कहते हैं कि ये परिवर्त्तन पदार्थों की भौतिक अवस्थाओं में ही होते हैं।

लेकिन कोयले अथवा गंधक के जलने, सोडियम धातु और पानी में प्रतिक्रिया होने अथवा कार्बन डाइआक्साइड गैस द्वारा चूने के पानी के सफ़ेद हो जाने में हमें कुछ ऐसे परिवर्त्तनों के उदाहरण मिलते हैं जिनमें एक प्रकार का द्रव्य बदलकर किसी दूसरे प्रकार के द्रव्य में परिणत हो जाता है—एक पदार्थ के अणु किसी दूसरे ही पदार्थ के अणुओं में बदल जाते हैं। ऐसे परिवर्त्तनों को हम 'रासायनिक परिवर्त्तन' कहते हैं। ये परिवर्त्तन अधिक स्थायी होते हैं और बिना किसी विशेष रासायनिक रीति के हम नयी बनी हुई वस्तुओं से मूल वस्तुओं को नहीं निकाल सकते। कोयला जलकर एक बिलकुल भिन्न पदार्थ कार्बन डाइआक्साइड गैस में परिणत हो जाता है, लेकिन कार्बन डाइआक्साइड गैस को ठंढा करने से हमें कोयला (कार्बन) कदापि न मिलेगा, उस से कार्बन निकालने के लिए हमें रासायनिक रीतियों का ही सहारा लेना पड़ेगा।

मैग्नेशियम　कार्बन डाइआक्साइड　मैग्नेशियम आक्साइड　कार्बन

अगर हम कार्बन डाइआक्साइड में मैग्नेशियम को जलाएँ तो इस रासायनिक क्रिया द्वारा कार्बन के छोटे-छोटे टुकड़े निकल आते हैं और मैग्नेशियम कार्बन डाइआक्साइड की आक्सिजन से मिलकर मैग्नेशियम आक्साइड बन जाता है। इस प्रकार रासायनिक क्रिया द्वारा ही कार्बन डाइआक्साइड से कार्बन निकल सकता है, किसी भौतिक परिवर्त्तन द्वारा नहीं।

किसी वस्तु के रसायन का अध्ययन करने में हमें उसके भौतिक और रासायनिक दोनों ही गुणों की परीक्षा करनी पड़ती है। भौतिक गुणों के अध्ययन के बिना न पदार्थ सरलता से पहचाने ही जा सकते हैं, न उनका वर्गीकरण ही हो सकता है और न ठीक-ठीक उपयोग ही। अतएव उनका अध्ययन करना आवश्यक है। भौतिक गुणों की परीक्षा एक स्वाभाविक क्रमबद्ध रीति से ही की जाती है। जब कोई अपरिचित पदार्थ हमारे ध्यान को आकर्षित करता है तो हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसके साधारण भौतिक गुण जानने का प्रयत्न करते हैं—हम स्वभावतः पहले उसे देखते हैं, फिर प्रायः सूँघते हैं अथवा यदि चखने योग्य हुआ तो चखते हैं, फिर झुकाते, मरोड़ते या तोड़ते हैं, और फिर अपने दैनिक जीवन की साधारणतम वस्तुओं, अर्थात् पानी, आग (गर्मी), हवा, बिजली आदि के संसर्ग में लाते हैं और इनका उस पदार्थ पर प्रभाव देखते हैं। पदार्थों के साधारण गुणों का अध्ययन अथवा उनका वर्णन हम इसी क्रम के अनुसार करते हैं। कुछ विशेष भौतिक गुणों को निर्धारित करने के लिए हमें विशेष प्रकार के उपकरणों की भी सहायता लेनी होती है और कुछ विशेष प्रकार के प्रयोग भी करने पड़ते हैं। किसी भी वस्तु को केवल देखकर ही हम उसके रंग, चमक, अवस्था, पारदर्शित्व और आकार इन सब गुणों से परिचित हो जाते हैं। द्रव्य का अस्तित्व तीन अवस्थाओं में होता है—ठोस, द्रव और गैस। जो वस्तु किसी जगह रखने पर अपने आयतन और रूप को नहीं बदलती अर्थात् जिसका अपना ही आयतन और रूप होता है, उसे 'ठोस' कहते हैं। हमारे चारों ओर अधिकतर ठोस वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं। पत्थर, लोहा, कोयला आदि वस्तुएँ साधारण दशाओं में ठोस ही होती हैं। लेकिन पानी, दूध, तेल, पारा आदि वस्तुएँ जिस बर्तन में डाली

जाती हैं, उसी के रूप की हो जाती हैं, किंतु तब भी आयतन में कोई अंतर नहीं आता। ऐसे पदार्थों को 'द्रव' कहते हैं। तीसरी अवस्थावाले पदार्थ अर्थात् गैसों का न तो आयतन ही निश्चित होता है और न रूप ही, वे जिस पात्र में रहते हैं उसी आयतन और रूप के हो जाते हैं। रबर के गुब्बारे में भरी हुई हाइड्रोजन गैस अथवा साइकिल या मोटर के टायर में भरी हुई हवा उन्हीं के आयतन और रूप की हो जाती है। अगर हम थोड़ी-सी कोई गंधानेवाली गैस, जैसे क्लोरीन गैस या हाइड्रोजन सल्फाइड गैस, किसी कमरे में छोड़ दें तो उसकी गंध सारे कमरे में फैल जायगी; यह इसलिए कि वह फैलकर सारे कमरे के आयतन और आकार की हो जाती है। यहाँ पर यह कहना असंगत न होगा कि कोई भी वस्तु अपने तापक्रम और दबाव की दशाओं के अनुसार तीनों अवस्थाओं में रह सकती है। प्रकृति में इस सिद्धांत का प्रदर्शन नित्य प्रति पानी द्वारा होता है। मनुष्य इसकी तीनों अवस्थाओं—बर्फ़, जल और वाष्प से सुपरिचित है।

**पदार्थों के कुछ भौतिक गुण**

(नं० १) कठोरता; (नं० २) लचकीलापन; (नं० ३) आघातवर्द्धनीयता; (नं० ४) पारदर्शित्व (यह शीशे का टुकड़ा लगभग फ़ीट भर मोटा है, फिर भी उस पार बैठे हुए लड़के का चेहरा साफ़ दिखाई देता है); (नं० ५) तांतवता; (नं० ६) स्थितिस्थापकता (गुब्बारा फुलाने से रबड़ बढ़कर दूसरे आकार का हो जाता है, लेकिन हवा निकलने पर फिर उसी रूप में आ जाता है); (नं० ७) घनत्व (पानी में लकड़ी तैर रही है, पर लोहा तले बैठ गया है); (नं० ८) कुछ स्फटिक रूप (ये नमक, सोडा, फिटकरी के रवों के रूप हैं); (नं० ९) छिद्रमयता (पानी सुराही के ऊपर आकर वाष्प के रूप में उड़ रहा है)।

इसी प्रकार, पारदर्शित्व के अनुसार हम पदार्थों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। शीशा, हवा, पानी आदि को हम 'पारदर्शी' कहते हैं, क्योंकि इनके भीतर से प्रकाश आ-जा सकता है और इनमें से हम दूसरी वस्तुओं को स्पष्ट देख सकते हैं। कुछ वस्तुएँ, जैसे घिसा शीशा, तेलिया काग़ज़ आदि, ऐसी होती हैं, जिनमें से थोड़ा-सा ही प्रकाश आ-जा सकता है और जिनके पार की वस्तुओं को हम धुँधला ही देख सकते हैं। ऐसी वस्तुओं को 'अल्प पारदर्शी' कहते हैं। तीसरे प्रकार की वस्तुओं, जैसे लोहा, लकड़ी, पत्थर आदि के पार हम बिल्कुल नहीं देख सकते; कारण, उनमें प्रकाश की किरणें बिल्कुल प्रविष्ट नहीं हो सकतीं। ऐसी वस्तुओं को निष्पारदर्शी कहते हैं।

आकार की दृष्टि से पदार्थ दो प्रकारों में विभाजित होते हैं। कुछ पदार्थ, जैसे नमक, शक्कर, फिटकरी आदि, ऐसे होते हैं जिनके कण अथवा टुकड़े एक नियत आकार के और जिनके तल सीधी रेखाओं से घिरे होते हैं। ऐसे कणों अथवा टुकड़ों को 'रवा' अथवा 'स्फटिक' कहते हैं, और जो वस्तु इस रूप में रहती है उसे रवादार अथवा स्फटिकरूप कहते हैं। इसके विपरीत कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं, जिनके कणों में कोई नियत रूप नहीं रहता। कोयला, शीशा, चूना, मैदा आदि वस्तुएँ इसी प्रकार की होती हैं। इन वस्तुओं को बेरवादार कहते हैं।

सूँघने अथवा चखने से हम वस्तुओं की गंध और स्वाद को जान लेते हैं और फिर स्पर्श द्वारा यह ज्ञात करते हैं कि वह वस्तु खुरदरी है या समतल, अथवा कठोर है या कोमल। इसके बाद हम उस वस्तु को तोड़ने, मरोड़ने, झुकाने अथवा खींचने का प्रयत्न करते हैं। जो वस्तुएँ हथौड़े आदि द्वारा पीटने से टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं, उन्हें 'भंजनशील' कहते हैं, किन्तु जो वस्तुएँ टूटती नहीं वरन् बढ़कर फैल जाती हैं, उन्हें 'आघातवर्द्धनीय' (malleable) कहते हैं। नमक, खड़िया और शीशा भंजनशील हैं, किंतु सोना, चाँदी और ताँबा आघातवर्द्धनीय हैं। कुछ वस्तुएँ विशेषतः सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुएँ, ऐसी होती हैं जिनके हम तार खींच सकते हैं; ऐसी वस्तुओं को हम 'तांतव' (ductile) कहते हैं। कुछ वस्तुएँ झुकाने से झुक जाती हैं, किंतु छोड़ देने पर वे फिर अपनी पहली दशा और रूप में आ जाती हैं। ऐसी वस्तुओं को 'लचकीली' अथवा 'लचकदार' कहते हैं। बेत, घड़ी की कमानी, तलवार का फल आदि वस्तुएँ लचकदार होती हैं। परंतु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो झुकाने से तो

**कुछ भौतिक परिवर्त्तन**

(नं० १) **वाष्पीकरण** (Evaporation)—द्रव के अणु बराबर गति में रहते हैं और इस प्रकार तल के कुछ अणु हवा के अणुओं में जा मिलते हैं। हवा के बहाव में यह भीगी हुई हवा हट जाती है और दूसरी शुष्क हवा वही कार्य करने के लिए उसके स्थान में आ जाती है। हम देखते हैं कि पानी के अणुओं में कोई रासायनिक परिवर्त्तन नहीं होता। (नं० २) **उर्ध्वपातन्** (Sublimation) अगर हम एक परीक्षानली में थोड़ा सा नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) लेकर गर्म करें तो वह बिना पिघले ही वाष्परूप में परिणत हो जायगा और ऊपर ठंडी सतह पर फिर जम जायगा। (नं० ३) **घनीकरण**—अगर हम किसी धातु या शीशे के बरतन में बर्फ़ भरकर रख दें तो थोड़ी ही देर में बाहरी सतह भीग जाती है और उस पर पानी की बूँदें दिखाई पड़ने लगती हैं। ये बूँदें हवा में मिली हुई जलवाष्प के घनीकरण द्वारा उत्पन्न होती हैं।

झुक जाती हैं, लेकिन छोड़ देने पर झुकी ही बनी रहती हैं, पहले आकार में नहीं आतीं। ऐसी वस्तुओं को 'नम्य' कहते हैं। सोना, चाँदी, सीसा आदि धातुओं के तारों व पत्रों में यही गुण होता है। वे वस्तुएँ जो खींची, झुकाई अथवा बढ़ाई जा सकती हैं, लेकिन छोड़ देने पर तुरंत सिकुड़कर अपना प्रथम रूप और आकार ले लेती हैं, 'स्थितिस्थापक' अथवा 'इलास्टिक' ( elastic ) कहलाती हैं। कुछ रबड़ों में यह गुण मिलता है और कुछ फ़ीतों को इलास्टिक इसीलिए कहते हैं कि उनमें यह बढ़ने-घटने का गुण रहता है। जो पदार्थ सरलता से किसी भी रूप में ढाला अथवा परिणत किया जा सके और वही रूप वह बनाये भी रक्खे उसे 'ढलनशील' ( plastic ) कहते हैं। प्लास्टर और पानी मिली चिकनी मिट्टी इसके उदाहरण हैं।

किसी वस्तु को पानी में डालने से हमें यह पता चलता है कि वह वस्तु पानी सोखती है अथवा नहीं, अर्थात् वह 'छिद्र-मय' (porous) है अथवा 'छिद्रहीन' (impervious)। वह वस्तु पानी में तैरती है अथवा नीचे बैठ जाती है, इस बात से हमें पानी की अपेक्षा उसके हलकेपन अथवा भारी-पन का पता चलता है। यदि हम चाहें तो भौतिक रीतियों से यह भी निकाल सकते हैं कि कोई वस्तु पानी से कितनी गुनी भारी है। जिस संख्या से यह प्रकट होता है, उसे 'आपेक्षित घनत्व' कहते हैं। गैसों के घनत्व की तुलना हम पानी के घनत्व से नहीं, वरन् हाइड्रोजन अथवा हवा के घनत्व से करते हैं। इसके अलावा, पानी में छोड़ने से हमें यह भी पता चलता है कि वह वस्तु पानी में घुलती है अथवा नहीं, अर्थात् 'घुलनशीन' है अथवा 'अघुलनशील'। भौतिक रीतियों द्वारा हम यह भी निकाल सकते हैं कि कौन वस्तु किस द्रव में कितनी घुल सकती है।

किसी वस्तु को गर्म करने से हमें यह मालूम होता है कि वह वस्तु गर्मी की अच्छी संचालक है अथवा बुरी। इसके अतिरिक्त, उसे गर्म अथवा ठंढा करने से हमें उसके पिघलने, उबलने, जमने आदि के विषय में भी ज्ञान प्राप्त होता है। जिस तापक्रम पर कोई ठोस पिघलता है, उस उसका 'द्रवणांक' कहते हैं; और ठंढा करने से जिस तापक्रम पर कोई द्रव जम जाता है उसे उस द्रव का 'हिमांक' कहते हैं। एक ही पदार्थ का द्रवणांक और हिमांक एक ही होता है। बर्फ़ $0°C$ पर पिघलती है और पानी उसी ताप-क्रम पर जमता है। जिस तापक्रम पर कोई द्रव उबलता है उसे उस द्रव का 'क्वथनांक' कहलाते हैं। उबलने की क्रिया में द्रव शीघ्रता से वाष्परूप में परिणत होता रहता है। जब कोई गैस काफ़ी ठंडी की जाती है अथवा उस पर काफ़ी दबाव डाला जाता है तो वह द्रवरूप में परिणत हो जाती है। इस परिवर्त्तन को 'द्रवीकरण' (liquefaction) कहते हैं। द्रवीकरण का तापक्रम भी निकाला जा सकता है। हाइ-ड्रोजन गैस साधारण दबाव में —२५३°c के नीचे द्रवरूप में रहती है। इसी प्रकार किसी वाष्प के द्रवरूप में परिवर्त्तित
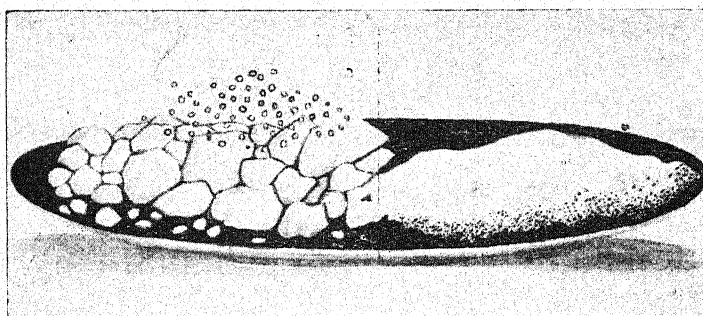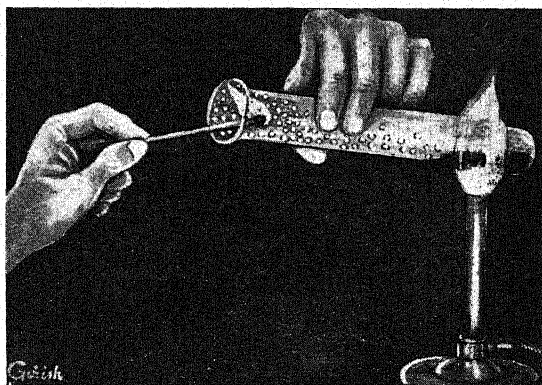
**रासायनिक विच्छेदन**

यदि हम परीक्षानली में पारद आक्साइड को गर्म करें तो आक्सिजन गैस बाहर निकलने लगती है और पारद के छोटे-छोटे गोल कण परीक्षानली की ठंढी सतह पर घनीभूत हो जाते हैं। यदि हम सुलगती दियासलाई परीक्षानली के मुँह के पास ले जायँ तो वह भक से जल उठती है, जिससे प्रगट होता है कि निकलती हुई गैस आक्सिजन ही है।

**( बाईं ओर ) प्रपुष्पण**

रवादार धोनेवाला सोडा जब हवा में खुला छोड़ दिया जाता है तो उसका पानी धीरे-धीरे उड़ जाता है और सोडा खिलकर पाउडर का रूप ग्रहण कर लेता है।

होने को 'घनीकरण' (condensation) कहते हैं। प्रायः सभी द्रव साधारण दशाओं में भी अपने तल से धीरे-धीरे वाष्परूप में परिणत होते रहते हैं। इस परिवर्त्तन को 'वाष्पीकरण' (evaporation) कहते हैं। कुछ द्रव, जैसे स्पिरिट और ईथर, शीघ्रता से वाष्परूप में उड़ जाते हैं। ऐसे द्रवों को 'उड़नेवाले द्रव' कहते हैं। नौसादर और आयडीन जैसे कुछ ठोस द्रव्य गर्म करने पर द्रवित नहीं होते, किंन्तु सीधे वाष्परूप में बदल जाते हैं और ठंढक पाने पर वह वाष्प फिर सीधे ठोस रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार के परिवर्त्तन को ऊर्ध्वपातन (sublimation) कहते हैं। कुछ वस्तुएँ, जैसे नमक, गर्म करने पर चटचटाने की आवाज़ करके छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती हैं। इसको 'चटखना' (decrepitation) कहते हैं।

इसके बाद हम उस वस्तु पर हवा का प्रभाव देखते हैं। हवा में रखने से कुछ वस्तुएँ पानी सोखती हैं। ऐसी वस्तुओं को 'जलग्राही' (hygroscopic या deliquescent) कहते हैं। कास्टिक सोडा या कैल्शियम क्लोराइड के एक टुकड़े को खुली हवा में यदि हम छोड़ रक्खें तो वह इतना पानी सोखेगा कि स्वयं उसमें घुल जायगा।

इस प्रकार, भौतिक गुणों का अध्ययन करने के बाद हम पदार्थों के रासायनिक गुणों का अध्ययन करते हैं। रासायनिक गुणों का अध्ययन करने में भी हम पहले उन रासायनिक परिवर्त्तनों को देखते हैं जो उस वस्तु में हमारी दैनिक जीवन की साधारणतम वस्तुओं—आग ( गर्मी ), हवा, पानी आदि के संसर्ग से होते हैं। जो वस्तु लौ में गर्म करने से जल उठती है, उसे 'जलनशील' कहते हैं। जल जाने पर हम यह देखते हैं कि कौन-सी नई वस्तु बन गई। जो वस्तुएँ नहीं जलतीं, उन्हें 'अज्वलनशील' कहते हैं। कुछ पदार्थों को गर्म करने से वे दो या अधिक प्रकार की नई वस्तुओं में पृथक् हो जाते हैं। इसको 'विच्छेदन' (decomposition) कहते हैं। जैसे, पारद आक्साइड (mercury oxide) को गर्म करने से आक्सिजन गैस निकलती है और एक नया पदार्थ, पारद धातु, बन जाता है। कुछ वस्तुओं में केवल हवा में रखने से ही रासायनिक परिवर्त्तन हुआ करते हैं, जैसे लोहा, ताँबा आदि धातुओं में मोर्चा लगता है, चूना बहुत दिन रखने पर खड़िया में परिवर्त्तित हो जाता है, और तूतिया, सोडा सरीखे कुछ स्फटिक पदार्थों के रवों का पानी (water af crystallisation) उड़ जाता है; जिसके कारण ये वस्तुएँ बेरवादार रूप में रह जाती हैं। इस प्रकार रवों के बेरवादार हो जाने को खिल जाना अथवा 'प्रपुष्पण' (efflorescence) कहते हैं। पानी के संसर्ग से भी बहुत सी वस्तुओं में रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं। चूना पानी में डालने से उससे संयुक्त होता है और 'बुझ' जाता है और इस रासायनिक क्रिया में इतनी गर्मी की उत्पत्ति होती है कि पानी बहुधा उबलने तक लगता है। शुष्क तूतिया (anhydrous copper sulphate) जैसे कुछ बेरवादार पदार्थ पानी से संयुक्त होकर अपने रवे बनाते हैं, और सोडियम धातु की पानी के साथ ऐसी प्रतिक्रिया होती है, जिसमें हाइड्रोजन गैस निकलती है और कास्टिक सोडा बन जाता है।

इन साधारणतम बातों के प्रभाव का अध्ययन करने के बाद हम पदार्थों पर अन्य वस्तुओं की रासायनिक क्रियाओं अथवा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते हैं।
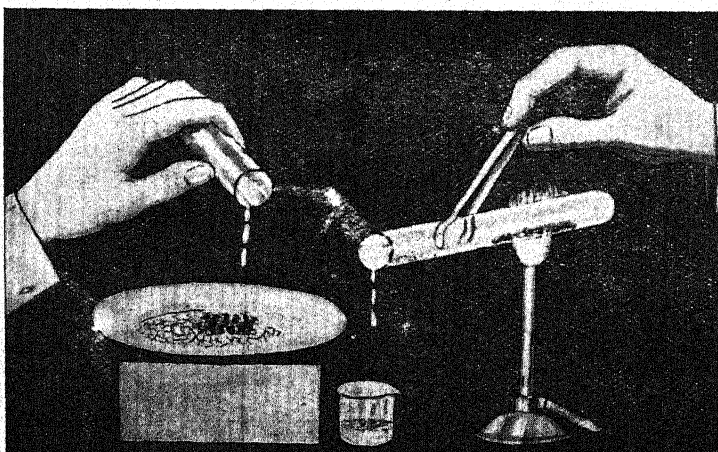
**रवों का पानी**

जब नीला तूतिया परीक्षानली में गर्म किया जाता है तो उसके रवों का पानी निकल जाता है और एक सफ़ेद पाउडर बच रहता है। पानी की बूँदें परीक्षानली की ठंढी सतह पर घनीभूत हो जाती हैं और नीचे गिरकर इकट्ठा की जा सकती हैं। यदि इस बचे हुए सफ़ेद पाउडर या बुकनी में हम फिर पानी डालें तो वह फिर से नीला हो जाता है।

# ऋषिभिर्बहुधा गीतम्*

**जानने की भूख जागरूक होने पर जब हम अंधकार के पर्दे के उस पार हाथ बढ़ाकर तत्त्ववस्तु को टटोलने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे दृष्टिकोण की विविधता के अनुसार हमें उस वस्तु के स्वरूप की विविध अनुभूतियाँ होती हैं। किन्तु इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। वास्तव में उस मूल वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। तभी तो तत्वदर्शी विद्वानों ने उस एक ही तत्त्व का अनेक तरह से बखान किया है।**

प्रथम लेख में कहा जा चुका है कि दर्शन का उद्देश्य तत्त्व का साक्षात्कार करना है। साक्षात्कार या अनुभव का स्वरूप साक्षात्कर्त्ता की जिज्ञासा और साधना पर निर्भर है। इसको एक उदाहरण से देखना चाहिए। मेघ को देखकर एक ऐतिहासिक या पुराणकार के मन में जो भाव उठता है वह यह है—

*जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्।*
(मेघदूत)

अर्थात् पुष्कर और आवर्तक नामक मेघों के विशाल वंश में इस सामने देख पड़नेवाले मेघखण्ड का जन्म हुआ है। इस प्रतिक्रिया में प्रत्यक्ष वस्तु के पूर्व अतीत को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति है। एक कृषक, जिसने अपने जीवन के अस्तित्व के लिए प्रकृति के वरदानों के प्रति कृतज्ञ होना सीखा है, सोचता है—

*त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति।* (मेघदूत)

अर्थात् यह जो लहलहाती हुई सस्य सम्पत्ति है, हे मेघ, इसका श्रेय तुम्हारे वरद जलकणों को है।

प्रकृति के रहस्य को तत्त्वों की शल्य-प्रक्रिया के द्वारा जो जानना चाहते हैं, उन वैज्ञानिकों से यदि आप पूछिए कि मेघ क्या है, तो उनका उत्तर कुछ इस प्रकार होगा—

*धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः—क्व मेघः*
(मेघदूत)

अर्थात् धुआँ, आग, पानी और हवा—इन्हीं के जमघट का नाम मेघ है। यह भी ज्ञान का एक मार्ग है, जिसमें मस्तिष्क की ऊहापोह प्रधान है। इस मार्ग के द्वारा सृष्टि की चीर-फाड़ करके कुछ विशिष्ट पदार्थों में इसका बँटवारा करके मानव-मस्तिष्क अपने आपको सन्तोष देना चाहता है। यह भी एक साधना है। परन्तु वैज्ञानिक का अनुभव कवि की दृष्टि में बहुत निकृष्ट कोटि का है। इसीलिए 'धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः'— इस परिभाषा के सामने उसने 'क्व मेघः' ये दो पद रक्खे हैं, अर्थात् इस प्रकार धुएँ, आग, पानी और हवा का जमघट जो मेघ है, वह हमारे किस काम का? कहाँ एक ओर मेघ का यह निकृष्ट स्वरूप, और कहाँ दूसरी ओर कवियों की कल्पना से प्रसूत मेघ का उदात्त रूप! कवि की भी एक साधना और स्वतन्त्र जिज्ञासा है। उसके अनुसार कल्पना के पंख पर बैठकर जब वह मेघ के स्वरूप का अनुभव करता है, तब वह सोचता है—

*जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः*
(मेघदूत)

अर्थात् 'हे मेघ, मैं यथार्थतः तुम्हारे स्वरूप को जानता हूँ, तुम इस प्रकृति के कामरूप पुरुष हो।' इस प्रकार का कामरूप पुरुष प्रकृति में जब यक्ष को मिलता है, तभी वह उसके हृदय की सूक्ष्म व्यञ्जनाओं को समझने के योग्य होता है।

साक्षात्कार या अनुभव की पृथक्ता या वैचित्र्य को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिए हमने जान-बूझकर भारतीय महाकवि कालिदास की काव्यगत मीमांसा का अवतरण

---

* ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्
—गीता

अर्थात् विविध छंदों में पृथक्-पृथक् ऋषियों ने एक ही तत्त्व का अनेक तरह से बखान किया है।

दिया है। कालिदास के मेघदूत के ये सारगर्भित वाक्य इस देश के दर्शनशास्त्र के एक महान् तत्त्व को प्रकट करते हैं। दृश्य वस्तु का स्वरूप देखनेवाले के दृष्टिकोण पर निर्भर है, अतएव उस अनुभव में विविधता का होना अनिवार्य है। उन अनुभवों में कौन सच है और कौन मिथ्या, यह प्रश्न मस्तिष्क की उधेड़बुन के लिए भले ही महत्त्वपूर्ण हो, अनुभवकर्त्ता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है।

यदि जिज्ञासु की साधना सच्ची है, तो उसके साक्षात्कार का ध्रुवबिन्दु भी अटल है। समस्त ब्रह्माण्ड भी यदि उसका प्रतिपक्षी हो, तब भी उसके अनुभव की सत्यात्मक प्रतीति टस से मस नहीं की जा सकती। वैरागी राजकुमार सिद्धार्थ से कौन इस बात में सहमत था कि राजकीय प्रासाद का देवभोग्य वैभव त्यागने योग्य है? पर गौतम अपने अनुभव से तिल भर भी नहीं डिग सके। अथवा जोगी रतनसेन की माता का एक ओर यह कहना—

*'बिनवै रतनसेन कै माया।*
*माथे छात, पाट निति पाया॥*
*बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी।*
*राज छाँड़ि जिनि होहु भिखारी॥'*

(पद्मावत)

और दूसरी ओर रतनसेन का यह वाक्य—

*'मोहिं यह लोभ सुनाव न माया।*
*काकर सुख, काकर यह काया?*
*जो निआन तन होइहि छारा।*
*माटिहि पोख मरै को भारा?'*

(पद्मावत)

दोनों बराबर महत्त्व रखते हैं। रतनसेन की साधना ने तत्त्व का दर्शन इसी रूप में किया था। एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या मानना बुद्धि का लड़कपन है।

दार्शनिक विमर्श के पनपने के लिए अनुकूल क्षेत्र की तैयारी इसी बात पर निर्भर है कि हम अपनी विचारशैली में ऊपर दिखाये हुए दृष्टिकोण को कहाँ तक आदर के योग्य समझते हैं। यदि तत्त्व को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं जिज्ञासु बनकर साधना करे, तो साथ ही यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस जिज्ञासा के अन्त में हम जिस परिणाम पर पहुँचें उसको 'प्रतिष्ठित' माना जाय। 'प्रतिष्ठित' का तात्पर्य यह है कि ज्ञान-प्राप्ति का जो सर्वसम्मत मार्ग है वही उस अनुभव का भी आधार या प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार अनेक ऋषियों के अनुभव सब प्रतिष्ठित हैं। ऋषि वह है जिसने स्वयं तत्त्व का अनुभव किया है जिसने स्वयं तत्त्व को मथा है, वही दर्शन का अधिकारी है। भगवान् बुद्ध कहा करते थे कि गन्तव्य स्थान तक जो स्वयं नहीं गया, जिसने मार्ग को केवल दूसरों से सुनकर घोख रक्खा है, उसका वचन प्रमाण के योग्य नहीं है।

भारतीय विचारकों ने अपने वाङ्मय के उषःकाल से ही इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को समझकर उसका प्रचार किया है। ज्ञान-सिद्धि ऋषि-महर्षियों का जो साक्षात्कार था, उसको उन्होंने 'श्रुति' कहा है। श्रुति का जन्म प्रज्ञा से होता है। प्रज्ञा (Intuition) ज्ञान-प्राप्ति का सबसे सूक्ष्म और मूल्यवान् साधन है। योग-समाधि के द्वारा चित्त को संस्कृत करने का फल हमारे ज्ञान-यंत्र के लिए पतञ्जलि ने निम्नलिखित सूत्र में बताया है—

*ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा*

अर्थात् अध्यात्म दर्शन की उच्चतम अवस्था में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। ऋत जिसमें भरता हो, ऐसी बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा है। मस्तिष्क की तर्क-वितर्क के द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान सत्य है। हृदय की अनुभूति या तत्त्व-साक्षात्कार से मिलनेवाला अनुभव 'ऋत' है। योगी की प्रज्ञा (Intuition) ऋतात्मक ज्ञान का भरण करती है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी की बुद्धि प्रमाणों के ऊहापोह से तत्त्व-विनिश्चय का प्रयास करती है। पिछले प्रकार के आयोजन से उत्तरकालीन भारतीय दर्शनों का जन्म हुआ है, जिनकी गणना शास्त्रकोटि में की जाती है। भारत में मस्तिष्क के तर्क की पराकाष्ठा नव्य न्याय के रूप में हुई, जिसके परिष्कारों की अवच्छेदकावच्छिन्न रूपी तीक्ष्ण धार के आगे टिक सकना दिग्गज विपक्षियों के लिए भी कठिन हो गया। इस शास्त्र के सामने मस्तिष्क की हार अवश्य होती है, हृदय की नहीं। इससे ठीक उलटी प्रज्ञा की कोटि है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से जिस दर्शन का जन्म हुआ, वह उपनिषद् और वैदिक मंत्रों में उपनिबद्ध है। यहाँ दर्शन ने काव्य का रूप धारण किया है। ऋषि को वेदों में 'विप्र' (ज्ञानी) की पदवी के साथ-साथ 'कवि' भी कहा है। ऋषियों के अनुभव जिन श्रुतियों में हैं, वे दैवी काव्य हैं, जो कभी जीर्ण और मृत नहीं होते—

*देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।*

श्रुतियों में कहीं भी नियमबद्ध विवेचन करने (systematisation) का आयोजन नहीं है। प्रज्ञा की वायु मलयानिल की तरह स्वच्छन्द होकर जिधर चाहती है, बहती है। इसी

कारण उपनिषदों के उद्गार नव्य नवनीत की भाँति आज भी हरे-भरे मालूम होते हैं। उनके संगीत में बासीपन या मृत्यु की जड़ता का संस्पर्श कभी नहीं होता, जो प्रमाण-प्रमेयों के चौखटे में कसे हुए तथाकथित दार्शनिक विमर्शों का अभिशाप है। भारतीय दर्शनकारों ने श्रुति और शास्त्र की प्रामाणिकता में सदा अन्तर किया है। शास्त्र को प्रमाण-कोटि में लाने के लिए बुद्धि पर कसना पड़ता है। श्रुति तो ज्ञान और अनुभव का मथा हुआ घृत है। शंकर आदि दार्शनिक श्रुति के सामने नतमस्तक होकर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। जब उन्हें ऋषिअनुभूत ज्ञान का नवनीत मिल जाता है, तब वे तर्क के पचड़े में नहीं पड़ते। इस प्रकार का दृष्टिकोण केवल तर्कसम्मत पैंतरों के बल चलनेवालों को भले ही अखरनेवाला मालूम पड़े, पर जिनके लिए दर्शन जीवनमरण की पहेली को सुलझाने के लिए है, उन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा (Intuition) से पनपनेवाला अध्यात्म अनुभव बड़ा मूल्यवान् प्रतीत होता है। कोरा बुद्धिवाद मनुष्य को राजा नृग की तरह अन्धकार के गर्त में ले जाकर छोड़ देता है। वही प्रज्ञा के साथ मिलकर न केवल 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं' अश्वत्थ की तरह युग-युगान्तर तक टिक सकता है, बल्कि पक्षिराज गरुड़ की भाँति व्योम में सूर्य से आलोकित प्रदेशों का साक्षात् दर्शन भी कर सकता है।

इस विवेचन से इस बात का कुछ आभास मिलता है कि सत्य और श्रद्धा के साथ जीवन की बाज़ी लगाकर तत्त्ववस्तु को टटोलने की पद्धति को इस देश में कितना मूल्यवान् माना गया है। अध्यात्म-ज्ञान के पनपने की यही उर्वरा भूमि रही है, जिसके लिए भारतीय दर्शन आज भी जगत् में विख्यात है। इस क्षेत्र की एक विशेषता रही है—विचार की बहुविधता। विचार की सहस्रमुखी प्रवृत्ति के द्वारा ही भारतीय दर्शन ने वैदिक काल से लेकर आज तक अपने पनपने के लिए विशेष अनुकूल परिस्थिति का निर्माण किया है। प्रज्ञा कभी नियमजटित शिकंजों के भीतर फूल-फल नहीं सकती, उसको स्ववश विहार के लिए अनन्त क्षेत्र चाहिए। भारतीय मस्तिष्क की विशेषता का अध्ययन करते हुए डा० बैटी हाइमान ने ठीक ही लिखा है कि:—

*'In short, the West has elaborated the best systematic framework of thought, while India's natural task is to keep this framework sufficiently elastic to embrace all possibilities of thought, equally those already realised and those not yet foreseen.'*
[Indian and Western Philosophy, p. 26]

अर्थात् 'संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विचार करने का जो सर्वोत्तम क्रमबद्ध विधान है, उसका पूर्ण विकास करने में पश्चिमी विद्वान् सफल हुए हैं। किन्तु भारतवर्ष के मनीषियों ने जो ध्येय अपने सामने रक्खा, वह यह था कि मनन करने की स्वाभाविक सरणि या प्रणाली सदा ऐसी लचीली बनी रहे कि उसमें सब प्रकार के भूत और भावी विचारों के पनपने की गुंजाइश हो।'

मनन के आदि युग में ही मेधावी ऋषि ने घोषणा की—

*एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।*

ऋग्वेद १।१६४।४६

अर्थात् प्रज्ञावान् मनीषी लोग एक सद्वस्तु का अनेक प्रकार से बखान करते हैं।

ये अमर अक्षर आज भी भारतीय ज्ञान-मन्दिर के तोरण-द्वार पर लिखे हुए हैं। उनका कल्याणप्रद आश्वासन इस ज्ञानमन्दिर के भक्तों का अमोघ स्वातन्त्र्य पद है। वेदों का व्यास करनेवाले भगवान् द्वैपायन कृष्ण ने इसी सत्य को अनेक स्थानों पर दुहराया है—

*एकधा च द्विधा चैव बहुधा स एव हि।*
*शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रशः॥*

—महाभारत अनुशासन० १६०।४३

भगवान् देवकीपुत्र कृष्ण ने काव्यमय ढंग से इसी बात का समर्थन किया है—

*ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।*

—गीता

अर्थात् विविध छन्दों में पृथक्-पृथक् ऋषियों ने एक ही तत्त्व का बहुधा बखान किया है। सर्वत्र 'बहुधा' पद महत्त्व-पूर्ण है। अनेक ऋषियों को अनेक प्रकार से तत्त्व का अनुभव हुआ है। सबने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार उसका वर्णन किया है—

*भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।*

(तुलसीदास)

उस अज्ञेय रहस्य को 'ठीक ऐसा है' कहना कठिन है—

*इदमित्थं कहि जाय न सोई।*

अथवा कवि ने कितनी सुन्दर कल्पना की है कि ज्ञान-रूपी महान् अश्वत्थ की दिग्दिगन्तव्यापिनी शाखा-प्रशाखाओं पर आश्रित सहस्रों पक्षी अपने-अपने संघों में रात-दिन अमृततत्त्व का गान करते रहते हैं। वही ज्ञान विश्वभुवन का पालक है। उसी का एक पक्वकण आज

हमारे अन्दर प्रविष्ट हुआ है।* काव्यमय ढंग से उन पक्षियों को 'मध्वद' अर्थात् शहद का चखनेवाला कहा गया है। क्या सत्य ज्ञान के अन्वेषक विश्व के समस्त ज्ञानियों की गिनती इसी प्रकार के मध्वद सुपर्णों में नहीं है? अनन्त काल से ये पक्षी विशाल ज्ञान-अश्वत्थ की शाखाओं पर बैठते आये हैं; आज भी अपने-अपने स्वर में उनका गान जारी है, और आगे भी चलता रहेगा। उनके स्वरों की बहुविधता ही इस संगीत का वास्तविक भूषण है। उसकी सुन्दरता को पहचानने के लिए दृष्टि-कोण ठीक होना चाहिए। कितने व्यक्ति हैं, जो संगीत की नीचे लिखी विशेषता को श्रद्धा के साथ मानते हैं—

*सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।*

कवि और विप्रों के वचनों में, चाहे वे इस देश के हों चाहे विदेश के, एक तत्त्व की बहुधा कल्पना सर्वत्र उपलब्ध होती है। इसमें विरोध देखना दृष्टिदोष है। श्रुतियों का 'बहुधा' पद उनके मौलिक समन्वय की ओर हमारा ध्यान खींचता है। इस विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक एक महती प्राणधारा (मधुकण) ओत-प्रोत है। उसी का विकास यह सब कुछ है, उसी के स्वरूप का अध्ययन वैज्ञानिक लोग करते हैं, एवं उसी के रहस्य की मीमांसा ज्ञानी करते हैं। जब उसका ही चरित अनेक प्रकार का है, तब ज्ञानियों का अनुभव भी अनेक प्रकार का हो, इसमें कौन-सा आश्चर्य है। वे जैसा समझ पाते हैं, वैसा प्रकट करते हैं—

*पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां*
*पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।*

अर्थात् अनेक प्रकार से मीमांसा करते हुए ज्ञानी विश्व में उसके व्यापार की विचित्रता का दर्शन करते हैं। यम ने नचिकेता से कहा है कि अनेक प्रकार से चिन्त्यमान वह तत्त्व अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिए बड़ा दुर्ज्ञेय है। सत्य-धृति लोग ही उसका अनुभव कर पाते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या श्रुतियों की और शास्त्रों की बहुविध मीमांसा बुद्धि का कौशलमात्र नहीं है? इस प्रकार के विभ्रम से क्या कभी कोई परिणाम निकल सकता है? इसके उत्तर में वृत्त और केन्द्र के प्रसिद्ध उदाहरण की कल्पना कीजिए। केन्द्र ही वृत्त और विश्व की समस्त आकृतियों का मूल है। अथवा यों कहें कि यद्यपि नामरूप की दृष्टि से केन्द्र की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, फिर भी यथारुचि उससे त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज आदि आकृतियाँ बनती रहती हैं। यही तो 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' वाली प्रक्रिया है। सृष्टि की रचना में ही इसका मूल अन्तर्निहित है। 'एकं बीजं बहुधा यः करोति'—अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ने एक मूल बीज से बहुविध प्रपञ्च का विस्तार किया है। जब मूल वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, तो मानव बेचारा उसमें क्या हस्तक्षेप करे? श्रुतियों में स्पष्ट कहा है कि प्रजापति सृष्टि के गर्भ में रम रहा है। उसके उस स्वरूप को जो केन्द्र की ही तरह है, ज्ञानी लोग देखते हैं। वही बहुत प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है। उसी में समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं—

*प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।*
*तस्ययोनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।*

[यजुर्वेद ३१।१६]

आर्ष श्रुति ज्ञान अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुभव वाक्यों के अतिरिक्त अर्वाचीन विज्ञान की साक्षी भी इसी ओर है। प्रकृति के बानवे तत्त्वों का पार्थक्य आज परमाणु के न्यूट्रन, प्रोट्रन, इलेक्ट्रन आदि अणोरणीयान् विद्युत्-अंशों की खोज के कारण विलीन होता जा रहा है। सहस्रांशु सूर्य की असंख्य किरणों और उनके रंग-बिरंगे चमत्कारों का आपसी भेद भी केवल गणित की कृपा पर अवलम्बित माना जा रहा है। निदान यह कि दृश्यमान जगत् के पीछे एक ही मूल बीज या प्रेरणा काम कर रही है। वही अनेक रूपों में प्रकट हो रही है। 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' नियम के अधीन वैज्ञानिक की भी सृष्टि है। जिन ऋत्विजों ने कहा था—'एकं व इदं विबभूव सर्वम्' वे वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से बहुत दूर हटे हुए नहीं थे।

ऊपर निर्दिष्ट बहुधा-सम्बन्धी दृष्टिकोण को मानने का परिणाम भारतीयों के व्यावहारिक जीवन पर बहुत सुन्दर हुआ है। इसी के कारण यहाँ अद्भुत विचार-सहिष्णुता पनप सकी है। प्रतीत होता है कि गंगा का तट चार्वाक से लेकर शंकर तक, सबके लिए शीतलवाही है। आकाश से बरसा हुआ जल जैसे समुद्र में मिल जाता है, वैसे ही चाहे जिस देवता को नमस्कार करो, सब प्रणाम ईश्वर में जाकर एक हो जाते हैं, यह नितान्त रमणीय भाव है जो विश्व में अन्यत्र कहीं प्रकट नहीं हुआ। इसी भाव ने समस्त भारतीय संस्कृति और राष्ट्र को एक अटल समन्वय के सूत्र में सदा के लिए बाँध रक्खा है।

---

* यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनः विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
ऋ० १।१६४।२१

# पृथ्वी की कहानी
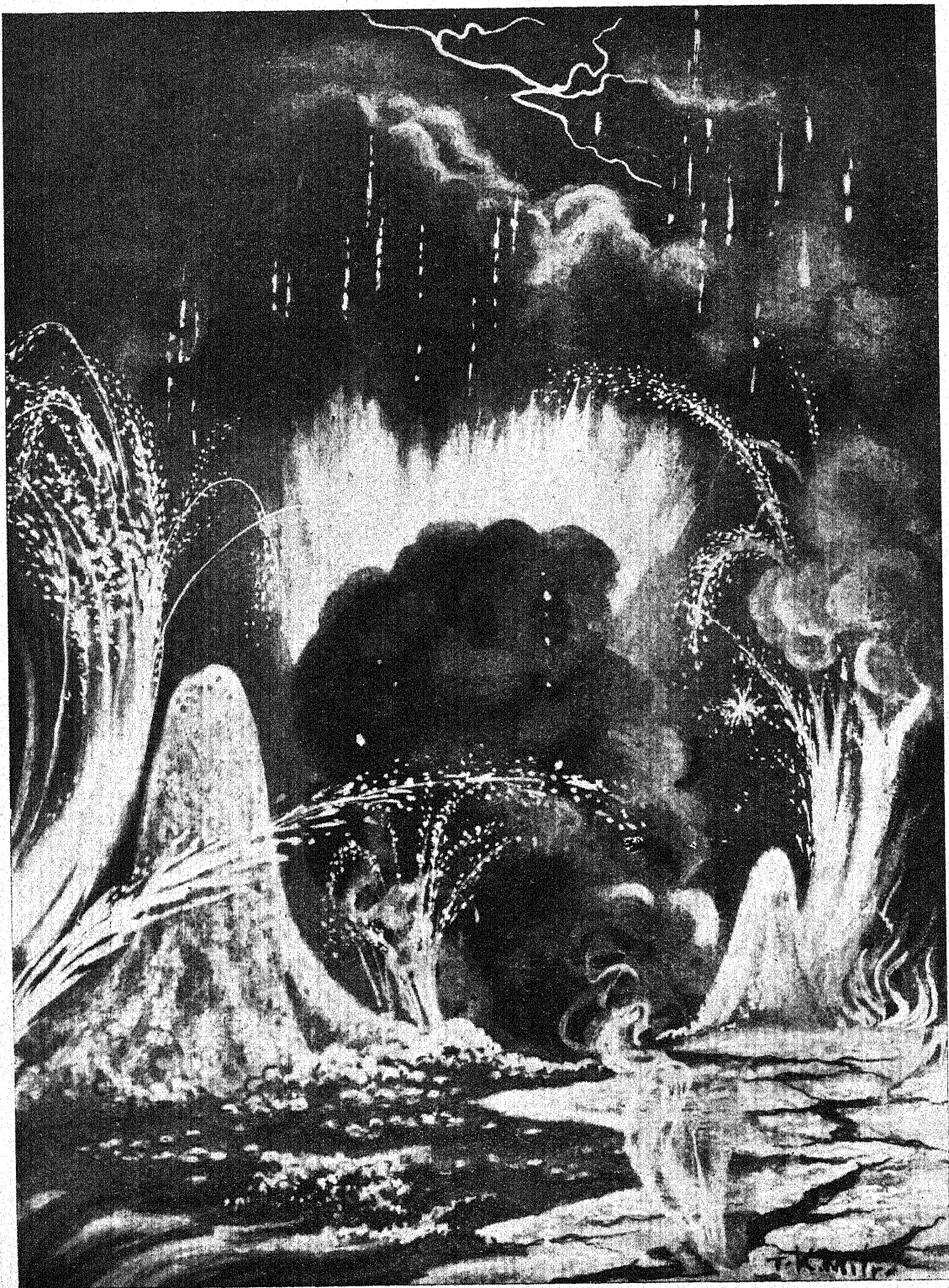
**पृथ्वी के शैशवकाल का प्रलयंकर दृश्य**

जन्म के लाखों वर्ष बाद जब पृथ्वी के ऊपर की पपड़ी जमने लगी, तब उस पर प्रकृति का भीषण ताण्डव आरम्भ हुआ। गली हुई धातुओं के उस धधकते महासागर में ज्वालामुखियों के भयानक उबाल आते थे। ऊपर से पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की मूसलाधार अग्निवर्षा होती थी और घनघोर आकाश में दिल दहलानेवाली बिजली कड़कती रहती थी। [ देखिए पृष्ठ १५८ ]

# पृथ्वी कहाँ से और कैसे ?

## उसकी आरंभिक रूपरेखा

**पृथ्वी के संबंध में हमारी अब तक क्या-क्या धारणाएँ रही हैं और आज का उसका रूप कैसा है, इसका सामान्य रूप से पिछले प्रकरण में हम विवेचन कर चुके। इस प्रकरण में हमें देखना है, पृथ्वी कहाँ से और कैसे आई, और उसके शैशवकाल का रूप कैसा रहा।**

हमारी पृथ्वी सौर मण्डल का एक अंश है और सौर मण्डल इस अखिल ब्रह्माण्ड में विचरनेवाले करोड़ों नक्षत्र-मण्डलों में से एक है। अनन्त ब्रह्माण्ड में हमारे सौर मण्डल के सूर्य-सरीखे उससे कई गुना बड़े असंख्य नक्षत्र तो हैं ही, विशालकाय पुच्छल तारे, सर्पिल नीहारिकाओं की दूर तक पसरी हुई कुण्डलियाँ तथा बड़े-बड़े उल्का और उल्काकण भी निरन्तर घूमा करते हैं। पृथ्वी सौर मण्डल का ही एक भाग होने के कारण, वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी का जन्म भी सौर मण्डल के जन्म के साथ हुआ। ज्योतिष या खगोल विद्या के अध्ययन करनेवालों का विचार है कि सौर मण्डल का जन्म एक ऐसे वायव्य पिण्ड से हुआ जो किसी कारण से सूर्य तथा सूर्य से भी बड़े एक विशाल नक्षत्र के परस्पर बहुत अधिक निकट आ जाने से उत्पन्न हो गया था। किस प्रकार इस महापिण्ड से सौर मण्डल की सृष्टि हुई, इसके विषय में वैज्ञानिकों में मतभेद हैं। लोगों ने कल्पना और तर्क के बल पर अनेकों सिद्धान्त बनाये, परन्तु अभी तक कोई निश्चित् सिद्धान्त ठहराया नहीं जा सका है। भूगर्भ-विज्ञान द्वारा, पृथ्वी के विभिन्न स्तरों की बनावट, खानों के भीतर के अनुभव, ज्वालामुखी पर्वतों का विस्फोट आदि के अध्ययन द्वारा बहुत से वैज्ञानिकों ने इस पहेली को सुलझाने की चेष्टा की है; परन्तु आधुनिक विद्वान् सहज ही किसी भी सिद्धान्त को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं हैं। उल्कापात के रूप में जो संदेश हमें अन्तरिक्ष से मिलते हैं, वैज्ञानिक उनके द्वारा भी पृथ्वी और सौर मण्डल के जन्म की कल्पना करना चाहते हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने की भी चेष्टा की है कि उल्कापात के द्वारा ही सौर मण्डल की सृष्टि हुई है।

लाप्लेस
सौर मण्डल की उत्पत्ति सम्बन्धी जिसका मत बहुत दिनों तक मान्य रहा है।

### लाप्लेस का सिद्धान्त

अठारहवीं शताब्दी में लाप्लेस नामक एक फ्रेञ्च वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सौर मण्डल के जन्म से पहले उसके स्थान पर धधकते वायव्य का एक महापिण्ड आकाशमण्डल में वेग से घूमता हुआ चक्कर लगाता था। यह पिण्ड उस समय इतना लंबा-चौड़ा था कि वर्त्तमान सौर मण्डल के सबसे दूरवाले ग्रह नेपचून के परिक्रमाक्षेत्र से भी बाहर तक पसरा हुआ था। वेग से घूमने के कारण इसके ऊपरी भाग की उष्णता आकाश-मण्डल में फैल गई और वह ठण्ढा होने लगा। ठण्ढा होने के कारण उसका बाहरी वायव्य पदार्थ घनीभूत होने लगा, परन्तु भीतर का पदार्थ अभी उत्तप्त वायव्य अवस्था

ही में था। ऊपर का घनीभूत भाग घूमने की गति में केन्द्रीय भाग का साथ न दे सकने के कारण उससे अलग हो गया। और उसके ऊपर तेज़ी से उसकी परिक्रमा करने लगा। कालान्तर में बाहर घूमनेवाली यह वलयाकार कुण्डली एक पिण्ड के रूप में सिमट गई और केन्द्रीय पिण्ड के चारों ओर पूर्वावस्था में परिक्रमा लगाने लगी। इस प्रकार उस महापिण्ड से एक-एक करके नौ पिण्ड अलग हो गये, जो सौर मण्डल के ग्रहों के रूप में—जिसमें हमारी पृथ्वी भी एक है—आज भी केन्द्रीय पिण्ड सूर्य के चारों ओर उसी भाँति परिक्रमा लगा रहे हैं। सूर्य तो अभी तक उसी प्रकार उत्तप्तावस्था में है, यद्यपि उसकी प्रचण्डता जन्मकाल की अपेक्षा अब कम है; किंतु उसके आसपास चक्कर लगानेवाले ये छोटे पिण्ड या ग्रह अब बहुत ठंढे हो गये हैं।

इस मत के अनुसार पृथ्वी एक वायव्य पिण्ड से घनीभूत होकर, तरलावस्था को पार करके, धीरे-धीरे कठोर हुई है। अब भी यह पूर्णतया ठंढी नहीं हो पाई है, केवल इसके ऊपर का पिण्ड, जिस पर हम लोग रहते हैं, जमकर कठोर हो गया है। इसके भीतर अभी तक लावा की भाँति पिघला हुआ पदार्थ भरा है, जो धीरे-धीरे सिकुड़ता हुआ ठंढा हो रहा है। इस मत के अनुसार पृथ्वी का पिण्ड आरम्भ में इतना बड़ा न था जितना आज है, वरन् इससे कई गुना बड़ा—लगभग सूर्य जैसा ही—था।

**दो आकाशीय महापिण्डों की टक्कर की कल्पना**

एक मत के अनुसार हमारे सौर मण्डल की उत्पत्ति किसी अतीत काल में ऐसे ही दो महापिण्डों के आपस में टकरा जाने से उत्पन्न नीहारिका से हुई है।

## उल्काओं की उत्पत्ति

लोगों ने बहुत दिनों तक ऊपर के सिद्धान्त पर विश्वास किया और कुछ लोग अब भी इसको ही ठीक मानते हैं। परन्तु थोड़े दिनों के बाद वैज्ञानिकों ने एक नया सिद्धान्त निकाला। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर नार्मन लाकयर नामक वैज्ञानिक ने किया। इस सिद्धान्त का मूल तत्त्व यह है कि अखिल ब्रह्माण्ड में जितने भी पिण्ड हैं, वे सब उल्काओं के बने हुए हैं। अर्थात् आकाशमण्डल में दिखाई पड़नेवाले ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, धूम्रकेतु और नीहारिकायें आदि सब पिण्ड उसी प्रकार के उल्कापिण्डों तथा उल्काकणों की धूल से मिलकर बने हैं, जो नित्यप्रति हमारी पृथ्वी पर टूटनेवालों तारों के रूप में गिरते रहते हैं। इस मत के अनुसार सौर मण्डल का जन्म उल्का और नन्हें उल्काकणों के समूह से मिलकर बने हुए एक विशाल पिण्ड से हुआ है, वायव्य पिण्ड से नहीं।

इन उल्काओं की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिक यह विश्वास करते हैं कि आकाशमण्डल के कुछ पिण्डों के परस्पर टकरा जाने से वे छिन्न-भिन्न होकर ब्रह्माण्ड में इधर-उधर छिटक जाते हैं। छिटके हुए ये पिण्ड किसी बड़े पिण्ड के आकर्षण से उसके अधिक समीप पहुँचकर उसी में मिल जाते हैं। हमारी पृथ्वी के समीप भी जो पिण्ड आ जाते हैं, वे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से इतने वेग से इसमें आ मिलते हैं कि मालूम होता है कहीं से टूटकर गिर रहे हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे सौर मण्डल की उत्पत्ति उल्कापिण्डों से बनी एक नीहारिका से हुई है। दो महापिण्डों के परस्पर टकरा जाने से इतनी भीषण ज्वाला उत्पन्न हुई होगी कि इन महापिण्डों के छिन्न-भिन्न अंशों में से अधिकांश उसमें गलकर तरल हो गये होंगे। कुछ वायव्य रूप में भी परिणत हो गये होंगे और बादल की भाँति छा गये होंगे। परन्तु आकर्षण-शक्ति के वश तरल और वायव्य पदार्थ बड़े-बड़े पिण्डों से अलग नहीं हो सके होंगे। वरन् वायव्य पदार्थ ठोस और पिघले हुए पिण्डों को पूर्णतया मण्डित किये होगा और इस प्रकार पूरा पिण्ड वायव्य के महापिण्ड के रूप में दिखाई पड़ता होगा। सहस्रों उल्कापिण्डों के वेग से इधर-उधर परस्पर टकराने से तथा रगड़ने से वेगवती ज्वाला और उससे प्रकाश उत्पन्न होता था, जो सारे वायव्य पिण्ड को प्रकाशित किये था। इस अवस्था में सहस्रों उल्कापिण्ड रगड़कर चूर हो गये होंगे

और इस चूर ने वही काम किया होगा, जो ईंटों की जुड़ाई में चूना करता है। अर्थात् बड़े-बड़े उल्कापिण्डों को एकत्रित करके एक बड़े पिण्ड के रूप में परिणत कर दिया होगा।

## उल्कापिण्डों की नीहारिका

टक्कर की पीड़ा के कारण यह महापिण्ड निरन्तर नाचता रहा होगा और कालान्तर में सर्पिल नीहारिका के रूप में परिणत हो गया होगा। नीहारिका का बाहरी भाग ठण्ढा होकर केन्द्रीय भाग से अलग होकर एक पिण्ड के रूप में सिकुड़ गया होगा। कहते हैं, इस प्रकार धीरे-धीरे नीहारिका से कई पिण्ड अलग हो गये, जो सौर मण्डल के ग्रहों के रूप में केन्द्रीय पिण्ड सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते घूमते हैं। एक उल्लेखनीय बात यह है कि पृथ्वी का चिप्पड़ जिन पदार्थों से मिलकर बना है, वे ही पदार्थ उल्काओं में भी पाये जाते हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि मंगल आदि अन्य ग्रहों पर भी हमारी पृथ्वी की भाँति ही निरन्तर उल्कापात होता रहता है।

सर्पिल नीहारिका

शक्तिशाली दूरदर्शक से कोटि-कोटि मील की दूरी पर ऐसी कुण्डलाकार नीहारिकाएँ दिखाई पड़ती हैं। कहते हैं, इसी प्रकार के ज्योतिर्पुंज से हमारे सौर मण्डल और पृथ्वी का जन्म हुआ। [ फ़ोटो 'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त। ]

प्रोफ़ेसर सी नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त ठहराया है कि अखिल ब्रह्माण्ड उल्काओं तथा उल्काकणों की महीन धूल से निरन्तर छाया हुआ है। कभी-कभी ऐसा होता है कि इस धूल का कुछ अंश एकत्रित होकर एक पिण्ड बन जाता है। यह पिण्ड हमें आकाश में नक्षत्रों के रूप में दिखाई देता है। उल्काओं तथा उल्काकणों की नीहारिकायें भी आकाशमण्डल में बनती रहती हैं। इन नीहारिकाओं में नक्षत्रों-जैसे उल्कापिण्ड भी आकर फँस जाते हैं। इस प्रकार वेग से घूमती हुई नीहारिकाओं में उल्का, उल्काकणों की धूल, इनके परस्पर के घर्षण से उत्पन्न वायव्य पदार्थ तथा नक्षत्र-जैसे बड़े-बड़े उल्का रहते हैं। बड़े-बड़े विशाल पिण्ड अन्य छोटे पिण्डों को भी आकर्षित कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे सौर मण्डल के ग्रह सूर्य की प्रारम्भिक नीहारिका के चक्कर में आकर फँस गये, उसी से उत्पन्न नहीं हुए, और आज भी आकर्षण के कारण सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं।

## आधुनिक सिद्धान्त

सौर मण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ज़ैफ़रे नामक वैज्ञानिक ने कुछ वर्ष हुए जो सिद्धान्त ठहराया है, वह अन्तिम हो या नहीं, परन्तु उसके अनुसार पृथ्वी का जन्म अन्य ग्रहों के समान अतीत में सूर्य की एक विशाल नक्षत्र से टक्कर होने से हुआ। इस टक्कर के फलस्वरूप सूर्यपिण्ड का तथा दूसरे नक्षत्र का बहुत कुछ अंश आकाशमण्डल में छितरा गया और पीछे से इस छितराये हुए पदार्थ के घनीभूत हो जाने से पृथ्वी आदि ग्रहपिण्डों का जन्म हुआ। आरम्भ में ये पिण्ड पिघली

हुई दशा में थे और प्रचण्ड अग्नि से तप्त थे। सर जेम्स जीन्स नामक एक विद्वान् ने कुछ वर्ष हुए गणित द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सौर मण्डल जिस नीहारिका पिण्ड से आरम्भ हुआ है, वह घूमते-घूमते नासपाती की-सी शक्ल का हो गया होगा। नासपाती के अन्य भाग की अपेक्षा नुकीला भाग जल्दी ठण्ढा हो गया होगा और सिकुड़कर घना हो जाने के कारण नासपाती का साथ न दे सका होगा और टूटकर अलग हो गया होगा। टूट जाने पर भी यह उस बड़े पिण्ड के साथ-ही-साथ घूमता रहा होगा। बड़ा पिण्ड सिकुड़कर छोटा होता गया और इस प्रकार यह टूटा हुआ पिण्ड उससे दूर हो गया। साथ-ही-साथ बड़े पिण्ड से इस प्रकार कई पिण्ड टूटकर अलग हुए। यही पिण्ड सौर मण्डल के ग्रह हैं और केन्द्रीय पिण्ड सूर्य। जो पिण्ड नासपाती के नुकीले भाग के रूप में टूट गये थे, वे भी आरम्भ में पिघली हुई तप्त अवस्था में थे और बराबर वेग से नाचते हुए केन्द्रीय पिण्ड की परिक्रमा करते थे। कालान्तर में इन पिण्डों की शक्ल भी नासपाती जैसी ही हो गई और फिर इनके नुकीले भाग भी टूटकर इनसे अलग हो गये। ये भाग इन ग्रहों के चन्द्रमा के रूप में हो गये। हमारी पृथ्वी का भी नुकीला भाग टूटकर इससे अलग हो गया और चन्द्रमा बन गया। इस भाग के टूटने से जो स्थल खाली हुआ, उसमें पृथ्वी के ठंढी हो जाने पर पानी भर गया और गहरा समुद्र बन गया।

**सर जेम्स जीन्स**

जिनके द्वारा प्रतिपादित सौर मण्डल का उत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त आज दिन प्रायः सर्वमान्य है।

## पौराणिक धारणा

इस सम्बन्ध में हमारी पौराणिक कथा भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण है। सृष्टि के आरम्भ में अनन्त भगवान् शेषनाग की कुण्डली पर शयन करते हुए क्षीर सागर में विचरण करते थे। भगवान् की नाभि से कमल उत्पन्न होता है, जिसके दल चारों ओर फैले हुए हैं। भगवान् के नाभिकमल पर बैठे ब्रह्मा इस विचार में मग्न होते हैं कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ और किसलिए आया हूँ? इतने में भगवान् के कानों के मैल से दो विशाल शरीरवाले दानव उत्पन्न होते हैं। ये दोनों दानव आपस में लड़ने लगते हैं और लड़कर दोनों मर जाते हैं। उनके शरीर का मैल उसी क्षीर सागर में बहता है और उसी से मेदिनी बनती है। मंगल नामक ग्रह कुछ काल पर्यन्त मेदिनी के पुत्र के रूप में जन्म लेता है। कालान्तर में मेदिनी के समुद्र-मन्थन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा ने मरीचि और भृगु नामक दो मानसिक पुत्र उत्पन्न किये। इनके द्वारा सूर्य आदिक ग्रह उत्पन्न हुए।

## पौराणिक और आधुनिक धारणाओं की तुलना

ऊपर जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, उनमें तथा पौराणिक रूपक में बहुत कुछ सामञ्जस्य है। अनन्त भगवान् को इस अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में माना जा सकता है। क्षीर सागर दूध-सरीखे उस चमकदार पदार्थ को कह सकते हैं, जो आकाशमण्डल में नीहारिकाओं और आकाशगंगाओं में देख पड़ता है। शेषनाग की कुण्डली अनन्त ब्रह्माण्ड में पसरी हुई नीहारिकाओं की कुण्डली है। कान के मैल से दो दैत्यों का उत्पन्न होना अनन्त देश की किसी गुहा से दो मरे हुए बृहताकार पिण्डों का निकलना हो सकता है। दोनों का टक्कर खाना दोनों का लड़ना है। लड़ते-लड़ते दोनों नष्ट हो जाते हैं और उनके शरीर का मैल एक वायव्य पिण्ड के रूप में परिणत हो जाता है, जिसे मेदिनी के नाम से पुकारा गया है। इस मेदिनी के मंगल ग्रह नामक पुत्र हुआ। कौन कह सकता है कि प्रोफ़ेसर जीन्स की गणना के अनुसार मंगल ग्रह भी पृथ्वी की नासपाती-सी शक्ल का नुकीला भाग नहीं है? चन्द्रमा के सम्बन्ध में तो सभी वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि वह पृथ्वी से टूटकर अलग हो गया है।

वास्तव में सौर मण्डल की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अभी तक कोई प्रमाणित रूप से सिद्ध करने में सफल नहीं हो सका है। सबने अपनी धारणाओं के अनुसार अपने सिद्धान्त बनाये हैं। हम यह नहीं कह सकते कि ये सिद्धान्त ठीक नहीं हैं, परन्तु तर्क और वास्तविकता की कसौटी पर अभी तक कोई सिद्धान्त पूर्ण रूप से अन्तिम नहीं हो पाया है। हमें इस सम्बन्ध में यह देखना है कि पृथ्वी की कथा, जो उसकी चट्टानों तथा उसके विभिन्न स्तरों आदि में प्रकृति की क़लम द्वारा लिखी हुई है, इस सम्बन्ध में क्या कहती है। भूगर्भ-विज्ञान उसी बात को ग्रहण करने को तैयार

**पृथ्वी का जन्म**

सुदूर अतीत में किसी नक्षत्र के आकर्षण से सूर्य में से बहुत-सा उत्तप्त वायव्य अंश टूटकर अलग हो गया था। इसी नीहारिक जैसे जलते वायव्य पदार्थ ने चक्कर लगाते-लगाते विभिन्न पिण्डों का रूप ग्रहण कर लिया। हमारी पृथ्वी इन्हीं में से एक थी। इस चित्र में उन दिनों की लपटों से घिरी पृथ्वी के रोमांचकारी रूप की एक झलक है।

होगा जो उसे धरती स्वयं बनायेगी। भूगर्भ-विज्ञान के खोजियों ने तो यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पृथ्वी चाहे जैसे उत्पन्न हुई हो, एक समय उसकी दशा उत्तप्त लोहे के समान पिघले हुए पदार्थ की-सी अवश्य रही होगी। पृथ्वी जैसी आज हमें देख पड़ती है, आरम्भ में वह ऐसी न थी। उस समय न इस पर जीव-जन्तु थे न मनुष्य। वृक्ष आदि का होना भी उस समय असम्भव था। पर्वत, समुद्र, मैदान, घाटियाँ आदि का भी पता न था। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जन्म के समय पृथ्वी पिघले हुए पदार्थों का पिण्ड था, जिसको धातु, पत्थर आदि पदार्थों की घनी वाष्प चारों ओर से घेरे हुए थी। इसलिए यह बादल के महापिण्ड के रूप में अनन्त देश में भयानक वेग से नाचते हुए सूर्य की परिक्रमा करता देख पड़ता होगा। सूर्य के चारों ओर वेग से घूमने के कारण इस पिण्ड की उष्णता ब्रह्माण्ड में फैलती जाती होगी और अत्यन्त उत्तप्त यह धधकता बादल धीरे-धीरे घनीभूत होकर सिमिटता जाता होगा।

कहते हैं कि ज्यों-ज्यों इस पिण्ड का पदार्थ घनीभूत होने लगा, इसका आकार गोले के आकार-सा होता गया। जैसे-जैसे इस उत्तप्त महापिण्ड की आँच अनन्त देश में बिखरती जाती थी, यह ठण्ढा होता जाता था। पत्थर, धातुएँ आदि, जो गैस के रूप में इस पिण्ड को आच्छादित किये थे, अब द्रव रूप में परिणत होकर इस पर बरसते थे। यह द्रव रबड़ी के समान, आधी पिघली धातुओं का मिश्रण था।

**एक पिघला हुआ आकाशीय पिण्ड**

पृथ्वी की आरंभिक दशा से मिलती-जुलती अवस्था का उदाहरण पृथ्वी से कई गुना बड़े बृहस्पति ग्रह के रूप में हमें मिलता है, जो अब भी पिघली हुई दशा में है। [फ़ोटो 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से प्राप्त]

### चन्द्रमा का जन्म

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गणितज्ञों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस प्रकार से घूमनेवाला पिण्ड धीरे-धीरे नासपाती की-सी शक्ल का हो जायगा। इस नासपाती का नुकीला भाग नाचने की तेज़ी में शेष भाग का साथ न दे सकने के कारण टूटकर अलग हो जायगा। जिस प्रकार नासपाती के नुकीले भाग के रूप में पृथ्वी सूर्य से अलग हो गई, उसी प्रकार पृथ्वी भी घूमते-घूमते जब नासपाती की-सी शक्ल की हो गई, तो इसका नुकीला भाग भी इससे टूटकर अलग हो गया। यह नुकीला भाग चन्द्रमा के रूप में अब भी पृथ्वी से सम्बन्धित है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि चन्द्रमा को पृथ्वी से अलग हुए लगभग एक अरब वर्ष हो गये। पृथ्वी के इतिहास में यह घटना बड़े महत्त्व की हुई। चन्द्रमा पृथ्वी का ही अंश होने के कारण पृथ्वी के आकर्षण से बँधा हुआ है और स्वयं भी पृथ्वी को अपनी ओर आकर्षित किये रहता है। ज्वार भाटा इसी का फल है।

जिस समय चन्द्रमा पृथ्वी से अलग हुआ, उस समय पृथ्वी भयानक वेग से घूम रही थी। सूर्य की परिक्रमा भी पृथ्वी बड़े वेग से लगाती थी। उन दिनों पृथ्वी पर बड़ी-छोटी रातें और दिन होते होंगे। चन्द्रमा भी पृथ्वी के साथ-साथ ब्रह्माण्ड में घूमता फिरता था। चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग हो जाने से पृथ्वीपिण्ड में लगभग

२७ मील गहरा गड्ढा हो गया। कहते हैं कि कालान्तर में इस में जल भरने लगा और यह गड्ढा गहरे सागर के रूप में परिणत हो गया। चन्द्रमा के आकर्षण से पृथ्वी पर भयानक ज्वार आते थे। पृथ्वीपिण्ड का पदार्थ उस समय तक भी घनीभूत नहीं हो पाया था। वह अर्द्ध-द्रव धातुओं और पत्थरों का एक भीषण कड़ाहा-सा था। इस कड़ाहे में भयानक वेग से उबाल आते थे और इस उत्तप्त रबड़ी-जैसे पदार्थ को मीलों तक ऊपर उछाल देते थे। चन्द्रमा के कारण जब पृथ्वी पर ज्वार आते थे, तो यह उत्तप्त पदार्थ भीषण लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई की लहरों में

विचलित हो जाता था। यही दशा चन्द्रमा की भी रही होगी। परन्तु चन्द्रमा की यह दशा शीघ्र ही समाप्त हो गई। क्योंकि उसका पिण्ड छोटा था, इसलिए वह शीघ्र ही ठण्ढा हो गया।

चन्द्रमा के अलग हो जाने से पृथ्वी के नाचने के वेग में सुस्ती आ गई। पृथ्वीपिण्ड के पदार्थ में उस समय भीषण ज्वार आते थे, इसका भी पृथ्वी की नाचने की गति पर प्रभाव पड़ा और उसका वेग धीरे-धीरे कम होने लगा। पृथ्वी का पिण्ड ठण्ढा होने से पिघले हुए पदार्थ गाढ़े होकर जमने लगे। जिस प्रकार कढ़ाई में धीमी आँच में औटनेवाले दूध पर धीरे-धीरे मलाई पड़ने लगती है और वह धीरे-धीरे गाढ़ी और मोटी होती जाती है, उसी प्रकार पृथ्वीपिण्ड के खौलते पदार्थ के ठण्ढे होने और गाढ़ा होने से उस पर मलाई-सी जमना आरम्भ हुई। यह मलाई की पपड़ी, जैसे-जैसे पृथ्वी ठण्ढी होती जाती थी, अधिक मोटी होती जाती थी। परन्तु आँच की भयानकता के कारण यह पपड़ी जमकर कड़ी नहीं हो पाई।

पृथ्वी की आरम्भिक दशा ठीक उसी प्रकार थी जिस प्रकार इस्पात गलाने की भट्टी में इस्पात की होती है। इस्पात जब पिघलकर पानी-सा हो जाता है तो उसमें भीषण उबाल आते हैं और धातु बड़ी उछाल लेने लगती है। धीरे-धीरे यह उबाल आने बन्द होते हैं और मैला ऊपर आने लगता है। मैला हलका होने के कारण ऊपर आकर तैरता रहता है। भट्टी की आँच इतनी भीषण होती है कि यह मैला भी पिघली हुई दशा में रहता है, परन्तु इस्पात की अपेक्षा इसमें बहने की शक्ति कम होती है। यदि भट्टी को धीरे-धीरे ठण्ढा किया जाय तो मैला जमकर मलाई के रूप में पिघले हुए इस्पात को ढक लेता है। मैले की पपड़ी, जैसे-जैसे भट्टी ठण्ढी होती जाती है, अधिक छोटी और घनी होती जाती है। परन्तु भीतर की धातु की गर्मी और दबाव के कारण इस पपड़ी में दरारें-सी पड़ जाती हैं और उन दरारों में नीचे से इस्पात आकर भर जाता है। यदि भट्टी और अधिक ठण्ढी कर दी जाय तो पिघला हुआ इस्पात धीरे-धीरे ठण्ढा होकर जमने लगेगा। इस्पात के पूर्व ही मैला जमकर कड़ा हो जायगा और ठंढा भी हो जायगा। परन्तु मैले की कड़ी पपड़ी के भीतर
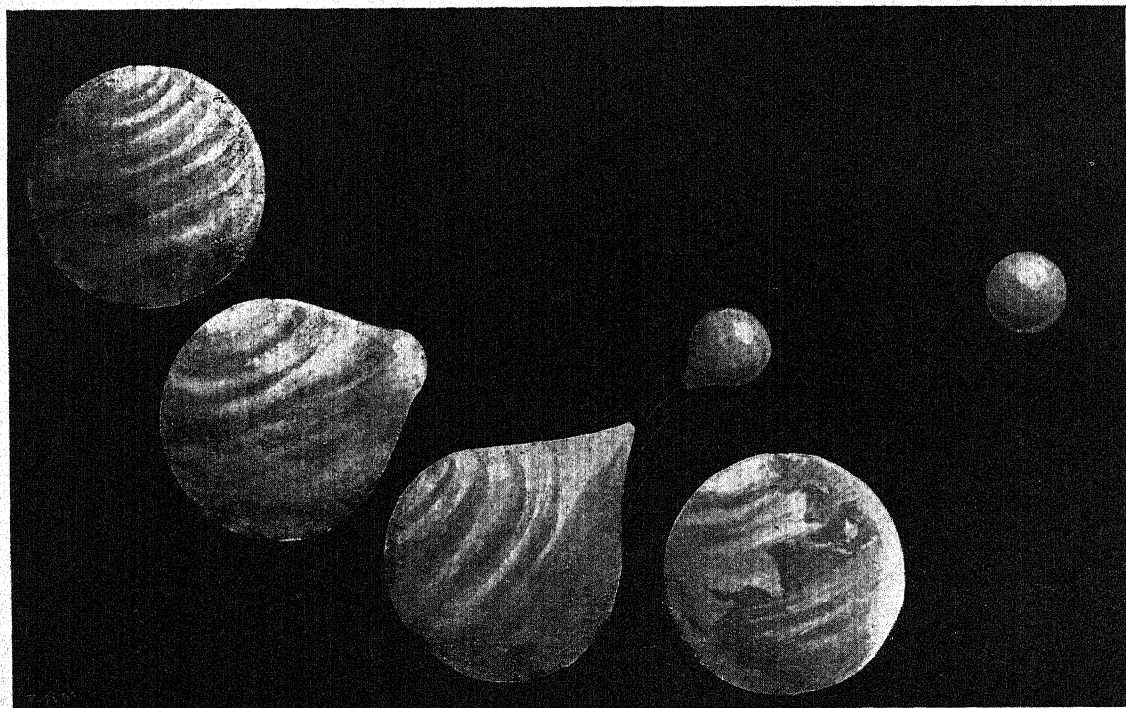
**चन्द्रमा का जन्म**

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी से चन्द्रमा का जन्म हुआ है। लगभग एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी का उत्तप्त गोला घूमते-घूमते नासपाती की शक्ल का होने लगा। उसका उभरा हुआ अंश टूटकर अलग हो गया और उसके आसपास चक्कर लगाने लगा। यही हमारा चन्द्रमा है।

इस्पात पिघला हुआ होने के कारण यदि कहीं पपड़ी टूट जाय तो पिघला हुआ इस्पात ऊपर आ जाता है। इस भट्ठी के इस्पात को ठण्ढा होने और जमने में कई दिन लगेंगे। धीरे-धीरे मैला तो इतना ठण्ढा हो जायगा कि आप उस पर आसानी से हाथ रख सकते हैं और चढ़कर घूम सकते हैं परन्तु इसको खोदने पर भीतर गर्मी रहेगी और अधिक खोदने पर बहुत सम्भव है कि किसी स्थान पर यदि इस्पात अभी ठण्ढा न हो पाया हो, तो वह अब भी धधकता-सा दीख पड़ेगा।

वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी भी इसी प्रकार धीरे-धीरे ठण्ढी होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हो गई है। आरम्भ में यह भी पिघली हुई धातुओं और पत्थरों का एक भीषण कड़ाहा-सा था। इस धातु-पिण्ड का मैला ऊपर आकर धीरे-धीरे जमकर कठोर हो गया। यही पृथ्वी के चिप्पड़ के रूप में हमें दिखाई देता है। धातुएँ आदि अधिक समय तक पिघली दशा में रहीं और इसलिए उनके ठण्ढे होने में देर लगी। पृथ्वी के गर्भ में सम्भवतः अब भी ऐसी दशा हो कि यह पिघला हुआ पदार्थ अभी पूर्णतया ठण्ढा न हो पाया हो और धीरे-धीरे ठण्ढा होकर जमकर कठोर बन रहा हो। वैज्ञानिकों ने खोज से यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी के चिप्पड़ का घनत्व पृथ्वी के गर्भ के पदार्थ की अपेक्षा कम है। अर्थात् पृथ्वी का चिप्पड़ गर्भ के पदार्थ से हलका है। इस विषय का पूर्ण विवेचन हम आगे के किसी अध्याय में करेंगे। यहाँ यह कह देना पर्याप्त है कि पृथ्वी के गर्भ का घनत्व बहुत कुछ लोहा, इस्पात, निकिल, प्लैटिनम आदि धातुओं के समान है और पृथ्वी के चिप्पड़ का घनत्व लगभग उतना ही है जितना धातुओं के मैले का अधिकांश होता है। एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि पृथ्वी के चिप्पड़ के पदार्थ में जो तत्त्व पाये जाते हैं वे अधिकांश में वही हैं जो धातुओं के गलाने से जो मैला बनता है उसमें पाये जाते हैं। ये बातें इस सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं कि आरम्भ में पृथ्वी की दशा किसी बड़ी भट्ठी में पिघलती हुई धातु के समान ही थी।

**पृथ्वी का चिप्पड़ किस तरह बना होगा**

इसका सजीव उदाहरण हमें आज भी प्रकृति की रसायनशाला में ज्वालामुखियों द्वारा उगले हुए द्रव पदार्थ की सिकुड़न और दरारों में मिलता है। इस चित्र में एक बड़े ज्वालामुखी की उगली हुई लावा को जमती हुई पपड़ी का अंश दिखाया गया है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि जब धातु के मैले की पपड़ी जम जाती है तो वह चिकनी सपाट नहीं होती। भीतर धातु के बराबर खौलने से पपड़ी में जगह-जगह फफोले और दरारें पड़ जाती हैं। ये फफोले और दरारें पपड़ी के ठंढी होने और कड़ी होने पर वैसे ही बनी रहती हैं। दरारों के भीतर धातु आ-कर जम जाती है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी पर जो निचाई-ऊँचाई, पर्वत-घाटियाँ, तथा सागर और मैदान दिखाई देते हैं ये सब मैले की पपड़ी के फफोले और दरारों के समान ही बने। पृथ्वी का चिप्पड़ बिल्कुल मैले के समान ही धीरे-धीरे जमकर कड़ा हुआ है, इसलिए इसमें भी उसी के समान आरम्भिक फफोले और दरारें बन गईं। कालान्तर में ये फफोले बड़े-बड़े पर्वतों के रूप में परिवर्तित हो गये और दरारों में जल भर गया, जिससे नदियों, झीलों और सागरों तथा महासागरों की उत्पत्ति हुई। परन्तु इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते

पृथ्वी पर जो अजीब विपत्तियाँ आईं, वे उल्लेखनीय हैं।

जब पृथ्वी का पिण्ड इतना ठण्ढा हो गया कि उसके ऊपरी तल पर १२०० दर्जे की आँच रह गई, तो ऊपर की पपड़ी जमकर कठोर होना आरम्भ हुई। जब आँच घटते-घटते ३७० दर्जे तक पहुँची, तो भयानक दबाव के कारण उस समय के वायुमण्डल के जल की वाष्प कुछ-कुछ घनी होने लगी और पानी बनने लगा। ये दिन बड़े ही भीषण थे। सारी धरती गली हुई धातुओं आदि का एक महान् भीषण कड़ाहा था, जिसकी धधकती हुई आँच आकाश में बहुत ऊँचे तक पहुँचती थी। बिजली कौंध रही थी। बादल कड़क रहे थे। धरती काँप रही थी। ज्वालामुखी उबले पड़ते थे। ज्यों-ज्यों आँच घटती जाती थी, त्यों-त्यों धातुओं के बादल द्रव बनकर बरसने लगते थे। धरती का पदार्थ आधे गले हुए पत्थरों और चट्टानों का बना था और उन्हीं धधकती लपटों के ऊपर पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की भयानक अग्निवर्षा होती थी। आँच कुछ नरम होने पर धरती पर जलवर्षा शुरू हुई।

जल बरसते ही भाप बन जाता था और उड़ जाता था। धीरे-धीरे चन्द्रमा के स्थान पर जो गड्ढा हो गया था, उसमें जल भरने लगा। वह जल भयानक रीति से खौलता था। उसका तापक्रम १५० दर्जे से कम न रहा होगा। परन्तु उस समय का वायुमण्डल अत्यन्त घना था और उसके भीषण दबाव के कारण पानी आजकल के १०० दर्जे के बदले लगभग २०० दर्जे पर उबलकर भाप बनता था। जल से वह गड्ढा भरने लगा और उसमें खौलते पानी का भीषण सागर लहराने लगा। बढ़ते-बढ़ते इस सागर ने सारी धरती को ढक लिया। यह जल अत्यन्त उत्तप्तावस्था में था। इधर भीषण उछाल और लहरें खाता हुआ यह जल पृथ्वी को पीड़ित किये था, उधर मेघ धरती पर निरन्तर छाये रहते थे। लगातार धुँआधार वर्षा होती थी। लाखों वर्ष तक इसी तरह जल के उबलने और बरसते रहने से आँच धीरे-धीरे घटती गई।

धरती के ऊपर चारों ओर जल-ही-जल था। यह जल धरती के बहुत से पदार्थों को अपने में घुलाता जाता था। बहुत से नये पदार्थ भी जमा होते जाते थे। इस प्रकार धरती के पिण्ड के बहुत से भाग का पदार्थ जल में घुल जाने से वह स्थान खाली हो गया और वहाँ जल भर गया। बहुत-सी जगह जल में घुल न सकी, इसलिए वह ऊँची रह गई। उस समय अनन्त देश में धरती की आँच बड़ी तेज़ी से बिखरती जाती थी। परन्तु साथ ही सिकुड़ने के कारण धरती के तल की आँच प्रचण्ड होती जाती थी। यह क्रिया आज तक जारी है। परन्तु दोनों क्रियायें उन दिनों की उग्र अवस्था से आज परिमाणतः बहुत घटी हुई हैं।

इस प्रकार धीरे-धीरे जल के ऊपर थल दिखाई देने लगा। उस समय बादल तो धरती पर निरन्तर छाये ही रहते थे और मूसलाधार वर्षा भी होती थी, साथ ही आँधी और तूफ़ान भी बड़े वेग से चलते थे। भूकम्प और ज्वालामुखी अलग पृथ्वी को पीड़ित किये थे। धीरे-धीरे भूकम्प, ज्वालामुखी और जलवर्षा घटी और सूखी भूमि निकलने और कड़ी पड़ने लगी। धरती के निरन्तर सिकुड़ने और जल में अनेकों पदार्थों के घुल जाने से पृथ्वी नीची-ऊँची और ऊबड़-खाबड़ हो गई। दूध पर की मलाई की तरह का चिप्पड़ कुछ मोटा हो गया। उसके भीतर दहकती हुई आग, पिघली हुई चट्टानें और बिलकुल गर्भ के भीतर की अत्यन्त घनी और उत्तप्त लोहे की वायु भरी हुई रह गई। इसमें अब भी निरन्तर महाभयानक तूफ़ान उठते रहते हैं, जिनसे धरती का ऊपरी चिप्पड़ कहीं-कहीं और कभी-कभी आजकल भी काँप जाता है।

सूखी धरती धीरे-धीरे बढ़ने लगी। जो भाग जल में घुल नहीं सका, वह जमकर कड़ी चट्टानों के रूप में रह गया। इन चट्टानों पर निरन्तर वर्षा होने से जल की धारायें बड़े वेग से नीचे की ओर बहती थीं और उसी के साथ-साथ चट्टानें कट-कटकर बालू और मिट्टी के रूप में समुद्र में पहुँच जाती थीं। कालान्तर में ये मिट्टी और बालू फिर कड़ी चट्टानों के रूप में जल के बाहर पर्वत बनकर निकल आते थे। ये क्रियायें आज भी जारी हैं। आगे के अध्यायों में हम बतायेंगे कि किस प्रकार जलवायु, नदियाँ, झीलें, सागर, वायु, जल आदि पृथ्वी के चिप्पड़ को निरन्तर बनाने और बिगाड़ने की क्रिया में संलग्न हैं, जिससे जल-स्थल का उलट-पुलट निरन्तर होता रहता है।

धरातल का विकास बहुत धीरे-धीरे और अत्यन्त सुदीर्घ काल में हुआ। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी पर एशिया या जम्बूद्वीप ही सबसे प्राचीन महाद्वीप है, जिस पर जीवन की सृष्टि आरम्भ हुई। पृथ्वी की जीवनी की लम्बी कहानी को प्रकृति स्वयं चट्टानों पर अंकित करती जाती है। इसीसे हमें उसका कुछ पता लगता है। इन चट्टानों पर अंकित कथा को पढ़ने के लिए इन चट्टानों की बनावट आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। यही भूगर्भ-शास्त्र की सबसे पहली सीढ़ी है। आगे के अध्यायों में हम इसी ओर क़दम बढ़ायेंगे।
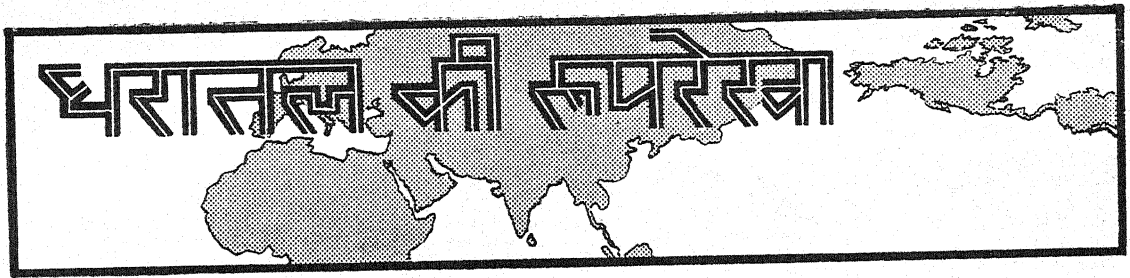
# पृथ्वी गोल है

**पिछले अध्याय में धरातल की वर्त्तमान रूपरेखा का सामान्य रूप से दिग्दर्शन करते हुए हमने कहा था कि पृथ्वी का आकार गोल है, वह चिपटी नहीं है जैसा कि हज़ारों वर्षों से लोग मानते चले आ रहे हैं। धरातल के स्वरूप का अध्ययन करने के लिए निश्चित रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि पृथ्वी का आकार कैसा है और इसके क्या प्रमाण हैं। इस छोटे-से प्रकरण में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है।**

पृथ्वी का धरातल चिपटा नहीं है, यह कई प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए अगर हम समुद्र के किनारे पर खड़े होकर सामने की ओर जाते हुए जहाज़ को देखें तो पता चलेगा कि पहले-पहल जहाज़ का पेंदा धीरे-धीरे हमारी आँखों से ओझल होने लगता है, पेंदे के बाद जहाज़ के बिचले हिस्से की बारी आती है और अन्त में ऊपरी सिरा या मस्तूल भी क्षितिज में मिलकर अदृश्य हो जाता है। अगर पृथ्वी का धरातल गोल न होकर चिपटा होता तो पहले-पहल जहाज़ का पेंदा हमारी नज़र से ग़ायब न होना चाहिए था। वैसी हालत में, सबसे पतला हिस्सा होने के कारण पहले जहाज़ का मस्तूल ही आँखों से ओझल होता और पेंदे की बारी अन्त में आती। जहाज़ का पेंदा अदृश्य हो जाने के बाद किसी चट्टान या टीले के सिरे पर चढ़कर देखने से वह फिर दिखायी पड़ता है। ये बातें तभी हमारी समझ में ठीक-ठीक आती हैं, जब कि हम यह मान लेते हैं कि जहाज़ को जिस धरातल से होकर गुज़रना पड़ता है, उसका स्वरूप सपाट नहीं वर्तुलाकार है। ( देखिए पृष्ठ १६० के चित्र में नं० १ )

पृथ्वी के धरातल के वर्त्तुलाकार होने का दूसरा प्रमाण यह है कि धरातल से हम जितना ही अधिक ऊँचा उठते हैं, हमारा क्षितिज भी उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। अगर हम समुद्र के किनारे खड़े होकर अपनी आँखों को पृथ्वी की सतह से ६ फ़ीट की ऊँचाई पर रखते हुए देखें तो हम सामने तीन मील तक देख सकते हैं, परन्तु अगर हम किसी ऐसे टीले पर चढ़ जाएँ जो पृथ्वी के धरातल से ६६ फ़ीट की ऊँचाई पर हो तो हमें १० मील तक दिखायी दे सकता है। अगर हम और भी ऊँचे चढ़कर समुद्र के किनारे के धरातल से १८६ फ़ीट ऊँचे किसी प्रकाशस्तम्भ पर खड़े होकर सामने नज़र दौड़ायें तो क्षितिज की दूरी १५ मील की मालूम होगी। अधिक ऊँचाई पर चढ़कर देखने से क्षितिज का बढ़ते जाना वर्त्तुलाकार धरातल में ही सम्भव है, समतल में नहीं।

पृथ्वी के धरातल के वर्त्तुलाकार होने का तीसरा प्रमाण हमें जल के सतह पर किये गये निम्नलिखित प्रयोग में मिलता है। तीन खम्भों का आपस में एक-एक मील का अंतर देकर जल में एक पंक्ति में इस प्रकार रखिए कि जल के ऊपर निकले हुए उनके सिरे लम्बाई में बराबर हों। अब अगर एक दूरबीन के सहारे इन्हें इस तरह देखा जाय कि पहले और तीसरे खम्भे के सिरे ठीक एक सीध में हों तो हमें मालूम होगा कि बीच का खम्भा इन दोनों से बड़ा है। इसका कारण यही है कि पानी की जिस पट्टी पर ये खम्भे खड़े किये गये हैं, उसका धरातल एकदम समतल नहीं बल्कि वर्त्तुलाकार है। दूसरी कोई बात शंका का समाधान नहीं कर सकती। (देखो उक्त चित्र में नं० ५)

पृथ्वी के धरातल के गोलेपन का एक सबूत यह भी है कि जब कभी भी चन्द्रग्रहण होता है तो चन्द्रमा के ऊपर पृथ्वी का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह हमेशा गोलाकार होता है। अगर पृथ्वी का आकार गोला न होकर किसी दूसरे ढंग का होता तो चन्द्रमा पर पड़नेवाली उसकी छाया भी गोलाकार न दिखलायी पड़ती। (देखो उक्त चित्र में नं० ३)

पृथ्वी के गोलाकार होने के सम्बन्ध में यह दलील अक्सर दी जाती है कि कोई आदमी पृथ्वी के किसी भी बिन्दु से रवाना हो और सीधा चलता जाय तो वह पृथ्वी की भी परिक्रमा करता हुआ फिर उसी स्थान-बिन्दु पर पहुँच जायगा। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पृथ्वी का धरातल नारंगी की तरह गोल अर्थात् वृत्ताकार है; इससे सिर्फ़ इतना ही साबित होता है कि यह चिपटी न होकर वर्त्तुलाकार है। अगर पृथ्वी को लौकी की शक्ल का मान लें तो भी यह सम्भव है कि एक निश्चित बिन्दु से यात्रा आरम्भ करके सीधे चलता हुआ व्यक्ति फिर निश्चित बिन्दु पर ही लौट आए।

पृथ्वी के धरातल के गोल होने का सबसे सरल और सबसे बढ़िया सबूत तो यह है कि क्षितिज के धरातल में हमेशा उतने ही अंश के कोण का परिवर्त्तन होता है जितना कि हमें पृथ्वी के धरातल पर एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा में लगता है! चाहे हम किसी भी दिशा को या किसी भी स्थान से चलना आरम्भ करें, जितनी दूर हम पृथ्वी की सतह पर चलेंगे क्षितिज में कोण का परिवर्त्तन ठीक उसी के हिसाब से होगा।

चूँकि तारे हमारी पृथ्वी से बहुत ही अधिक दूरी पर हैं, इसलिए यदि पृथ्वी गोल न होकर चौरस होती तो हमारे यात्रा करते समय तारे हमेशा एक ही दिशा में बने रहते। पर चाहे जिस किसी दिशा में भी हम यात्रा क्यों न करें, हम देखेंगे कि नये-नये तारे लगातार हमारी आँखों के सामने आयेंगे। यह पृथ्वी की गोलाई का प्रमाण है। (चित्र में नं० ४)। अंत में रिक्को नामक विद्वान् ने समुद्र पर गोल सूर्य के अण्डाकार प्रतिबिम्ब को देखकर गणित द्वारा अंतिम रूप से प्रमाणित कर दिया है कि पृथ्वी का धरातल गोल है; क्योंकि ऐसा होना वर्त्तुलाकार धरातल पर ही संभव है। (देखिए चित्र में नं० २)।
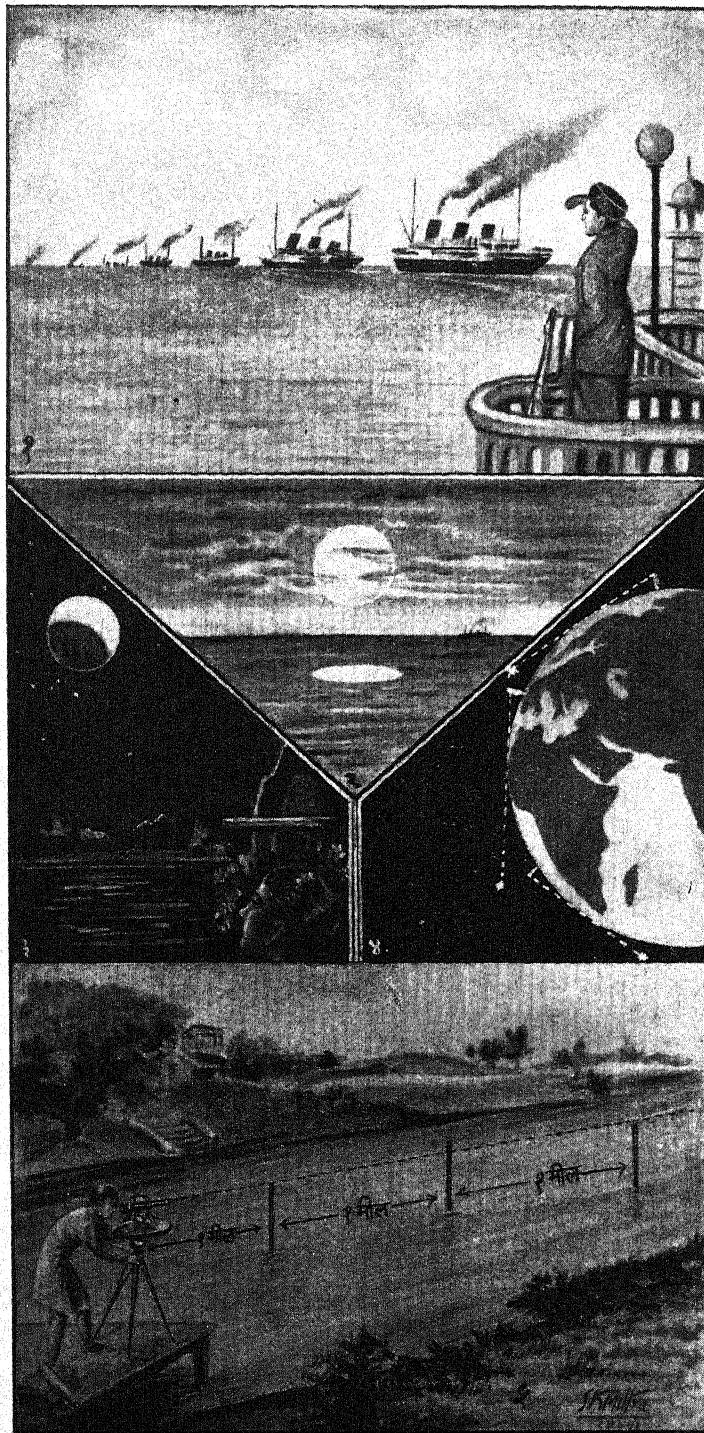
पृथ्वी के गोल होने के कुछ प्रमाण (देखिए पृष्ठ १५६-१६०)
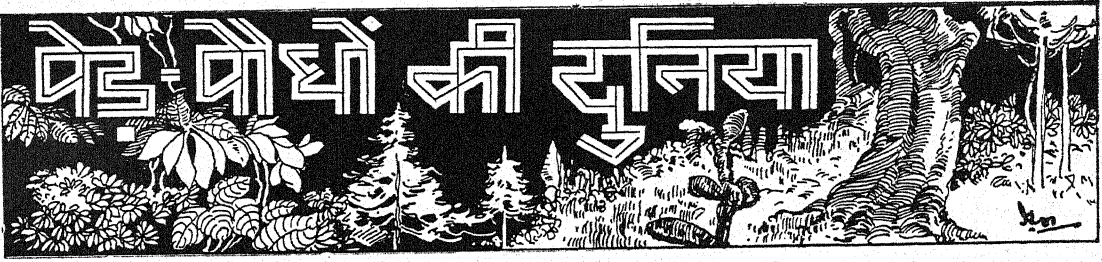
# वनस्पति-संसार और उसके मुख्य भाग

## पेड़-पौधों से हमारा सम्बन्ध

**पिछले प्रकरण में वर्णन किया जा चुका है कि दूसरे जीवों की भाँति पेड़ भी सजीव हैं। इनमें भी खाने-पीने, बढ़ने और सन्तानोत्पादन की सामर्थ्य है। इस प्रकरण में आप देखेंगे कि पशुओं की भाँति इनमें भी अनेक जाति-उपजातियाँ हैं—इनमें भी कुटुम्ब और परिवार हैं।**

### वनस्पति-जगत् का विस्तार

पेड़-पौधों की दुनिया का प्रसार अत्यन्त विस्तीर्ण है। पृथ्वी पर करोड़ों पेड़ हैं। अब तक हमें लगभग तीन लाख जाति के पेड़ों का पता लग चुका है और दिन पर दिन नये-नये पौधों का पता लगता है। आकृति की समानता और विभिन्नता तथा जीवन-प्रणाली के अनुसार इन्हें अलग-अलग भागों में पृथक् किया जाता है।

सबसे पहले लोगों का ध्यान साधारण पौधों की ओर ही आकर्षित हुआ। उन्होंने देखा कि कितने ही पेड़ हैं जो अत्यन्त दृढ़, बहुत ऊँचे और सैकड़ों क्या हज़ारों वर्ष जीवित रहनेवाले हैं। इसके विपरीत कितने ही पौधे अत्यन्त कोमल, नन्हें और अल्पायु होते हैं। इसी अन्तर के आधार पर उन्होंने पौधों के बूटे (Herbs), झाड़ (Shrubs) और वृक्ष (Trees) ये तीन भेद माने।

बूटियों की शाखायें कठीली नहीं होतीं और इनका आकार भी बहुधा कुछ इंचों से अधिक नहीं होता। इनमें से अधिक तो एक या दो मौसम के ही मेहमान होते हैं। कोई-कोई तो, जिन्हें अल्पायु बूटे (Ephemeral Herbs) कहते हैं, चंद सप्ताहों में ही अपनी जीवन-लीला का नाटक समाप्त कर देते हैं। ऐसे पौधे मौसम में दो-तीन बार उगने और फूल-फल देने के बाद समूल नष्ट हो जाते हैं। कुछ वर्षीय (annual) बूटे हैं। ये मौसम में एक बार उगते हैं और कई महीने तक जीवित रहने के बाद फिर बीज और फल को छोड़ विलीन हो जाते हैं। हमारी खेतीबारी के अनेक पौधे - गेहूँ, चना, तरोई, करेला, तथा बहारी पौधे, जैसे फ़्लाक्स (*Phlox*), पेटूनिया (*Petunio*), गुलमेंहदी ( देखो चित्र १ ) इत्यादि इसी भाँति के हैं। इसी तरह कुछ द्विवर्षीय (biennial) पौधे होते हैं और कुछ ऐसे जो किसी-न-किसी प्रकार कई वर्ष तक जीवित रहते हैं। ये बहुवर्षीय बूटे हैं। बहुवर्षीय बूटों की वायुवर्त्ती शाखें कोमल होती हैं, परन्तु ज़मीन के अन्दर के भाग, चाहे जड़ हों या तने, कठीले होते हैं। अदरक, हल्दी, कैना, जिमीकन्द

**चित्र १—गुलमेंहदी**
वर्षा ऋतु का एक फुलवाड़ियों का पौधा।
[ फोटो—श्री राजेन्द्र वर्मा शिठोले ]

चित्र २—जिमीकन्द या सूरन
इससे प्रायः सभी परिचित होंगे। यह कंद के लिए लगाया जाता है। [ फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले ]

चित्र ३—सावनी
गुलाबी और सफ़ेद फूलोंवाले इस झाड़ को प्रायः बगीचों में किनारे-किनारे लगाते हैं। [ फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले ]

या सूरन ( देखो चित्र २ ) आदि की इन्हीं में गणना है।

झाड़ और वृक्ष दोनों ही के तने और शाखें कठीली होती हैं और इसलिए ये सर्दी-गर्मी सहन कर सकते हैं। ऐसे पौधे वर्षों जीवित रहते हैं। झाड़ वृक्षों से छोटे परन्तु बूटे से बड़े होते हैं। चाँदनी, सावनी ( देखो चित्र ३ ), गुलाब, अनार, अंगूर, मेंहदी जैसों की गिनती झाड़ में है।

वृक्षों के सम्बन्ध में कदाचित् अधिक बताने की आवश्यकता न होगी। आम, जामुन, नीम, सागौन, देवदार, बरगद, सेमर, गुलमोहर (Gold Mohar) (देखो चित्र ४) जैसे अनेक पेड़ों से आप परिचित हैं। इनमें से कई तो सैकड़ों फ़ीट ऊँचे और हज़ारों साल जीनेवाले हैं। कैलीफ़ोर्निया के सिकोया ( *Sequoia gigantia* ) के सम्बन्ध में, जो चीड़ और देवदार के भाई-बन्धुओं में है, कहा जाता है कि इस जाति के कुछ पेड़ चार हज़ार वर्ष से भी अधिक आयुवाले हैं। अमेरिका में इसी समूह का टैक्ज़ोडियम ( *Taxodium mucronatum* ) नामक एक पेड़ है, जिसकी आयु का अनुमान पाँच हज़ार वर्ष से भी अधिक किया जाता है। इस पेड़ के तने का घेरा ५० फ़ीट से भी अधिक है। हमारे देश के पेड़ों में देवदार, बरगद, सेमर और सागौन बहुत आयुवाले होते हैं।

## उद्भिज जगत् के चार मुख्य भाग

उपर्युक्त राशिकरण सबसे पुराना अवश्य है, परन्तु यह पौधों की रचना तथा समानता आदि से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। इसकी नींव पेड़ों की आयु तथा डीलडौल पर ही है, उनके यथार्थ लक्षणों पर नहीं। इसलिए जैसे-जैसे वनस्पति-विज्ञान की उन्नति हुई, इसमें लोगों को दोष दिखाई देने लगे। अब वे अधिक दिनों तक दुनिया के तमाम पेड़ों को इन तीन मनमाने खण्डों में विभक्त कर सन्तुष्ट न रह सके। उन्होंने भाँति-भाँति के पेड़ों की रचना और जीवन का अध्ययन किया और उन्हें नीचे दिये चार मुख्य भागों में अलग किया।

## सपुष्पक पौधे—नग्नबीज और गुप्तबीज

सबसे पहली श्रेणी में आम, गुलाब, सेब, मटर, घास, बाँस, चीड़, देवदार जैसे हज़ारों पेड़ हैं। इनमें जड़, तना, पत्ती, फूल, फल और बीज, सभी अंग स्पष्ट हैं। इन्हें सपुष्पक अथवा फूलवाले (Flowering ) पौधे कहते हैं। फूलों और बीजों का होना इनकी विशेषता है ( देखो चित्र ५ )। नग्नबीज (Gymnosperms ) और गुप्तबीज या छिपे बीज (Angiosperms) इनके दो भाग हैं।

नग्नबीज के फल प्रायः शुण्डाकार (Cone) होते हैं (देखो चित्र ६)। इनमें बीज खुले रहते हैं (देखो चित्र ७)। इस समूह के प्रायः सभी पेड़ बहुवर्षीय, सदापत्री (evergreen) तथा कठीले होते हैं। इनकी लगभग ५०० जातियाँ हैं। चीड़ ( देखो चित्र ८), देवदार,

चिलगोज़ा, सरो, सिकोया, टैक्ज़ोडियम आदि इन्हीं में हैं। इस जाति के पौधे से लोबान, तारपीन, लकड़ी आदि कई ज़रूरी चीज़ें मिलती हैं।

गुप्तबीज (Angiosperms) में रजोबिन्दु, जो पकने पर बीज हो जाते हैं, गर्भाशय में बन्द होते हैं (देखो चित्र ६)। इनमें अनेक प्रकार के पेड़ हैं। अब तक लगभग दो लाख जाति के गुप्तबीज पौधों का पता लग चुका है। बनावट और रहन-सहन के अनुसार इनमें कई भेद हैं। निःसन्देह इस जाति के पौधों से ही हमारा अधिक प्रयोजन रहता है। वन, उपवन, खेत, ऊसर, तड़ाग, मैदान, पर्वत-घाटी आदि सभी स्थानों में यही पेड़ दिखाई देते हैं। सच बात तो यह है कि वर्त्तमान काल में उपयोगिता तथा प्रधानता के विचार से वनस्पति संसार में सबसे गौरवपूर्ण यही पेड़ हैं। इस समूह के पौधों के डील-डौल में बड़ा अन्तर है। कुछ वुल्फ़िया *(Wolffia)* (पानी में रहनेवाली एक प्रकार की बूटी, जिससे हम "काई" कहते हैं, और जो वर्षा ऋतु में पोखरों में होती है) जैसे अलपीन के मत्थे से भी छोटे होते हैं (देखो चित्र १०); और कुछ बरगद, सेमर, सागौन, यूकैलिप्टस *(Eucalyptus)* जैसे सैकड़ों फ़ीट ऊँचे होते हैं। आगे चलकर हम फूलवाले पौधों के विषय की अनेक बातों पर विचार करेंगे।
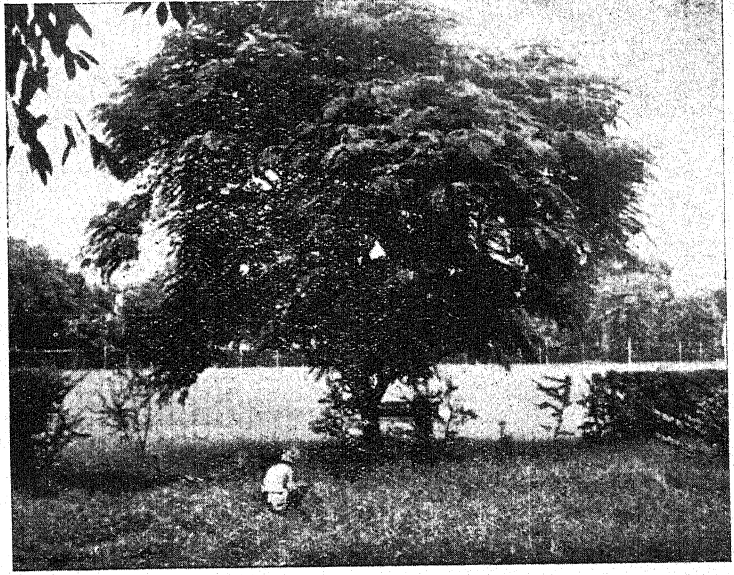
चित्र ४—गुलमोहर वृक्ष

इस वृक्ष में लाल रंग के सुहावने फूल आते हैं। [फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले।]

**टेरीडोफ़ायटा, पर्णांग और उनके भाई-बन्धु**

वनस्पति जगत् की दूसरी श्रेणी में टेरीडोफ़ायटा (Pteridophyta) हैं, जिनको आपने कदाचित् फुलवाड़ियों और पहाड़ पर देखा होगा। इनमें पर्णांग
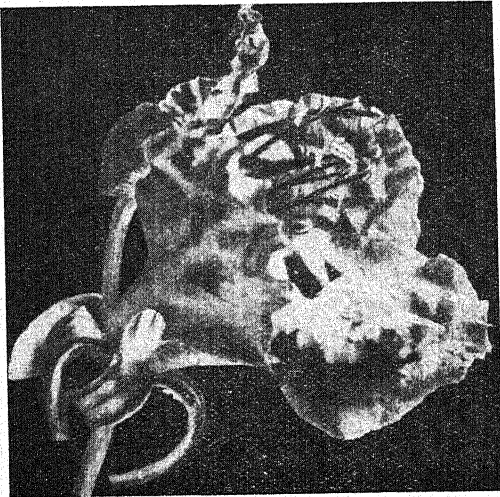
चित्र ५—गुलमोहर का फूल

[फ़ोटो—श्री विद्यासागर शर्मा]
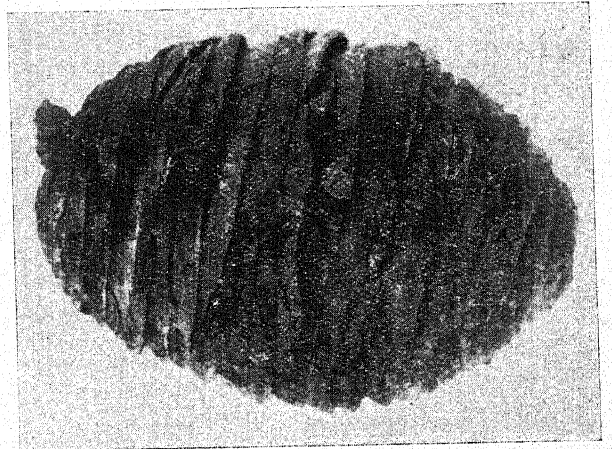
चित्र ६—देवदार का शुण्डाकार फल (Cone)

[फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]
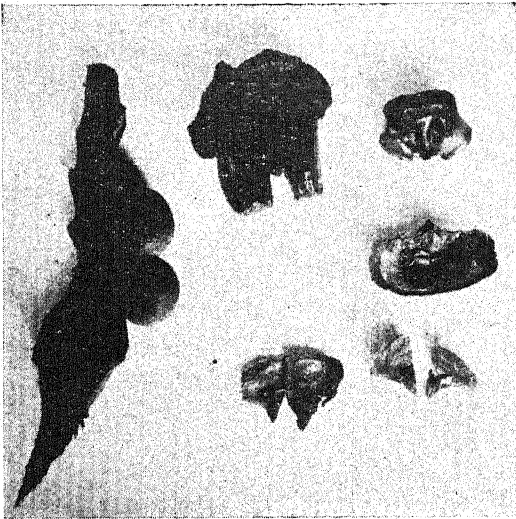
चित्र ७—कुछ नग्नबीजी पौधों के बीज
इनमें बीज गर्भाशय के अंदर बन्द नहीं हैं। ऊपर की पंक्ति में बाईं ओर से पहला साइकस (Cycas), दूसरा यनसिफैलार्टस (*Encephalartus*) और तीसरा जेमिया (*Zamia*) है। नीचे के तीन चित्रों में पहले देवदार के कोन स्केल के साथ बीज दिखाये गये हैं, दूसरे में आधा कोन-स्केल तोड़ दिया गया है और तीसरे में बीज अलग दिखाये गये हैं। [फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]

चित्र ८ चीड़ का पेड़

इस चित्र में वृक्ष का सिरा ही दिखाया है।

(Fern) (देखो चित्र ११) और उनके भाई-बन्धु इक्वीज़ीटम (*Equisetum*), सिलैजीनेला (*Selaginella*) (दे० चित्र १२), लायकोपाड्स (*Lycopods*) आदि हैं। पर्णाङ्ग निःसन्देह आपके बगीचों में होंगे। इनकी पत्तियाँ बड़ी सुन्दर और मनोहर होती हैं। इसी कारण लोग इन्हें वाटिकाओं में लगाते हैं। ये छाया और तरी के पौधे हैं। हिमालय व दक्षिण के पश्चिमी घाट और नीलगिरि पर्वत के जंगलों में ये अधिकता से होते हैं। दार्जिलिंग, शीलांग, नैनीताल और उटकमंड जैसे स्थानों पर तो आपने सैकड़ों जाति के पर्णाङ्ग देखे होंगे। मैदान की लू और गर्मी ये नहीं सह सकते, इसलिए इन्हें यहाँ जीवित रखने के लिए इनकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। फलवाले पेड़ों की तरह इनमें भी जड़, तना और पत्ते स्पष्ट होते हैं, परन्तु फूल, फल या बीज नहीं होते। सम्भव है, आपको इस पर कुछ आश्चर्य हो कि जब इनमें बीज नहीं होते तो बीजों का काम कैसे होता है? इन पौधों की उत्पत्ति कैसे होती है? इस विषय में इन पौधों की जीवन-लीला अनोखी है। इनमें बीजों का काम रेणु (Spore) से होता है। अगर आप किसी भी साधारण पर्णाङ्ग की पत्तियाँ ध्यान से देखें तो एक न एक समय इनकी पीठ पर आपको नन्हें-नन्हें भूरे या हल्के हरे रंग के बहुत दाने मिलेंगे (दे० चित्र १३)। ख़ुर्दबीन से देखने पर आपको यहाँ पर एक ढक्कन के नीचे छोटी-छोटी अनेक डिबियाँ (Sporangia) मिलेंगी, जिनके अन्दर आपको एक प्रकार की धूल-सी वस्तु मिलेगी। यही धूल स्पोर्स हैं (दे० चित्र १४)। इन पेड़ों में यही बीज का काम देते हैं। अन्य फर्न और उनके भाई-बन्धुओं में भी स्पोरैंजिया और स्पोर होते हैं। इस श्रेणी के पौधे वर्तमान काल में डीलडौल में बहुत छोटे होते हैं और कुछ वृक्ष-पर्णाङ्गों (Tree Ferns) को छोड़ तीन या चार फ़ीट से अधिक ऊँचे नहीं होते; परन्तु आज से करोड़ों वर्ष पूर्व डेवोनियन काल (Devonian Age) में, जब इस जाति के पेड़ों की संख्या अधिक थी, इनमें से कोई-कोई सैकड़ों फ़ीट ऊँचे होते थे। उस समय इन्हीं का राज्य था। कार्बनकाल (Carboniferous Age) में भी बहुत से पर्णाङ्ग थे और साथ-साथ पर्णाङ्ग जैसे और भी अनेक पेड़ थे जिनमें बीज होते थे। हमारी खानों का कोयला इन्हीं की बदौलत है। परन्तु अब ये पेड़ कहाँ हैं? विश्व परिवर्त्तनशील है। प्रकृति में दिन प्रतिदिन परिवर्त्तन होते रहते हैं। करोड़ों वर्ष की बात है, पृथ्वी पर महान् परिवर्त्तन हुए। ये पेड़ अपनी रचना को परिस्थिति के अनुकूल न बना सके और इसीलिए जीवनसंग्राम में पराजित हो असफल रहे। अब इनके केवल जीवावशेष (Fossils) रानीगंज तथा अन्य स्थानों में रह गये हैं। लायकोपोडियम (*Lycopodium*)
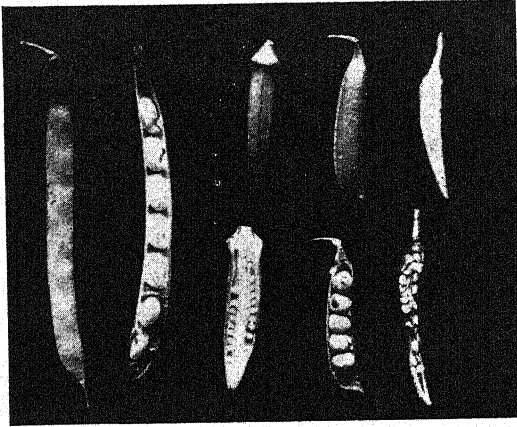
चित्र ६—गुप्तबीज पौधों के कुछ फल
साथ-साथ फल को बीच से फाड़कर बीज दिखला दिए गये हैं। चित्र ७ से तुलना कीजिए। इस चित्र में क्रमशः बाईं ओर से दाहिनी ओर को सेम, भिण्डी, मटर और लाल मिर्च तथा उनके बीज दिखाये गये हैं। [ फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा। ]

चित्र १०
वुल्फ़िया
यह पानी का एक उद्भिज् है। यह चित्र ख़ुर्दबीन की सहायता से लिया गया है। पौधे का आकार चित्र के अन्दर के सफ़ेद चिह्नों से प्रायः कुछ ही बड़ा होगा। [ फ़ोटो—श्री वी० सा० शर्मा ]

और इक्वीज़ीटम ( *Equisetum* ) भी एक प्रकार से पतन की ओर ही जा रहे हैं। असम्भव नहीं कि समय के चक्र में ये भी विलीन हो जायँ। इन पौधों की कहानी बड़ी रोचक है और आगे चलकर इनके संबंध में कुछ साधारण बातों का वर्णन किया जायगा।

### नलिकायुक्त और नलिकाहीन पौधे

आप देखते हैं कि पूर्वकथित दोनों ही श्रेणी के पौधों में जड़, तना और पत्ती स्पष्ट होती हैं। इनके हर एक हिस्से में नसें (Veins) अथवा नलिकायें हैं, जिनमें होकर खाद्य रस का संचार होता है। इन नसों को हम पत्तियों में सरलता से देख सकते हैं (दे० चित्र १५)। यही नली इनको दृढ़ बनाती हैं और इनमें पशुओं की नसों और अस्थिपञ्जर (Skeleton) का काम देती हैं। इन दोनों श्रेणी के पौधों को नलिकायुक्त (Vascular) पौधे कहते हैं। इनके अलावा आपने कुछ ऐसे पौधे भी देखे होंगे, जिनमें नसें नहीं होतीं। इन्हें हम नलिकाहीन (Non-vascular) या बिना नसों के पौधे कह सकते हैं। वनस्पति जगत् में इनका वही स्थान है जो जन्तु जगत् में पृष्ठवंश-विहीन (Invertebrate) पशुओं का है। शेष के दो समूह ब्रायोफ़ायटा (Bryophyta) और थैलोफ़ायटा (Thallophyta) इसी तरह के हैं। इनकी बनावट बड़ी सरल होती है।

चित्र ११—नेफ्रोलीपिस, एक पर्णाङ्ग
[ फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा। ]

### ब्रायोफ़ायटा—मॉस और लिवरवर्ट

ब्रायोफ़ायटा (Bryophyta) में मॉस (Moss) ( दे० चित्र १६-१७ ) और लिवरवर्ट (Liverwort) ( दे० चित्र १८ ) दो विभेद हैं। मॉस समूह के समस्त जाति के पौधों में और कुछ लिवरवर्ट में पत्तियाँ होती हैं और जड़ों के स्थान पर महीन रोयें होते हैं, परन्तु इनमें और साधारण पेड़ों की पत्तियों में बड़ा अन्तर होता है। कुछ लिवरवर्ट की बनावट में पत्तियों आदि का अन्तर नहीं होता। इनके पौधे फ़ीते या पत्ती जैसे इंच दो इंच के या इससे भी छोटे होते हैं। ऐंजियोस्पर्म्स और टेरीडोफ़ायट्स की भाँति इस समूह के पौधे भी स्थलवासी होते हैं, परन्तु तरी और छाँह के
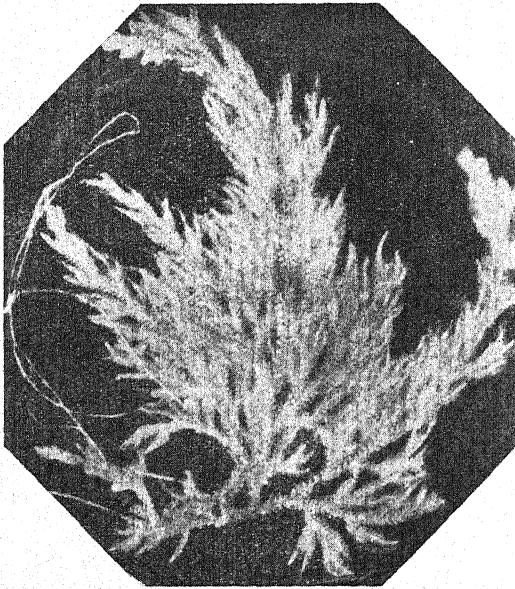
चित्र १२—सिलैजीनेला
[ फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा । ]

चित्र १३—नेफ्रोलीपिस की पत्रक

यह फुलवाड़ी के एक साधारण पर्णाङ्ग नेफ्रोलीपिस की पत्रक का पृष्ठ की ओर से लिया गया फ़ोटो है। इसमें नन्हें-नन्हें काले दाने सोराई ( स्पोरेंजिया का समूह ) हैं, जिनके अंदर ढक्कन से सुरक्षित स्पोरेंजिया होते हैं। बाईं ओर के सबसे नीचे के दाने से ढक्कन हटा दिया गया है। स्पोरेंजिया दिखाई दे रही हैं।

[ फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा । ]

प्रेमी। पर्णाङ्ग की भाँति इनके भी बीज नहीं होते और बीज का काम स्पोर से ही होता है। हमारे देश में यह बूटे अधिकतर पहाड़ों पर ही उगते हैं। वर्षा के दिनों में यहाँ पर यह सोतों और चश्मों के किनारे, पानी की धाराओं के निकट, पेड़ों की डालों व चट्टानों पर अधिकता से मिलते हैं। इनमें से कोई-कोई, विशेषकर कुछ मॉस, तो इतने घने उगते हैं कि जिस स्थान पर ये उगते हैं उसको अच्छी तरह ढक लेते हैं। पूर्वी हिमालय तथा पश्चिमी घाट के कई स्थानों पर, जहाँ साल में १०० इंच से अधिक वर्षा होती है, इस जाति के कुछ पौधे अन्य पेड़ों की पत्तियों पर भी उगते हैं। आर्थिक विचार से इस समूह के पौधे हमारे किसी भी काम के नहीं, लेकिन विवर्त्तन ( Evolution ) की दृष्टि से या पौधों की गुप्त लीलाओं को जानने के हेतु इनका स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। समय आने पर इनके गोपनीय रहस्यों पर प्रकाश डाला जायगा।

### थैलोफ़ायटा—शैवालादि, छत्राक और बैक्टिरिया

पेड़-पौधों की अन्तिम श्रेणी में थैलोफ़ायटा ( Thallophyta ) हैं। इस समूह के पेड़ों की बनावट बड़ी ही सरल होती है। न जड़, न तना, न पत्ती अथवा फूल-फल। कोई भी अंग स्पष्ट नहीं, फिर भी खाते-पीते और जीवों की सभी लीलाएँ करते हैं। समुद्र-शैवाल (Seameeds) ( देखो चित्र १६ ) तथा अन्य शैवाल ( Algæ ) तथा छत्राक ( Fungi ) और बैक्टिरिया ( Bacteria ) इसी समूह के हैं।

### शैवालादि ( Algæ )

आपमें से जिन्हें समुद्र के किनारे घूमने का अवसर मिला है, उन्होंने कभी-कभी लाल, भूरे, हरे रंग के कुछ बूटे पानी के अन्दर चट्टानों से चिपटे अवश्य देखे होंगे। इनमें से अधिकतर शैवालों में से होते हैं। हमारे पास-पड़ोस के तालाबों व नदियों तथा नालियों में जो आप हरी-नीली कितनी ही जाले-सी काइयाँ देखते हैं वे भी इन्हीं में हैं। (देखो चित्र २०-२१)। वर्षा में तो आसपास की दीवालों, पेड़ों और ग़ुसलख़ानों व गमलों अथवा सड़कों पर हरे-नीले रंग की अनेक काइयाँ जम जाती हैं। तालाबों व पोखरों में जो आप कभी-कभी हरा पानी देखते हैं, वह भी बहुधा इस जाति के आँख से ओझल बहुत छोटे जीवों की उपस्थिति के ही कारण होता है। क्लैमाइडोमोनस *(Chlamydomonas)* नाम का उद्भिज् इनमें से एक है ( देखो चित्र २२ )। यह कितना छोटा होता है, आप आसानी से अनुमान नहीं कर सकते। एक बूँद पानी में इसके असंख्य तैरते रहते हैं। कैसी निराली रचना है!
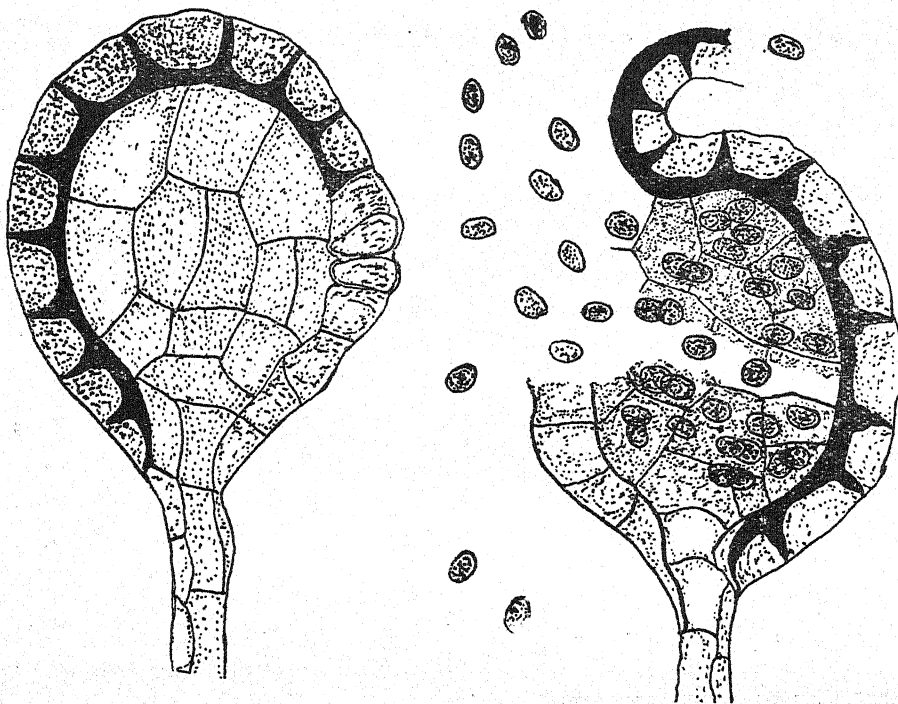
चित्र १४—स्पोरेंजिया और स्पोर्स

बाईं ओर परिपक्व स्पोरेंजियम है जो अभी चिटकी नहीं है। दाहिनी ओर चिटकी हुई स्पोरेंजियम का चित्र है। स्पोर्स या रेणु दूर-दूर बिखर रहे हैं।

[ चित्र—लेखक द्वारा ]

फिर भी इसकी जीवनकला उतनी ही निपुण है, जितनी किसी अन्य पौधे की। समय आने पर हम इस अनोखी सृष्टि की कहानी भी बयान करेंगे।

### छत्राक (Fungi)

ऊपर वर्णित काइयों के अलावा धरती के फूल ( देखो चित्र २३ ), कुकुरमुत्ते, गुच्छी (*Morchella*), गगनधूलि (Geaster), फफूँदी, यीस्ट (Yeast), जिनकी गिनती छत्राक में है, तथा बैक्टिरिया भी थैलोफ़ायटा में हैं। बरसात में सड़ती हुई लकड़ी, फल व अन्य वस्तुओं पर अथवा मल या गोबर, खाद आदि के ढेर पर आपने अनेक छत्राक देखे होंगे। इस जाति के बूटे बिना किसी के सहारे अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकते और अन्य वृक्ष, जानवर, अथवा सड़ी-गली चीज़ों पर ही इनका जीवनाधार है। कितने ही परोपजीवी ( Parasitic ) छत्राक हमारी खेतीबारी के पौधों पर धावा करते हैं। हमारे गेहूँ की पकसिनिया ( *Puccinia* ) और बाजरे का स्मट (Smut) इन अनेक में से हैं। पकसिनिया की बदौलत आज हमको भारतवर्ष में लाखों रुपये की हानि पहुँचती है। अमरीका की यूनाइटेड स्टेट्स में अख़रोट की व्याधि से, जो एक प्रकार के छत्राक से होती है, लाखों रुपये का घाटा होता है। यह व्याधि न्यूयार्क के पास-पड़ोस में सबसे प्रथम १६०४ में शुरू हुई। थोड़े ही दिनों में इसका प्रकोप चारों ओर फैल गया और १६०६ तक में वहाँ की सरकार के अनुमान के अनुसार इस रोग से लगभग सात करोड़ पचास लाख रुपये का नुक़सान पहुँचा। अनेक छत्राक हमारी प्रयोजनीय लकड़ी को नष्ट कर देते हैं। आप लोगों ने जंगलों में घोड़े की टाप अथवा डबलरोटी जैसे छत्राक कभी-कभी देखे होंगे ( दे० चि० २४ )। ये इन पेड़ों को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। इनका अदृश्य जाल तने और शाखों के अन्दर सारे पेड़ में फैला रहता है, और भीतर-भीतर से उन्हें खोखला और निकम्मा तथा पेड़ को सुखा और गलाकर मौत के घाट उतार देता है। परन्तु यही बात नहीं; सारे छत्राक हानि पहुँचानेवाले ही नहीं होते, कुछ उपयोगी भी हैं। कई जाति के धरती के फूल और गुच्छी, जो अधिकतर पंजाब और कश्मीर में होते हैं, स्वादिष्ट होते हैं। इसके अलावा यीस्ट (Yeast) ( दे० चित्र २५ ) शराब और अल्कोहाल (Alcohol) बनाने के काम में आती है। रोटी तथा अन्य चीज़ें बनाने में जो ख़मीर काम में आता है, यह भी यीस्ट ही है।

### बैक्टिरिया

बैक्टिरिया के सम्बन्ध में तो आज हर एक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। ये जीव हमारे चारों ओर
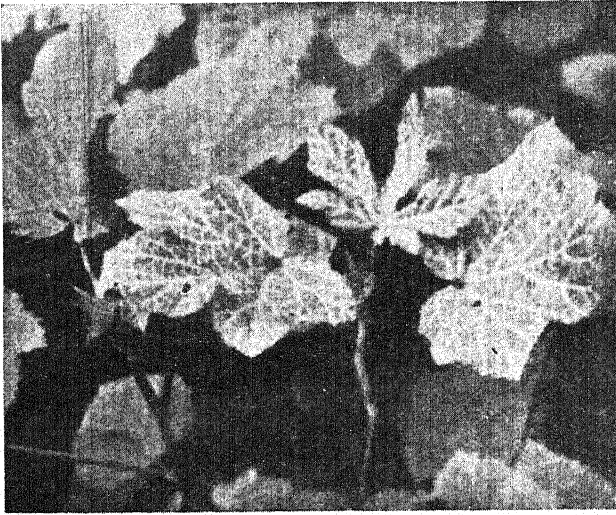
चित्र १५— भिण्डी की पत्ती में नसें

इन पत्तियों में नसें साफ़ दिखाई देती हैं । [ फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले ]

विद्यमान हैं। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ इनकी पहुँच न हो। सभी जगह ये असंख्य संख्या और नाना रूप में विराजमान हैं। हमारे पीने के पानी में, हवा में, दूध में, दही में, सभी चीज़ों में भरे रहते हैं। साधारण बाज़ारू दूध के एक क्यूबिक सेंटीमीटर में एक लाख से दस लाख तक बैक्टिरिया हो सकते हैं। सौभाग्यवश ये अक्सर हानिकारक नहीं होते। हमारे दाँतों के मैल में तो हमें झुंड-के-झुंड बैक्टिरिया मिलेंगे। इन जीवों में सबसे निराली बात तो यह है कि पल भर में एक से अनेक हो जाते हैं और साधारण सर्दी-गर्मी का इन पर कुछ असर भी नहीं पड़ता। ये एककोशीय जीव जितने छोटे होते हैं, इसका आप सुगमता से अनुमान भी नहीं कर सकते। इन्हें हम केवल ख़ुर्दबीन से ही देख सकते हैं, सो भी यदि इतनी शक्तिशाली हो कि हमारे सिर के बाल जैसी महीन चीज़ को लट्ठे के समान मोटा कर दिखाये। इनके डील-डौल के विषय में कल्पना करना भी सरल बात नहीं। इनकी आठ-दस हज़ार की पल्टन एक इंच लम्बे स्थान में एक ही क़तार में आसानी से लम्बी-लम्बी लेट सकती है; फिर भी इनके बीच में आने-जाने के लिए जगह पड़ी रहेगी और यदि कोई इनके सगे-सम्बन्धी आ जायँ, तो उनके ठहरने को भी ठिकाना लग जायगा। परन्तु ये जितने छोटे हैं उतने ही खोटे भी। इनकी उपस्थिति का पता हमको प्रायः इनकी करतूत से ही चलता है। ( देखो चित्र २६ )

बैक्टिरिया संसार में सृष्टि के आदि से ही विद्यमान हैं; परन्तु ढाई सौ वर्ष से कुछ दिन पूर्व हमको इनका पता भी न था। इस विचित्र सृष्टि का सबसे प्रथम अवलोकन हालैंड-निवासी ऐण्टोनी लीवेनहुक ( १६३२-१७२३ ) ने किया था। संसार में एक-से-एक आश्चर्यजनक अनुसंधान हुए। किसी ने नई दुनिया का पता लगाया; तो किसी ने आकाश में दूरबीन की सहायता से ग्रह और तारे ढूँढ़ निकाले, परन्तु इस हालैंड के बजाज़ लीवेनहुक के अनुसंधान के सामने इन सबकी क्या तुलना ! इसने उस अपूर्व सृष्टि का पता लगाया, जिसकी निशस्त्र सेना मानव जाति के संहार में उनकी उत्पत्ति काल से ही तत्पर है; जिनकी करतूत से कितने ही घरों में पानी का देवा नाम का लेवा न रह गया; जिनके प्रकोप से कितने ही गाँव उजड़ गये, कितनी ही बस्तियाँ वीरान हो गईं; जिनके

चित्र १६-१७—मॉस (Moss)

दाहिनी ओर साधारण मॉस है, जो वर्षाऋतु में प्रायः पुरानी दीवारों पर उग आती है। बाईं ओर एक विशेष प्रकार की मॉस का चित्र है जिसके सिरे पर स्पोरेंजियम है। [ फ़ोटो—श्री बि० सा० शर्मा। ]
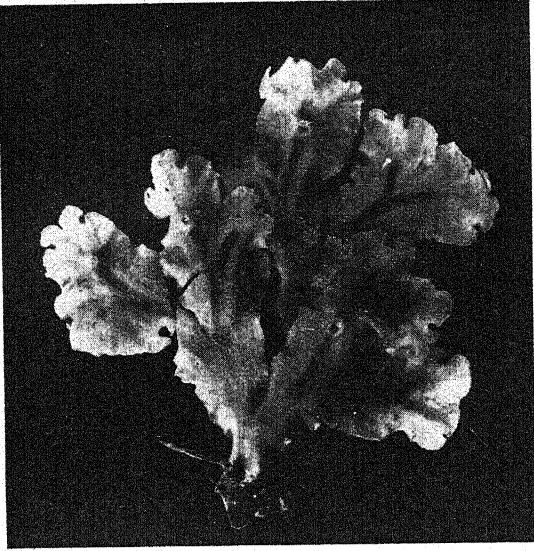
चित्र १८—मारव न्शिया का साधारण पौधा
यह लिवरवर्ट जाति का पधा है।
[ फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा । ]
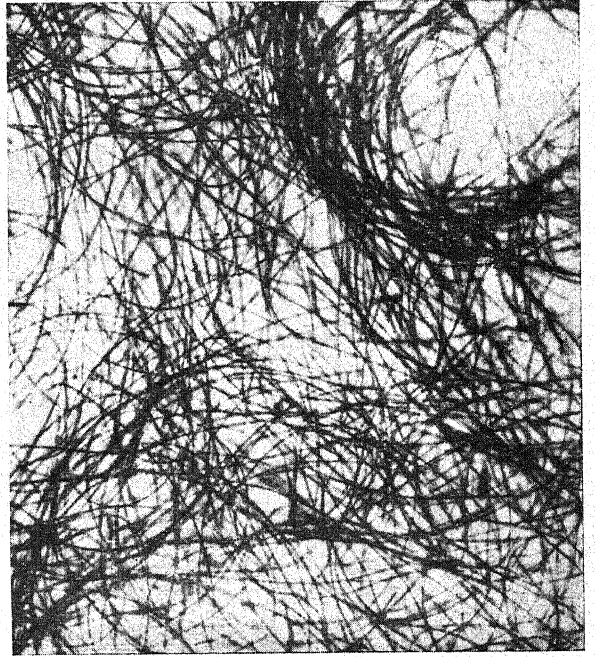
चित्र २०—स्पायरोगायरा
वर्षाऋतु में तालाबों में पैदा होनेवाला बाल से भी महीन एक शैवाल।
[ फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा । ]
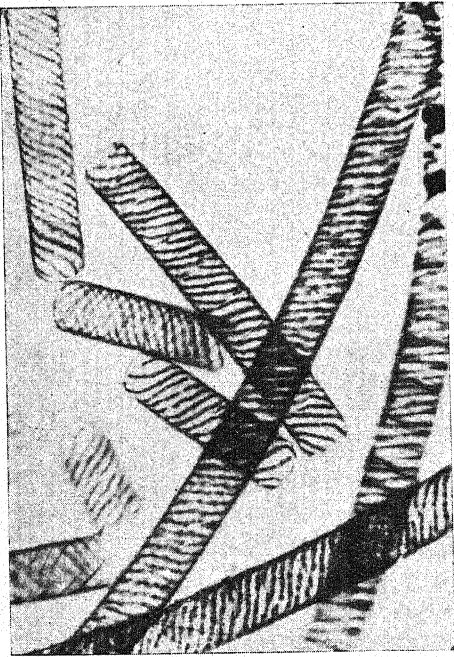
चित्र २१—स्पायरोगायरा के अन्दर की झाँकी
यह चित्र खुर्दबीन की सहायता से लिया गया है। चित्र २० में दिखाये गये बाल से भी महीन रेशे यहाँ लट्ठे जैसे दिखाई दे रहे हैं। [ फ़ोटो—वि० सा० शर्मा । ]
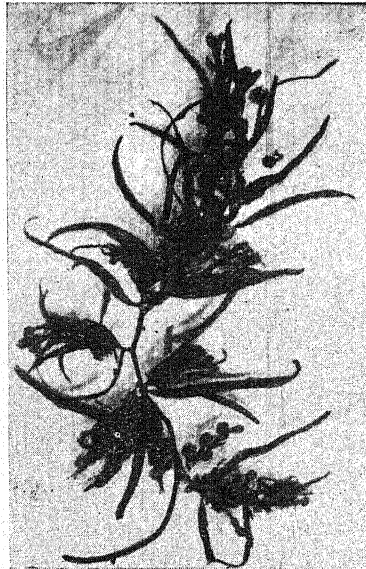
चित्र १९—पयूकस
एक प्रकार का भूरी जाति का समुद्र-शैवाल
[ फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा । ]
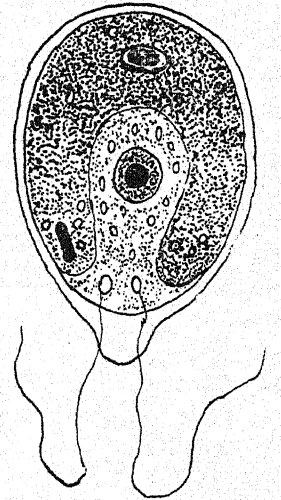
चित्र २२—क्लैमाइडोमोनस
एक एककोशीय शैवाल जो हमारे यहाँ के तालाबों और पोखरों में होता है।
[ चित्र—लेखक द्वारा ]
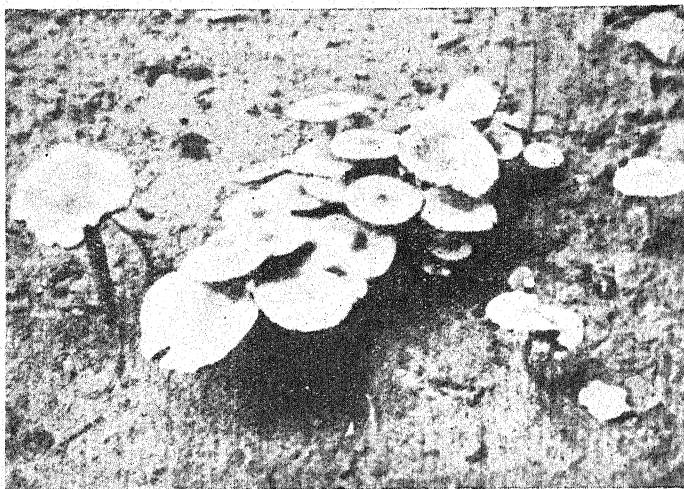
चित्र २३—बगीचे में उगे हुए धरती के फूल
[ फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले । ]

चित्र २४—पालीपोरस लकड़ी और पेड़ों पर उगनेवाला एक छत्राक । इससे वृक्षों को बड़ी हानि पहुँचती है । [ फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले । ]

कपट से कितने ही बादशाहों का तख़्त पर बैठे-बैठे चुपचाप ख़ून हो गया; कितने ही पालने में झूलते-झूलते बालकों की गरदनें मरोड़ दी गईं; कितने ही राह चलते बटोही मौत की भेंट चढ़ गये। ऐंटोनी ने उन निर्दयी जीवों को खोज निकाला, जो हमारे बीच में आदि काल से ही विद्यमान हैं, जिनमें हमारे कितने ही शत्रु और मित्र हैं, जिनसे कितनी ही बीमारियाँ और संक्रामक रोग, जैसे हैज़ा, न्यूमोनिया (Pneumonia), तपेदिक़, सूज़ाक, जमौघा (Tetanus) का जन्म होता है; जिनका हमारे कितने ही व्यवसायों और धन्धों में हाथ है; जिनकी करामात से ही दही, मट्ठा और कलाट (Cheese) तैयार होते हैं; जो मक्खन को सुस्वादिष्ठ बनाते हैं, अल्कोहाल से सिरका तैयार करते हैं और सन को सड़ाते हैं। यथार्थ में जब से हमें बैक्टिरिया का ज्ञान हुआ, हमारे रहन-सहन, ज़र्राही (Surgery) और व्यवसायों में बड़ा अन्तर पड़ गया है। हैज़े-जैसे कितने ही संक्रामक रोगों को रोकने के लिए टीका और नश्तर का प्रचार, इनके फैलाव को रोकने के लिए रोगी को औरों से अलग रखना, आदि बातें आज साधारण समझी जाती हैं।

### वनस्पतियों से हमारा सम्बन्ध तथा वनस्पति-विज्ञान के सर्वप्रिय होने के कारण

इस बृहत् वनस्पति जगत् से हमारा क्या सम्बन्ध है, इसकी शिक्षा स्कूलों और कालिजों में क्यों दी जाती है, अनेक स्त्री-पुरुष इसकी धुन में क्यों लगे रहते हैं, आदि स्वाभाविक प्रश्न हैं, जो आपके हृदय में उठ रहे होंगे। आदि काल से ही मानव विचारशील है। अमुक बात कैसे और क्यों हुई? ऐसे सवालों को सुलझाने को आज छोटे-छोटे बालक भी उत्सुक रहते हैं। यथार्थ में वैज्ञानिक उन्नति की नींव भी इन्हीं प्रश्नों के समुचित उत्तर की खोज पर है। पेड़-पौधों से हमारा बड़ा घना नाता है। पिछले प्रकरण में आप पढ़ चुके हैं कि पेड़ों की भोजन प्राप्त करने की अनोखी रीति ही है, जिसकी बदौलत वायुमंडल में आक्सिजन की मात्रा समान बनी रहती है। अगर ऐसा न होता तो थोड़े ही दिनों में जीवों के साँस लेने के कारण हवा दूषित हो किसी भी जीव के रहने योग्य न रह जाती। तनिक विचार करने से पता चल जायगा कि जन्तु जगत् की उत्पत्ति के पहले पेड़-पौधे ज़रूर रहे होंगे। पौधों के बिना हमारा जीवन कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। यही पशु जीवन का आधार है। यह बात शाकाहारी पशुओं के लिए जितनी लागू है, उतनी ही मांसाहारियों के लिए भी। कहते हैं कि सृष्टि के आदि में जब कि आदमी जंगलों में विचरते थे, कंद, मूल, फल ही इनके भोजन की सामग्री थी। शीघ्र

ही इन्हें जाड़े और धूप से बचने की ज़रूरत हुई और पेड़-पौधों की पत्तियों तथा छालों से यह काम लेने लगे। इसी समय से लंकाशायर के मिलों की बुनियाद पड़ी। आज भी कितनी जंगली जातियाँ हैं, जो छाल व पत्तों से ही वस्त्रों का काम निकालती हैं। धीरे-धीरे लोगों ने कपड़े का बुनना सीखा, परन्तु फिर भी वस्त्रों के लिए हम पेड़ों के ही आश्रित रहे। आप जानते हैं कि हमारे अधिकतर कपड़े रुई और पाट से बनते हैं और ये दोनों हमें पेड़ों से ही मिलते हैं। लोगों ने धीरे-धीरे उपयोगी पेड़ों का लगाना और उनकी रक्षा करना सीखा। यहीं से हमारी खेती और बाग़बानी की नींव पड़ी। जैसे-जैसे इनमें उन्नति हुई बढ़िया से बढ़िया तरकारियाँ, अनाज, फल, फूल उगने लगे। तुख़्मी आमों

चित्र २५—यीस्ट जिन्हें करोड़ों की संख्या में ताड़ी पीने-वाले हर घूँट के साथ अपने उदर में पहुँचाते हैं। ये अति सूक्ष्म होते हैं।
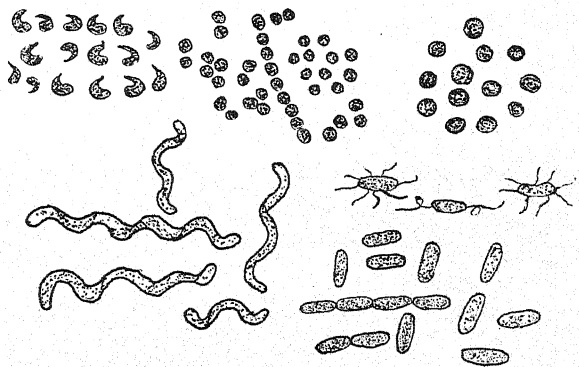
चित्र २६—बैक्टीरिया
विविध रूपधारी ये एककोशीय अदृश्य जीव सभी स्थानों और वस्तुओं में करोड़ों की संख्या में रहते हैं। [ चित्र—लेखक द्वारा। ]

की जगह दसहरी, सफ़ेदे, बम्बई और लँगड़े ; झरबेरी बेर की जगह पैंवद। बेर और खट्टे नींबू की जगह नागपुर और सिल्हट की नारंगियाँ और संतरे मिलने लगे। आज साधारण गाँव के रहनेवाले भी जानते हैं कि अगर उन्हें गेहूँ, उर्द या दूसरे किसी अनाज की अच्छी फ़सल तैयार करनी है तो उन्हें अमुक नम्बर का ही बीज पूसा, लायलपुर या कानपुर से मँगाकर बोना होगा। यह सब कैसे हुआ? वनस्पतियों के अध्ययन और वनस्पति विज्ञान की यथार्थ उन्नति से। आज कितने ही लोग कटिबद्ध हैं कि साधारण गेहूँ से बड़े दानेवाला, थोड़े समय में पककर तैयार होनेवाला और दूसरी बातों में बढ़कर गेहूँ उपजावें। इसी तरह कोई गन्ने में संलग्न है तो किसी को धान की धुन है। कोई आम की फ़सल को चिरस्थायी बनाकर उन्हें सुविधा से सुरक्षित और सुस्वादिष्ट सात समुद्र पार लण्डन और पेरिस जैसे शहरों में बेंच-कर लाभ उठाना चाहता है। मतलब यह कि हमें अपनी आर्थिक उन्नति के लिए ही पेड़-पौधों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

भोजन और कपड़ों के अलावा पेड़ों से हमें दूसरी अनेक ज़रूरी चीज़ें भी मिलती हैं। सब तरह के खाद्यपान (विटामिन A,B,C,D,E,F, आदि) जिनका हमें पता लग चुका है, या आगे चलकर लगेगा ; हमारी जड़ी-बूटियाँ ; भिन्न-भिन्न बीमारियों की सैकड़ों औषधियाँ ; कितने ही बलिष्ठ व पौष्टिक पदार्थ ; मेवे और मसाले ; मधु और मिश्री ; कितने ही मादक और प्राणघातक रस इन्हीं से मिलते हैं। अगर हम कमरे में बैठे-बैठे चारों ओर निगाह दौड़ायें तो हम देखेंगे कि लगभग सभी चीज़ें पेड़ों से मिलती हैं। हमारी क़लम, मेज़, कुर्सी, दरवाज़े, किवाड़े इन्हीं से बने हैं। हमारे लिखने का काग़ज़ भी पेड़ों ही से बनता है। जिस समय लोगों ने लिखना सीखा, वे भोजपत्र और ताड़पत्र पर लिखने लगे। यही नहीं, आज कितने वर्ष बीत जाने पर भी हम लिखने के काग़ज़ के लिए पेड़ों के ही अधीन हैं। हमारे बढ़िया-से-बढ़िया काग़ज़ भी फटे-पुराने चीथड़े और टाट तथा घास-बाँस से ही बनता है। तरह-तरह के रङ्ग, रबर, लाख, तेल, इत्र, सुगंध आदि भी इन्हीं से मिलते हैं। इसके अलावा रस्सी, नक़ली रेशम, नाइट्रोसेलुलोज़ आदि भी पेड़ों से ही मिलते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कितने ही पौधे हैं, जिनसे आदमी और दूसरे जानवरों की व्याधियाँ पैदा होती हैं और कितने ही ऐसे हैं, जिनका हाथ हमारे व्यवसायों में है। इसलिए ऐसी वनस्पतियों की जीवनी और रहस्य का जानना हमारे लिए कितना ज़रूरी है, आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।
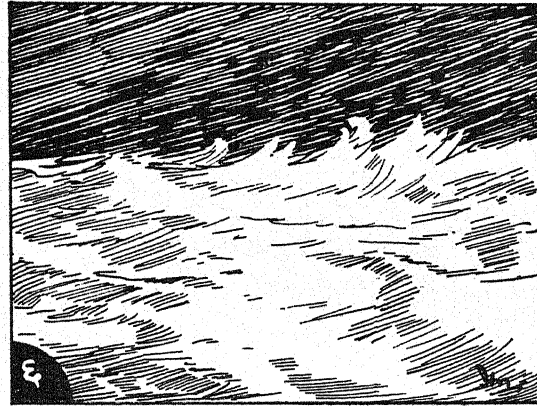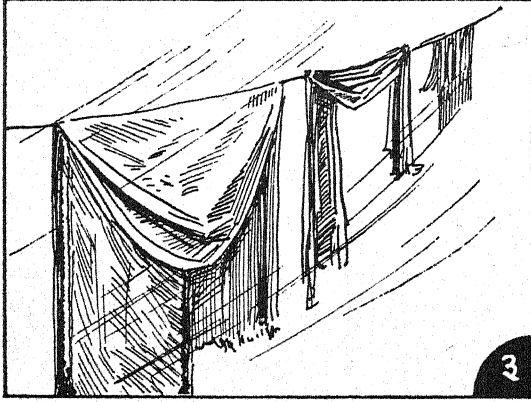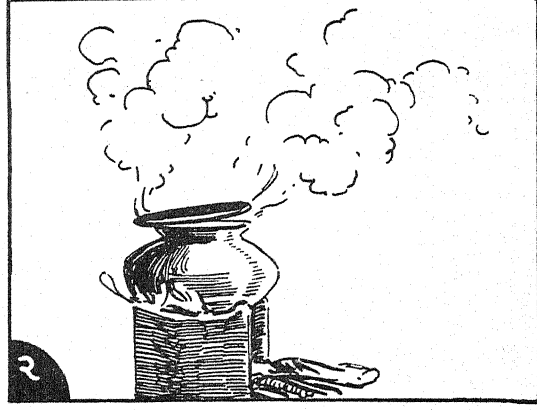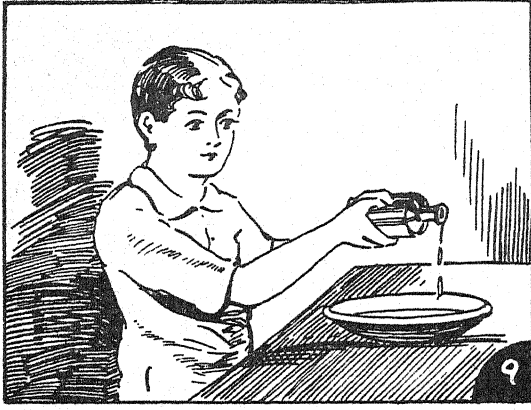
**पानी की बूँद के विविध अनुभव**

अपने जीवनकाल में पानी की एक ही बूँद न जाने कितने चोले बदलती और तरह-तरह के विचित्र अनुभव करती है। कभी वह अपार महासागर का एक अंश होकर रहती तो कभी भाफ बनकर बादल का रूप ग्रहण कर आकाश में इधर-उधर उड़ने लगती है। तब द्रवीभूत होकर वह फिर से पृथ्वी पर जलबिन्दु के रूप में बरस पड़ती है और किसी नदी-नाले में मिलकर फिर से समुद्र में जा मिलती है, अथवा किसी जीव या वनस्पति के शरीर में पहुँच जाती और धीरे-धीरे फिर भाफ बनकर उड़ जाती है। कभी वह ओस या कोहरा होकर फिर पृथ्वी पर आ पहुँचती है, तो कभी पहाड़ों पर या ठंढे देशों में गिरकर बर्फ़ हो जाती है। ऊपर के चित्र में जल के इन्हीं विचित्र अनुभवों का दिग्दर्शन कराया गया है—(नं० १) द्रव बूँद के रूप में; (२) आग की गर्मी से उबलते हुए तथा भाफ बनकर उड़ते हुए; (३) सूर्य की धूप से भाफ बनकर हवा में मिलते हुए; (४) बादलों के रूप में आकाश में उड़ते हुए; (५) बर्फ़ के रूप में; (६) महासागर का भाग होकर लहराते हुए। (देखिए पृष्ठ १७८-१७९)

# जीवधारियों की मौलिक रचना या जीवन का सार

**प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बाहरी रूप-रंग में विविधता होते हुए भी उसके समस्त पदार्थों के मूल में एक ही तत्त्व विद्यमान है। इस प्रकरण में हमें देखना है कि वह कौन-सा तत्त्व है जिसकी मूल भित्ति पर सारे सजीव पदार्थों की सृष्टि हुई है।**

पहले परिच्छेद में यह बतलाया जा चुका है कि सजीव वस्तुएँ क्या हैं और सजीव तथा निर्जीव में क्या भेद है। अब हम आपका ध्यान उन मुख्य पदार्थों की ओर ले जाना चाहते हैं, जिन पर सभी जीवधारियों की रचनाएँ निर्भर हैं। पेड़-पौधों और जीव-जन्तु दोनों ही सजीव हैं, तब भी हममें से बहुतों को जंतु वृक्षों से वैसे ही भिन्न जान पड़ते हैं जैसे कि सजीव वस्तु किसी निर्जीव वस्तु से। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि वनस्पतियों और जानवरों में, जो प्रतिदिन हमारी दृष्टि में आते हैं, अपने आकार, प्रकार और शारीरिक रूप में इतनी विभिन्नता होते हुए भी, वे सब विशेषतायें विद्यामान हैं, जो उनको निर्जीव सृष्टि से अलग करती हैं।

### जीवन-मूल क्या है ?

इसका यही कारण प्रतीत होता है कि सारी जीवित वस्तुओं में नन्हें से काई के पौधे से लेकर बड़े से बड़े बरगद के वृक्ष तक, तथा छोटे-से-छोटे पतिंगे से बलवान् हाथी तक और स्वयं मनुष्य में भी एक अनोखा पदार्थ पाया जाता है, जिससे उनके शरीर का अधिकांश भाग बनता है। इसी विचित्र पदार्थ में, जिसको **जीवन-मूल या जीवन-रस** (Protoplasm) कहा जाता है, जीवित शरीर के सब लक्षण पाये जाते हैं। यही वह तत्त्व है जो बढ़ता है; यही वह पदार्थ है जो हिलता-डोलता है, और यही वह द्रव्य है जो उत्तेजना पैदा करता है। जीवन कभी जीवन-मूल से पृथक् नहीं रह सकता और न जीवन-मूल कभी जीवन से।

यह मूल पदार्थ मामूली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखे जाने पर लसदार, चिपचिपा, अंडे की सफ़ेदी या शहद की तरह गाढ़ा नज़र आता है; किन्तु अधिक शक्तिशाली (अर्थात् और भी बड़ा दिखानेवाले) यन्त्र में यह पदार्थ दानेदार मालूम होता है और कभी-कभी उसमें छोटे-छोटे बहुत-से बुलबुले दिखलाई पड़ते या उसमें बहुत महीन जाल-सा बना हुआ ज्ञात होता है। ध्यान देने की बात है कि सब आवश्यक बातों में यह सारे वृक्षों और सारे पशुओं में एक ही सा जान पड़ता है और सबमें ही बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों या कणों में प्रत्येक अपने पड़ोसी से झिल्ली या भित्तिका से बँटा हुआ रहता है। जीवन-मूल के इन झिल्ली से घिरे हुए नन्हें-नन्हें टुकड़ों को **कोष** या **कोष्ठ** (Cell) कहते हैं, क्योंकि देखने में ये शहद की मक्खी या बर्रे के छत्ते की कोठरियों-से लगते हैं। प्रत्येक कोष स्वयं एक छोटी-सी सजीव वस्तु है। यदि आप इस बात का प्रत्यक्ष दृश्य देखना चाहते हैं कि जीवित शरीर में बहुत-से नर्म कोष या कोठरियाँ बिना किसी सहारे के किस प्रकार एकत्रित—सब एक दूसरे से मिले हुए परन्तु फिर भी अलग-अलग—रहते हैं, तो एक बर्त्तन में साबुन का गाढ़ा घोल बनाकर पतली-सी नलिका से फूँकिये। आपको प्याले में झाग उठते हुए दिखलाई देंगे और सारा प्याला साबुन की छोटी-छोटी गोलाकार कोठरियों से भरा दृष्टिगोचर होगा।

### नाना प्रकार के कोष और उनकी रचना

कोष में जीवन-मूल उस सरल रूप से नहीं भरा होता है जैसे प्याले या ग्लास में चाशनी, शहद या और कोई गाढ़ा द्रव पदार्थ भरा रहता है। वह तो बड़े विचित्र ढंग से प्रत्येक गोले में सजा रहता है और जब तक कोष में प्राण रहते हैं, वह उसमें गति करता रहता है; जैसा कि हम सहज में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा किसी-किसी (विशेषकर कुछ जल

में रहनेवाले ) वनस्पति के कोषों में और पानी में रहनेवाले एककोषक अदृश्य प्राणी अमीबा या पेरामीसियम में देखते हैं। पृष्ठ १७५-१७६ पर जो चित्र जानवरों और पेड़ों के भिन्न-भिन्न भागों से निकाले हुए कोषों के दिए गए हैं, उन्हें देखकर आपको ज्ञात हो जायगा कि पशुओं और वृक्षों के सब कोष न तो एक नाप के ही होते हैं और न एक रूप के। कोई सुडौल गोलाकार हैं तो कोई षटकोण; कोई डिबिया या बक्स के समान लंबे चौकोर हैं, तो किसी का आकार टेढ़ा-मेढ़ा, चारों ओर नुकीला है; किसी में रोयें हैं तो किसी में नहीं; किसी की भित्ति या खलड़ी मोटी है तो किसी की पतली; किसी में भाँति-भाँति के ठोस पदार्थ भीतर तैरते हुए साफ़ दिखलाई पड़ते हैं, तो किसी में बहुत कम या बिलकुल नहीं होते; किन्तु किसी के द्रव पदार्थ में बड़े और किसी में छोटे बुलबुले झलकते नज़र आते हैं।

अधिकांश कोषों के बीचोबीच में अथवा एक ओर को जीवन-मूल का एक छोटा-सा भाग अधिक गाढ़ा और दृढ़ होता है और इसके चारों ओर अपनी अलग कोमल झिल्ली मढ़ी रहती है; मानो एक बड़ी गेंद के अन्दर बहुत-सी छोटी-सी गेंद रक्खी हुई हो। पारदर्शक होने के कारण कोष के इस अंश को शेष जीवन-मूल से पहचानना सुगम नहीं। परन्तु जब कोष को उचित रंगों से रँगा जाय तो वह गाढ़ा अंश आस-पास के कोषमूल (Cytoplasm) से चटक हो जाता है और तब सूक्ष्मदर्शक यंत्र में देखने से उसका साफ़ पता लग जाता है। इस दृढ़ अंश को केन्द्र (Nucleus) या मींगी कहते हैं। यह कोष का राजा है और इसमें पथप्रदर्शक शक्ति पाई जाती है। मानो यह कोषरूपी कारख़ाने का कर्त्ता-धर्त्ता है और जो कुछ उसमें क्रिया-कर्म होते हैं, उनकी देखभाल इसी पर निर्भर है।

बहुधा पेड़ों की कोष-भित्तियाँ जानवरों की से कुछ-न-कुछ भिन्न होती हैं। पेड़ों के कोषों में भित्तियाँ बहुत निश्चित होती हैं और काष्ठोज (Cellulose) नामक वस्तु की बनी होती हैं, जो जीवन-मूल से अधिक दृढ़ होता है। परन्तु उसकी बनावट में नोषजन (नाइट्रोजन) के अलावा सब पदार्थ वे ही हैं, जो जीवन-मूल में। लकड़ी, नारियल के खोपड़े, अख़-रोट के छिलके और बेर की गुठली बहुत मोटी भित्ति के कोषों से बनी होती है। इन कोषों के भीतर भी एक समय जीवन-मूल भरा था, जो भित्ति को कड़ा और मोटा बनाने में चुक गया। यही कारण है कि देखने में ऐसी सब वस्तुएँ और

**जीवधारियों के कोषों की रचना का एक उदाहरण**

यदि आप इस बात का प्रत्यक्ष दृश्य देखना चाहते हैं कि जीवित शरीर में बहुत-से नर्म कोष बिना किसी सहारे के किस प्रकार एकत्रित—सब मिले हुए परंतु फिर भी अलग-अलग—रहते हैं तो एक बर्त्तन में साबुन का गाढ़ा घोल बनाकर पतली नली से फूँकिए। सारा प्याला झाग के कारण उठे हुए साबुन के गुब्बारों जैसे गोलाकार बुलबुलों से भर जायगा, जिनकी भित्तियाँ एक-दूसरे से कोठरियों की तरह जुड़ी हुई होंगी। शरीर के कोष भी इसी प्रकार के होते हैं।
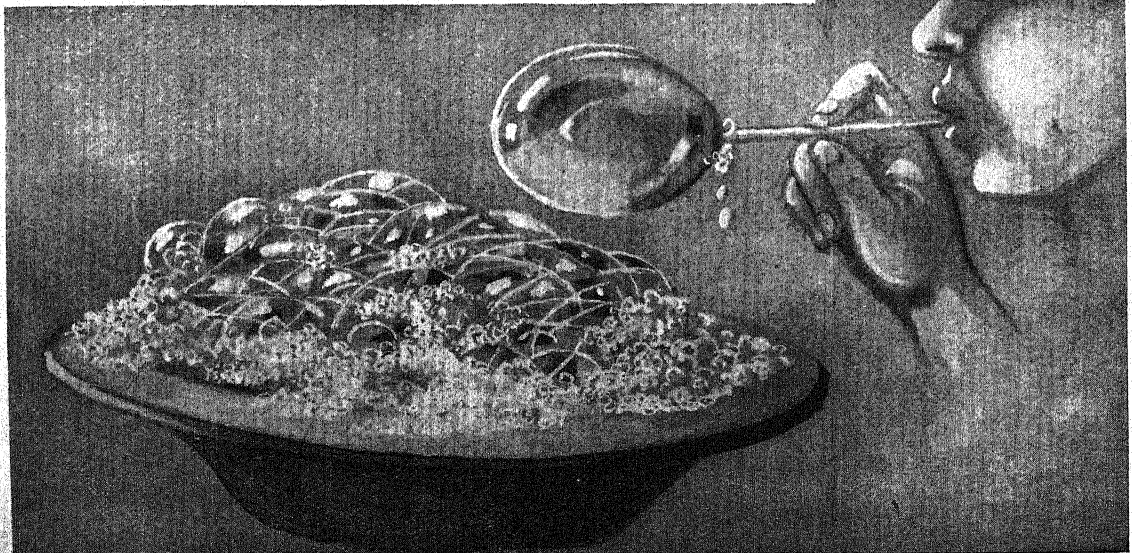
उनके कोष ठोस मालूम पड़ते हैं। अधिकांश पशुओं के कोषों में काष्ठोज की भित्तियाँ नहीं पाई जातीं, किन्तु उनमें उसकी जगह कोषमूल की ऊपरी तह कड़ी हो जाती है और भित्ति का काम देती है। किन्तु कुछ जानवरों में भी कभी ऐसे कोष पाये जाते हैं, जिनमें काष्ठोज की भित्तियाँ होती हैं।

यदि जीवन-मूल एक प्रकार का अर्द्धद्रव पदार्थ है, जो साधारण रीति से महीन झिल्लीवाले कोषों में भरा होता है, तब क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कैसे बड़े डीलवाले वृक्ष या जीव सीधे चट्टान की तरह दृढ़ खड़े रहते हैं! यह बात आपको असम्भव जान पड़ती होगी, परन्तु आगे चलकर आपकी समझ में आ जायगा कि ऐसा कैसे होता है। रबड़ के गुब्बारे, जो हर एक मेले-तमाशे में बिका करते हैं, कोषों की ही तरह बहुत महीन झिल्ली के बने होने पर भी फूँकने से फूल जाते हैं और मुँह बाँध देने पर अपना रूप क़ायम रखते हैं। इनमें से कोई गोल, कोई लौकी-से लम्बे, कोई नासपाती के आकार के होते हैं और जब तक उनमें हवा भरी रहती है, तब तक वे अपना निश्चित आकार क़ायम रखते हैं। भीतर भरी हुई हवा के दबाव के कारण ही इन गुब्बारों की नर्म झिल्ली फूली रहती है और जितनी ही हवा अधिक भरी जाती है, उतना ही गुब्बारा अधिक कड़ा हो जाता है। इसी प्रकार कोषों में भरे हुए जीवन-मूल के प्रभाव से उनकी भित्तियाँ उचित रूप से फूली रहती हैं और वे अपना निश्चित रूप और कड़ापन स्थिर रखती हैं। जहाँ इसके अतिरिक्त अधिक सहायता की आवश्यकता होती है, वहाँ शारीरिक कोष स्वयं निर्जीव पदार्थों से अपने लिए यथार्थ सहायक ढाँचा या चौखटा बना लेते हैं।

वनस्पतियों में मिलनेवाले कोषों में से पाँच प्रकार के कोष

(१) पत्ती की त्वचा या ऊपरी खाल के कोष। इनकी बाहरी भित्तिकायें मोटी होती हैं। (२) स्तंभाकार कोष, जैसे पत्ती के बीच के भाग में होते हैं। (३) टाईफ़ाइड या मन्थर ज्वर के शलाकाणु कोष जो गति कर सकते हैं। (४) पानी की काई के स्पोर-कोष। (५) ख़मीर बनानेवाले वनस्पति कोष जिनमें से कोपलें फूटती हुई दिखाई दे रही हैं।

जब हमारी दृष्टि किसी जीवधारी पर पड़ती है, तो हमें केवल कोषभित्तियाँ ही दिखाई देती हैं, जिनसे कि वह बना है; हमें जीवनमूल नहीं दिखाई देता। बड़े वृक्षों और जानवरों में शरीर के ऊपरी पर्त (जैसे मनुष्य की खाल, पेड़ों की छाल और घोड़े का चमड़ा) के कोष इस विचार से मरे हुए कहे जा सकते हैं कि उनमें जीवन-मूल नहीं रह जाता, केवल भित्ति ही बची रह जाती है।

## कोष कैसे बढ़ते हैं?

हाथी, साँप, मक्खी, आम, गुलाब के पेड़ अथवा किसी भी पेड़ या जानवर के शरीर के किसी भी भाग से पतली फाँक उतार लें और सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र से देखें, तो हम उसको ऐसे ही कोषों से भरा पायेंगे। अतः वे हमारे शरीररूपी मकान की ईंटें और खपड़े हैं अथवा जीवित वस्तुओं का आधार हैं। हम उन्हें जीवन की एकाई (units of life) कहें तो अनुचित न होगा। परन्तु शारीरिक कोषों और मकान की ईंटों में एक भेद है। वह यह कि ईंटों और खपड़ों को एक के ऊपर दूसरी जोड़ने से मकान बनाया जाता है, लेकिन जीवों के शरीर कोषों को जमा करने से नहीं बन सकते; उनमें तो शरीर ही नित्य नये कोष बनाता रहता है। नाना प्रकार का भोजन, जो जीवधारी ग्रहण करते हैं, उनके शरीर में पहुँचकर धीरे-धीरे बदलकर नया जीवन-मूल बन जाता है और जीवन-मूल की मात्रा में वृद्धि होती है और कोष का परिमाण बड़ा होता जाता है। यदि यही चाल अनिश्चित रूप से प्रचलित रहे, तो कोष थोड़े समय में बहुत बड़े हो जायँ। परन्तु प्रकृति ने ऐसा होना उचित न समझा। इसलिए

जब कोष अपना स्वाभाविक नियुक्त डील प्राप्त कर लेता है, तो उसका केन्द्र दो भागों में विभाजित होकर अपने आस-पास के जीवन-मूल को भी बाँटने लगता है। दोनों के बीच में नई भित्ति बन जाती है और एक बड़े कोष से दो छोटे-छोटे कोष उत्पन्न हो जाते हैं। यह नई कोषिकाएँ

भी पहले की भाँति बढ़ती हैं, और अपने समय पर बँटकर दो-दो हो जाती हैं। इसी प्रकार कोषों की संख्या और उनका घनफल बढ़ने से जीवों के अंग और शरीर बढ़ते जाते हैं।

अधिकतर जानवर और पौधे जो हम देखते हैं, उनमें कोषों की संख्या अनिश्चित होती है। उनकी संख्या प्रत्येक व्यक्ति के डील के अनुसार कम या ज़्यादा होती है। परन्तु संसार में ऐसे भी पेड़-पौधे और जीव-जन्तु हैं, जिनमें कोष बहुत थोड़े और निश्चित होते हैं। सबसे सादे प्राणियों के शरीर केवल एक कोष के ही बने होते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के बिना मनुष्य के लिए अदृश्य हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिनका आँख से केवल पता भर लग जाता है। ऊँची श्रेणी के सारे प्राणियों का जीवन दो आधारों पर रचा है। प्रत्येक कोष अपना अलग-अलग कर्त्तव्य पालन करते हुए भी ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि और सब कोषों से हिल मिलकर प्राणी के स्वस्थ जीवन को स्थिर रखते हैं। मनुष्य-जैसे जटिल-से-जटिल प्राणी भी अपने जीवन की यात्रा एक कोष से आरम्भ करते हैं। अतः हम बेखटके कह सकते हैं कि ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं जो किसी-न-किसी समय एक कोष की अवस्था अथवा जीवन की एकाई में न पहुँच जाता हो।

जानवरों के कोषों में से पाँच प्रकार के कोष

(६) चपटे पहलदार कोष जो पेट के भीतरी अंगों को मढ़नेवाली झिल्ली में पाये जाते हैं, (७) अस्थि बनानेवाले कोष, (८) चर्बी में पाये जानेवाले कोष जिनमें बीच में चर्बी का बिन्दु दिखाई पड़ता है, (९) वायु-प्रणाली की भीतरी दीवार में पाये जानेवाले महीन रोयेंदार कोष, (१०) नाड़ी और मस्तिष्क में पाये जानेवाले नुकीले कोष जिनकी नोकों से लम्बे तार निकले रहते हैं।

## शरीर में कोषों का प्रबन्ध

जिस प्रकार हम अपने नगर या बस्ती को एक निश्चित ढंग से मोहल्लों या बाज़ारों में बाँटते हैं, उसी प्रकार प्रकृति ने भी बहु-कोषीय प्राणियों के शरीरों के कोष भी भिन्न-भिन्न समूहों में बाँट दिये हैं और उनके कर्त्तव्य अलग-अलग निश्चित कर दिये हैं। उचित ढंग से सजाई हुई प्रदर्शनी और मेले में हम देखते हैं कि एक तरह की चीज़ें बेचनेवाली दूकानें एक ही पंक्ति या एक ही जगह होती हैं। कपड़े बेचनेवालों की एक स्थान में, बिसातियों की दूसरे स्थान में और हलवाई तथा अन्य खाने-पीने की दूकानों का प्रबन्ध तीसरी जगह रक्खा जाता है। यही बात बड़े-बड़े नगरों में भी होती है। एक प्रकार की बहुत-सी दूकानें एक जगह या एक बाज़ार में रहती हैं; जैसे, सब्ज़ीमण्डी में तरकारी, नाज, की मण्डी में नाज ठठेरी बाज़ार में बर्तन ही बिका करते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर में भी भिन्न-भिन्न काम करनेवाले कोष भिन्न-भिन्न समूहों में एकत्र हैं। हर समूह में अधिकतर एक ही से कोष होते हैं और उनका एक विशेष काम होता है। ये समूह तन्तु (Tissues) कहलाते हैं। जिस प्रकार सब कपड़ों की बनावट एक-सी नहीं होती—कोई मोटे सूत के बने और खुरदरे होते हैं, कोई महीन सूत के और नर्म होते हैं, कोई बहुत चिकने और रोएँ-

दार होते हैं, किसी को हम खादी, किसी को मलमल, किसी को रेशम अथवा किसी को मख़मल कहते हैं; इसी प्रकार हमारे शरीर के सब तन्तु भी एक-से नहीं होते। अन्य जन्तुओं की भाँति हममें भी शरीर को ढकनेवाले तन्तु हैं; जैसे चर्म और आँतों के भीतर अस्तर, हड्डियों और कराडराओं ( Tendons ) में सहायक तन्तु, यकृत या कलेजे और वृक या गुर्दे के ग्रन्थिवाले तन्तु, मस्तिष्क और सुषुम्ना के तन्तु ( Nervous tissues )। इसी प्रकार पौधों में ढँकनेवाले तन्तु जड़ों और पत्तियों की खाल में, सहायक तन्तु तने के कठोर भाग में और रस खींचनेवाले तन्तु नर्म गूदे में पाये जाते हैं।

## पौधों की तरह खानेवाले जानवर और जानवरों की तरह खानेवाले पौधे

जीवधारियों में समान या भिन्न अगणित कोषों के बहुधा घनिष्ट रूप में इकट्ठे होने से शरीर के भिन्न-भिन्न भाग बनते हैं, जो अंग या इन्द्रियाँ कहलाते हैं। प्रत्येक अंग का एक विशेष कर्त्तव्य होता है। पशुओं में कई प्रकार की इन्द्रियाँ हैं, जैसे टाँगें चलने के लिए, आँखें देखने के लिए और कान सुनने के लिए। किन्तु आम तौर से वृक्षों में उतने प्रकार के अंग और तन्तु नहीं होते, जितने जानवरों में, क्योंकि पेड़ों के कर्त्तव्य उतने बँटे हुए नहीं हैं, जितने प्राणियों के। इसलिए हम देखते हैं कि पूर्ण जीवित वृक्ष एक घर के समान है। जिस प्रकार घर में कमरे, दालान और आँगन होते हैं और उसकी दीवारें और खम्भे ईंटों की बनी होती हैं, जो चूना और गारा से जोड़ी जाती हैं; इसी प्रकार हमारे शरीर में कई इन्द्रियाँ हैं और ये इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न तन्तुओं की बनी हुई हैं, जिनमें बहुत-से कोष हैं, और कोष जीवनमूल के बने होते हैं। यद्यपि जीवन-मूल की रचना वृक्षों और जीव-जन्तुओं में बहुत-कुछ एक-सी है, तो भी ये दोनों प्रकार के जीवधारी बहुत-सी बातों में अवश्य एक दूसरे से भिन्न हैं। इसका क्या कारण है, यह जानना असम्भव है। कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि दोनों में जीवन-मूल बनाने की रीतियाँ अलग-अलग हैं। वनस्पति अपने जीवन-मूल को सीधे पृथ्वी, जल तथा वायु से बना सकते हैं, तथा प्राणी मुख्यतया अपना जीवन-मूल उन वस्तुओं को खाकर बना-बनाया प्राप्त करते हैं, जो जीवित हैं अथवा कभी जीवित रही हों—चाहे वे पेड़-पौधे हों या अन्य जीव-जन्तु। नियम तो ऐसा ही है; परन्तु कुछ पौधे और जन्तु इन नियमों को खण्डित भी करते हैं। अमरबेल की भाँति और भी ऐसे वृक्ष हैं, जो अपना भोजन उन वृक्षों से ग्रहण करते हैं, जिन पर कि वे उगते हैं। ऐसी भी वनस्पतियाँ हमारे ही देश में मिलती हैं, जो कीटाहारी कही जा सकती हैं, क्योंकि वे मक्खी या अन्य पतिंगों को अपने मायारूपी जाल में फँसाकर मार डालती हैं और उनके शरीर से अपना भोजन उसी प्रकार प्राप्त करती हैं जैसे कि पशु। इस प्रकार की एक वनस्पति तुंबिलता का हाल आप पहले अंक में 'पेड़-पौधों की दुनिया' वाले भाग में पढ़ चुके हैं। यहाँ हम एक और मांसाहारी पौधे का दृश्य आपके सामने रखते हैं (दे० पृष्ठ १७८ के सामने का चित्र)। दूसरी ओर जानवरों में कुछ ऐसे पानी में रहनेवाले छोटे जीव मिलते
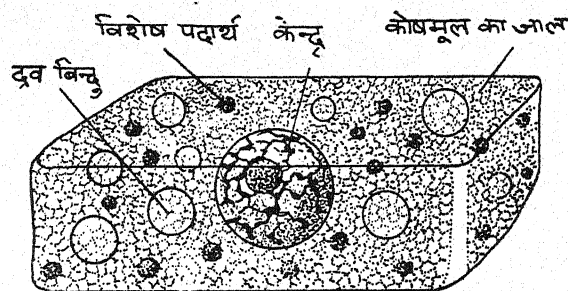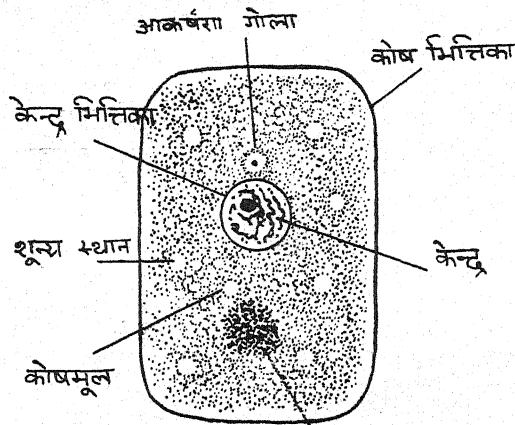
साधारण कोष का बढ़ाकर दिखाया हुआ चित्र, और उसके मुख्य भाग

हैं, जो सूक्ष्मदर्शक यंत्र में देखने से वृक्षों की भाँति हरे दिखाई देते हैं, क्यों उनमें भी पर्णहरिण (Chlorophyll) होता है, जिसकी सहायता से वे पानी में घुली हुई अनैन्द्रिक वस्तुओं से अपना जीवन-मूल पेड़ों की तरह बनाते हैं। यूगलीना (Euglena) नामक ऐसे ही जीव का चित्र इस पृष्ठ के सामने दिया है। अतः पेड़-पौधों में दो-चार ऐसे भी हैं, जो अपने जीवन-मूल को उसी प्रकार बना सकते हैं, जो पशुओं का लक्षण है और एक-आध पशु भी ऐसे हैं, जो अपना जीवन-मूल सच्ची वनस्पतियों की भाँति बनाते हैं। इससे यह भी विदित होता है कि वनस्पति-वर्ग और प्राणि-वर्ग के बीच ऐसा अन्तर नहीं है, जो पार न किया जा सके।

अब तक हमने जीवित पदार्थों की रचना और आचरण का अध्ययन एक जीवन-विज्ञान-वेत्ता की हैसियत से किया है। अब हम रसायनज्ञ की ओर बढ़ें और देखें, वे हमें जीवन-मूल की बनावट के विषय में क्या बतलाते हैं।

### जीवन-मूल किन पदार्थों का बना है?

सबसे पहले हमें स्मरण रखना चाहिये कि जीवन-मूल अति अस्थिर या चंचल पदार्थ है और जीवित दशा में बहुत ही सीमित ताप में रह सकता है अर्थात् २° श० से ३५° श० तक। यद्यपि बहुत कम दशाओं में यह बात लागू नहीं भी होती, क्योंकि न्यूज़ीलैंड के गर्म झरनों में, जिनका ताप ३५° श० से बहुत ज़्यादा होता है, कुछ बैक्टीरिया कीटाणु पाये जाते हैं। इसलिए उन पदार्थों या मूल वस्तुओं का पता, जिनसे जीवन-मूल बनता है, उसके बनने के बाद ही लगाया जा सकता है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यह कैसे कहा जा सकता है कि मृत्यु के बाद जो कुछ जाँचा गया, वह जीवन-मूल ही था। यह कहना कठिन है कि वह बिलकुल वही वस्तु है। जो कुछ भी हो हम यह जानते हैं कि जीवित पदार्थ जितनी आसानी से जल ग्रहण कर सकते हैं और बाहर निकाल सकते हैं, उतनी सरलता से और कोई पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता। वह सदा सारे जीवधारियों के शरीर में बहा करता है और उनके लिए बहुत लाभदायक है। इसीलिए जीवन-मूल में ७०-९० प्रति सैकड़ा पानी होता है और यह कहा जा सकता है कि वास्तव में जीवन-मूल पानी के घोल में ही रहता है। इसलिए हम आपको सजीव पदार्थ के इस प्रधान भाग के विषय में कुछ और बतलाना उचित समझते हैं।

### (१) जीव और पानी

पानी संसार की साधारण-से-साधारण चीज़ों में से एक है, किन्तु शुद्ध रूप में पानी कहीं नहीं मिलता; क्योंकि वह ऐसा पदार्थ है कि उसमें पृथ्वी और वायु की बहुत-सी वस्तुएँ शीघ्र ही घुल जाती हैं। जब हम पानी को गर्म करते हैं तो बर्तन पानी से जल्द गर्म हो जाता है, क्योंकि पानी का ताप बढ़ाने के लिए अधिक अग्नि की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि गर्मी में झीलों और समुद्रों का जल उतना गर्म नहीं होता, जितना कि आसपास की धरती। पानी का यह गुण जीवन-पदार्थ के लिए बहुत सहायक है और जीवन के आरम्भ में इससे अवश्य सहायता मिली होगी। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जल में रहनेवाले जीवों का जीवन स्थिर रखने के लिए पानी का जल्द अधिक न गर्म हो जाना बहुत लाभदायक है।

पानी का दूसरा मुख्य स्वभाव यह है कि वह जमने के पहले फैल जाता है और दूसरे द्रव पदार्थ ज्यों-ज्यों ठंढे किये जायँ त्यों-त्यों घने (भारी) होते जाते हैं, और अन्त में जम जाते हैं। जल में भी ऐसा ही होता है जबकि उसका ताप ४° श० रह जाता है। इससे अधिक ठंढा होने पर वह भारी होने के बदले हल्का हो जाता है। इसलिए जब समुद्र, झील या नदी का पानी ४° श० से विशेष ठंढा होता है तो वह नीचे से ऊपर आ जाता है और नीचे के गर्म और भारी पानी के ऊपर तैरता रहता है। यही कारण है कि बर्फ़ सदा पानी के ऊपरी तह से नीचे को जमता जाता है। अगर ऐसा न होता तो बर्फ़ पानी के तह में बनना शुरू होता और शीत ऋतु में महासागरों का सारा पानी जम जाता और गर्मी में भी पूरा न घुलता। ऐसा होने से पानी में जीवन बिल्कुल असम्भव हो जाता।

इससे आपको यह विदित हो गया होगा कि मामूली ताप में पानी द्रव होता है और ०° श० तक ठंढा करने से वह बर्फ़ हो जाता है और १००° श० तक गर्म करने पर भाफ बन जाता है। इसलिए पानी द्रव्य के तीनों रूप धारण करता है, अर्थात् द्रव, ठोस और गैस। पानी की एक ही बूँद बहुत-से अद्भुत अनुभव कर सकती है। एक समय वह अपार सागर का भाग हो जाती, दूसरे समय भाफ बनकर उड़ती हुई आकाश में बादल का अंश हो जाती और वायु में इधर-उधर उड़ते हुए द्रवीभूत होकर पृथ्वी पर फिर पानी की बूँद होकर गिर पड़ती तथा बहकर किसी नदी, नाले, झील, या उसी समुद्र में जा मिलती है। या वह ओस या कोहरा बनकर गिरती और किसी वनस्पति के शरीर में पहुँच जाती या कोई जानवर या मनुष्य उसे पी जाता है। यह भी हो सकता है कि वह आकाश से किसी ऐसे पहाड़
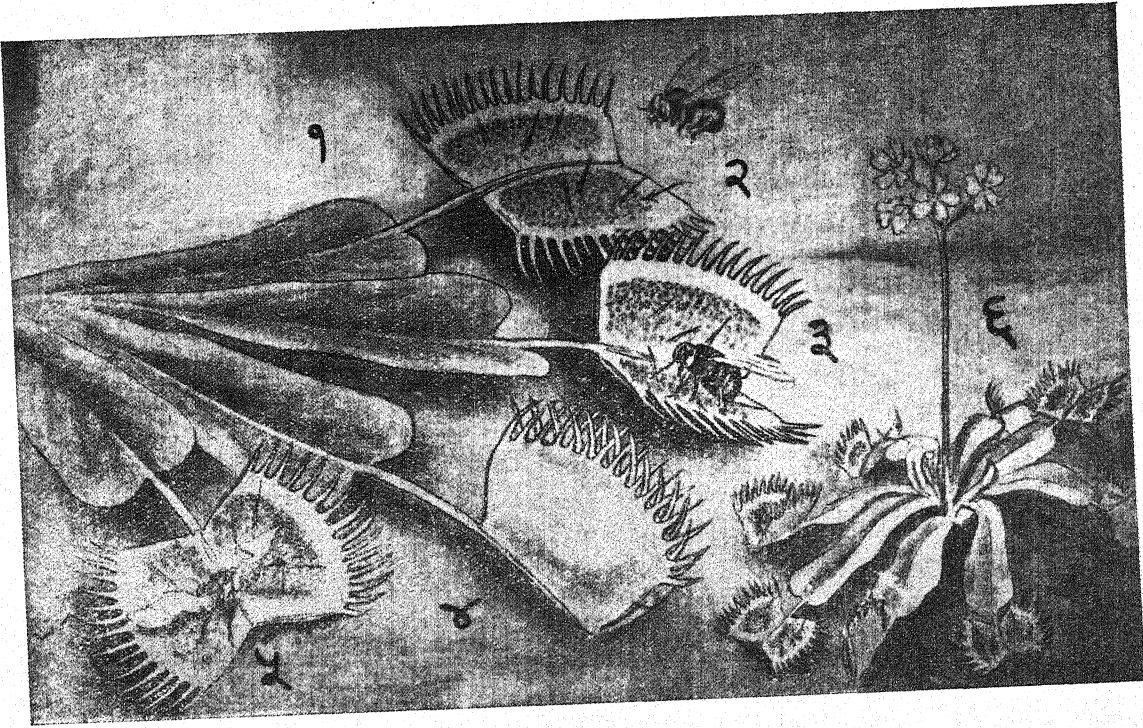
## एक जीवभक्षी पौधा

पिछले अंक में हम 'तुंबिलता' ( Pitcher Plant ) नामक एक मांसाहारी पौधे का चित्र और विवरण दे चुके हैं। यहाँ एक और ऐसे ही पौधे का चित्र है। इसको अंग्रेजी में 'वीनस फ्लाइ ट्रेप' ( Venus's Fly-trap ) कहते हैं। इस पौधे में इस तरह की कुछ पँखुड़ियाँ होती हैं, जिनमें पुस्तक के दो जुड़े हुए पन्नों की तरह दो भाग होते हैं। इनके कटावदार किनारों पर एक प्रकार के रोएँ होते हैं। अब इस पौधे की अद्‌भुत लीला का कुछ हाल सुनिए। इसकी ऊपर वर्णित पँखुड़ियाँ सामान्य दशा में खुली रहती हैं (दे० नं० १)। किन्तु ज्योंही कोई मक्खी या पतिंगा इसके समीप पहुँचता है (दे० नं० २) और इनमें से किसी पँखड़ी पर आकर बैठता है (दे० नं० ३), त्योंही ये पँखड़ियाँ एकदम बन्द हो जाती हैं। उनके दोनों किनारे के रोएँ एक-दूसरे में फँस जाते हैं ( दे० चित्र में नं० ४ ), और मक्खी उसमें बन्द हो जाती है। जब पौधा अपने विशेष अंगों द्वारा उस मक्खी में से आहार-तत्त्व खींच लेता है, तब पँखड़ियाँ फिर खुल जाती हैं ( दे० चित्र में नं० ५ ), और मक्खी का शव शेष रह जाता है। चित्र में दाहिनी ओर नं० ६ में पूरा पौधा अलग से दिखाया गया है।
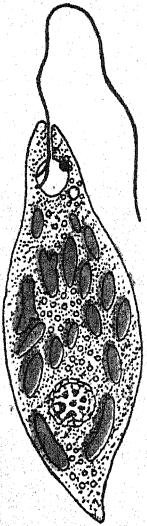
## ( बाईं ओर ) वनस्पति-जैसा एक जीव

यह यूग्लीना ( Euglena ) नामक एक सूक्ष्म जंतु का ( आकार में चार सौ गुना बढ़ाया हुआ ) चित्र है। इस जंतु में विशेषता यह है कि यों तो हर जीवधारी की तरह यह भी मुख द्वारा आहार ग्रहण करके अपने उदर में पहुँचाता और अन्य जंतुओं ही की तरह उसे पचाता है, पर साथ ही इसमें पर्णहरिण या क्लोरोफ़िल नामक तत्त्व भी होता है, जिसके कारण इसके कुछ भाग हरे रंग के होते हैं। यह हरा पदार्थ वनस्पति-वर्ग की वस्तु है और इसकी विशेषता के कारण यह जंतु वनस्पतियों की भाँति ही अपने शरीर के तंतुओं की रचना करता है। इस चित्र में हरे भाग में क्लोरोफ़िल का अंश है।

पर या ठंडे देश में गिरे और जमकर ऐसे कड़े बर्फ़ का रूप ग्रहण कर ले कि जन्तु-जीव उसको पैरों तले रौंदे या मनुष्यगण उस पर खेल-कूद करें। पृथ्वी, झील, पेड़, पत्ते या हमारे शरीरों से वही बूँद फिर धीरे-धीरे भाफ बनकर उड़ सकती है या कोई उसे पकाने के बर्तन में खौलाकर तेज़ी से भाफ बना दे सकता है। इस प्रकार जल सदा भूमण्डल में चक्कर लगाता और अपना चोला बदलता रहता है। शुद्ध जल एक यौगिक वस्तु है, जो उद्जन (हाइड्रोजन) के ओषजन (आक्सिजन) में जलने से बन जाता है। दो भाग उद्जन के एक भाग ओषजन से मिलने पर पानी बन जाता है। इस संबंध में आप दूसरे विभाग में पढ़ेंगे।

### (२) ओषजन और जीव

अब हम आपको कुछ थोड़ा हाल इन दो वायव्यों (Gases) का बताना चाहते हैं, जिनसे जल बनता है। ओषजन एक तत्व है, जो अपनी स्वतन्त्र अवस्था में वायु में पाया जाता है और जिसका वायु के हर पाँच भाग में एक भाग होता है। इसका सबसे मुख्य लक्षण, जो जीवन के लिए अत्यन्त ज़रूरी है, यह है कि वह वस्तुओं के जलने में सहारा देता है। बहुत-सी चीज़ें वायु की अपेक्षा ओषजन में बहुत जल्दी और तेज़ी से जलती हैं और जो चीज़ें इसमें जलती हैं उनसे मिलकर वह नये मिश्रित पदार्थ बना देता है। कभी-कभी उसमें वस्तुयें धीरे-धीरे भी जलती हैं, जैसे कि लोहा पड़ा-पड़ा मोर्चा खाने लगता है। मोर्चा लगना एक रीति से लोहे का धीरे-धीरे जलना है और मोर्चा लोहे और ओषजन का यौगिक है। लेकिन जब हम अनार और फुलझड़ी को छुड़ाते हैं, तो उसमें भरे हुए लोहे का रेत तेज़ी से भभक उठता है और सफ़ेद चकाचौंध करनेवाली रोशनी पैदा करता है, क्योंकि वह उन आतिशबाज़ियों में भरे हुए रासायनिक वस्तुओं के ओषजन से मिलने पर तेज़ी से जल उठता है। जिस प्रकार आतिशबाज़ी की रासायनिक वस्तुओं में से छूटकर ओषजन उनमें महान् शक्ति पैदा कर देता है, उसी प्रकार जो भोजन हम ग्रहण करते हैं, वे शरीर में जलकर ओषजन बनाते हैं और इसी ओषजन से हम अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि ओषजन जीवधारियों के लिए कैसा आवश्यक है; क्योंकि जीवन भर सदा किसी-न-किसी प्रकार की क्रिया होती रहती है और हर काम के लिए शक्ति चाहिए। यह शक्ति ओषजन से ही प्राप्त होती है।

### (३) उद्जन और जीव

पानी का दूसरा भाग उद्जन तत्त्वों में सबसे हलका है। हवा से चौदह गुना हल्का होने के कारण यही गैस गुब्बारों में भरा जाता है, जिसके कारण वे हवा में ऊपर उड़ते चले जाते हैं। स्वतन्त्र अवस्था में वह आम तौर से नहीं पाया जाता; लेकिन कभी-कभी ज्वालामुखी पर्वतों से निकलनेवाले वायव्यों में मिल जाता है। मिश्रित रूप में वह बहुत-सी यौगिक वस्तुओं जैसे मिश्री, चीनी या चर्बी इत्यादि में पाया जाता है।

### (४) कार्बन और जीव

दूसरी सरल मिश्रित वस्तु कार्बन-द्वयोषिद (कार्बन डाइआक्साइड) भी जीवन-मूल के लिए पानी की तरह ही आवश्यक है। इस गैस का विचित्र गुण यह है कि पानी और हवा दोनों में यह क़रीब-क़रीब एक ही मात्रा में पाया जाता है। इसलिए जीवधारी इसको दोनों ही पदार्थों से प्राप्त करते हैं। कार्बन-द्वयोषिद पानी में घुलकर कार्बोनिकाम्ल (कार्बोनिक एसिड गैस) बन जाता है। यह गैस बहुत कोमल होता है और पानी को क़रीब-क़रीब अविषम (Neutral) रखने में सहायक होता है, अर्थात् न अधिक क्षारीय न आम्लिक। यह बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि जब तक पानी शिथिल (Neutral) रहता है, वह अपने से संसर्ग में आनेवाली चीज़ों से न तो संगत करता है और न उन पर कोई प्रभाव दिखाता है। यदि पानी क्षारीय अथवा आम्लिक हो जाय, तो वह रासायनिक दृष्टि से क्रियाशील हो जाता है और शीघ्र उसमें जीवन असम्भव हो जाता है। इसलिए वास्तव में सागर और जीवन-मूल या जीवधारियों की आन्तरिक दशाएँ ऐसी सधी हुई होती हैं कि वे उनको स्थिर और अविषम बनाये रखती हैं।

यह कार्बन-द्वयोषिद भी दो तत्त्वों का बना है—अर्थात् कार्बन और ओषजन—और जीवित पदार्थों को अधिक परिमाण में जिस कार्बन की आवश्यकता होती है, उसका मुख्य साधन यही है। यथार्थ में कार्बन ही वह ठठरी अथवा चट्टान है जिस पर सम्पूर्ण जीवन बनाया गया है। जीवधारियों का आधे से अधिक ठोस अंश इसी के द्वारा बनता है। परन्तु कार्बन शरीर का इतना आवश्यक भाग होते हुए भी किसी भी प्राणी में स्वतन्त्र अवस्था में नहीं मिलता। सच तो यह है कि यदि शुद्ध कार्बन खा लिया जाय तो जीवन-मूल उसको पचा ही नहीं सकता। अतः इसको खाने से शरीर को कुछ लाभ नहीं होता। स्वतन्त्र अवस्था में कार्बन तीन रूपों में होता है—कोयला, सुरमा और हीरा। प्राणि-जीवन और वनस्पति-जीवन की कोई भी वस्तु

जलाई जाय, तो पीछे थोड़ी काली राख ज़रूर ही बच जायगी। इससे यह सिद्ध होता है कि उसमें कार्बन भी ज़रूर है। यह हमारा सौभाग्य है कि प्रकृति ने हमारे लिए ऐसी अनमोल वस्तु को नाना प्रकार के भोजनों में स्वयं मिला दी है, जिसके कारण हमको उसे कहीं ढूँढ़ना नहीं पड़ता।

### (५) नोषजन और जीव

चौथा महत्त्वशील तत्त्व, जो जीवित शरीरों में पाया जाता है, नोषजन (नाइट्रोजन) वायव्य है, जो स्वतन्त्र अवस्था में वायु में मिलता है। वायु के हर पाँच भाग में चार भाग नोषजन होता है। ओषजन और कार्बन की भाँति यह वायव्य दूसरे तत्त्वों से आसानी से नहीं मिलता, तो भी सब जीवित कोषों में वह दूसरे तत्त्वों से मिला हुआ पाया जाता है। यदि यह पदार्थ भोजन में न हो, तो कोई वस्तु बढ़ न सके। इसलिए जीवधारियों के लिए भी यह वायव्य आवश्यक है।

### (६) अन्य तत्त्व और जीव

इन चारों तत्त्वों के संयोग से, जिनका हाल हम ऊपर बता चुके हैं, बहुत-सी ऐसी संयुक्त यौगिक वस्तुएँ बन जाती हैं कि अब तक रसायनवेत्ता उनमें से कई एक की रचना ठीक-ठीक नहीं निश्चय कर सके हैं। इन्हीं में से एक पदार्थ प्रत्यामिन (प्रोटीन) है, जो जीवधारियों का एक ज़रूरी अंश है। सभी प्रत्यामिन में नोषजन, कार्बन और ओषजन के अतिरिक्त और भी तत्त्व हैं, जैसे स्फुर और गन्धक। इनकी कठिन बनावट का कुछ ज्ञान आपको इस बात से हो सकता है कि उनके एक अणु में एक हज़ार से अधिक परमाणु हो सकते हैं। प्रत्यामिन जीवित पदार्थ का ऐसा सबसे ज़्यादा लाक्षणिक अंश है कि उसके बिना हम उनका ध्यान भी नहीं कर सकते। चैतन्य वस्तुओं में स्फुर चूना और अन्य चीज़ों के साथ मिला हुआ होता है। हरएक जीवित कोष के केन्द्र का यह मुख्य भाग है और इसीलिए वह जीव के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है। जीवधारी इसको ऐसे खाद्य पदार्थों द्वारा ग्रहण करते हैं, जैसे अंडा, दूध, पनीर, और बिना छने आटे की रोटी। बहुत-से शाक-पात में भी स्फुर पाया जाता है। गन्धक बहुत ही कम मात्रा में केन्द्र के जीवन-मूल में होता है।

**हमारे शरीर के मूल तत्त्व**

प्रतिशत ५५ भाग कार्बन (क), २३ भाग ओषजन (ओ), १४ भाग नोषजन (नो), ७ भाग उद्जन (उ) और १ भाग स्फुर-गंधक आदि (स० ग०)।

इससे आप जान गये होंगे कि जीवन-मूल की मुख्य वस्तुएँ निम्नलिखित मात्रा में होती हैं:—

| | |
|---|---|
| कार्बन (क) | ५५ भाग |
| ओषजन (ओ) | २३ ,, |
| नोषजन (नो) | १४ ,, |
| उद्जन (उ) | ७ ,, |
| स्फुर, गन्धक आदि (स० ग०) | १ ,, |

उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त और भी छोटी छोटी चीज़ें पोटाश (खार), चूना, सोडा, लोहा इत्यादि हैं, जिनसे प्राणियों के चैतन्य और क्रियाशील भाग नहीं बनते, लेकिन वे उनके शरीर में अन्य परिस्थितियों में लाभदायक होते हैं। हमारे शरीर में पाचन क्रिया-सम्बन्धी कुछ कोष हमारे भोजन से चूना लेकर थोड़े से स्फुर में संयुक्त करके हमारे शरीर को उचित स्थिति में क़ायम रखने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार लोहा तथा अन्य शेष वस्तुएँ भी दूसरे तत्त्वों को सहायता देने के लिए आवश्यक हैं।

# मनुष्य की कहानी
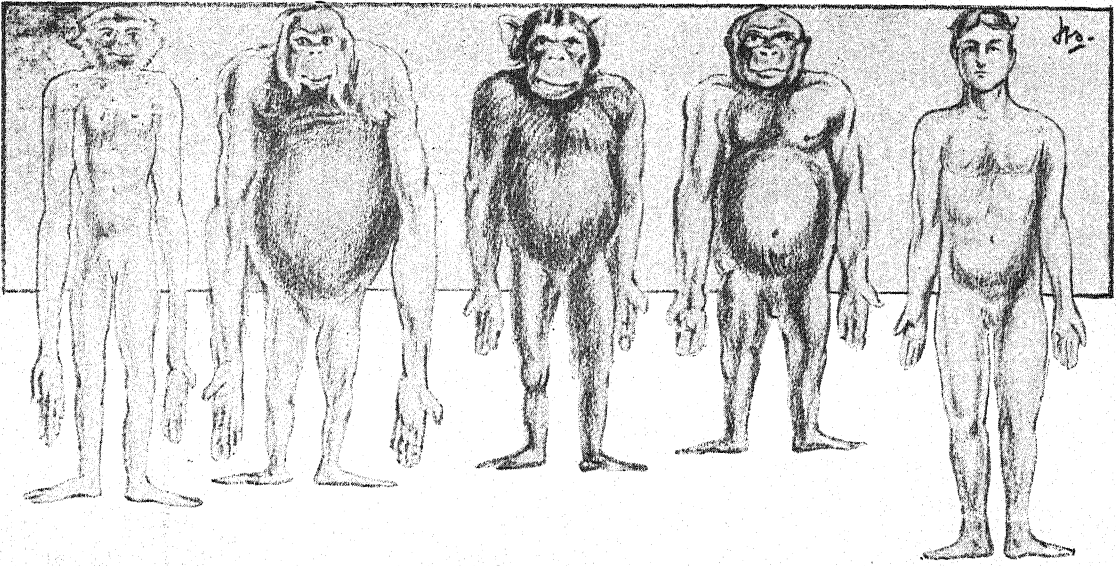
**पाँचों प्रकार के मानवसम बानर**

( बायीं ओर से ) गिब्बन, ओरेंगउटांग, चिम्पाञ्ज़ी, गोरिल्ला और आदमी। ये सब खड़े बनाये गये हैं, जिससे धड़ के मुक़ाबले में उनके हाथ पैरों की लम्बाई साफ़ प्रगट हो रही है।
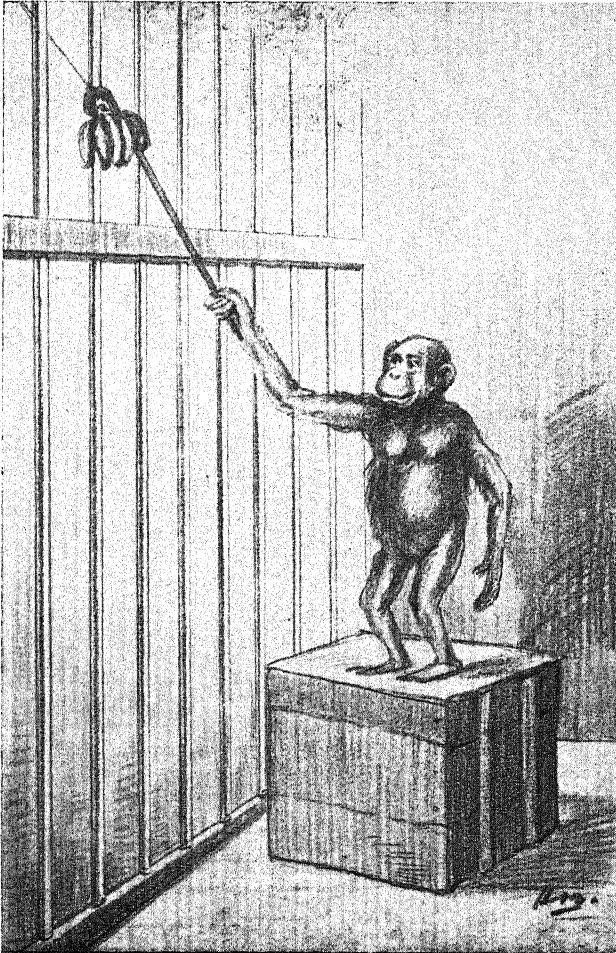
**( बाईं ओर ) चिम्पाञ्ज़ी का बुद्धिबल**

इसमें सन्देह नहीं कि चिम्पाञ्ज़ी और मनुष्य के मस्तिष्क की मौलिक रचना एक ही-सी है, यद्यपि चिम्पाञ्ज़ी का दिमाग़ बहुत साधारण है और बिल्कुल हमारे दिमाग़ की तरह काम नहीं करता। यह सिद्ध हो चुका है कि वह सिर्फ़ नक़ल ही नहीं कर सकता, या जो चालाकी के काम वह एक बार संयोग से कर लेता है उनका करना याद ही नहीं रखता, वरन् अपने कार्यों का आगा-पीछा भी थोड़ा-बहुत सोच सकता है। वह कोट-पतलून पहनना, कुर्सी पर बैठकर छूरी-काँटे से खाना और चाय पीना, बाइसिकिल पर सैर करना, और सिगरेट पीना ही नहीं सीख सका है, वरन् उसके सामने कोई समस्या—जो बहुत कठिन न हो—रख दी जाय, तो वह उसे सोच-विचारकर हल कर डालता है। इस प्रकार के कठिन काम उसने कर दिखाये हैं। विलायत में एक चिम्पाञ्ज़ी को बड़े कटहरे में बन्द कर दिया और कटहरे के बाहर केलों का एक गुच्छा काफ़ी ऊँचाई पर लटका दिया गया। कटहरे के अन्दर उसकी पहुँच के बाहर एक टेढ़ी मूठवाली छड़ी लटका दी गई, और कोने में एक लकड़ी का बक्स रख दिया गया। उस होशियार चिम्पाञ्ज़ी ने बिना किसी पहले अनुभव के अपने आस-पास की दशा को ताड़ लिया। बक्स को ढकेलकर वह उस पर चढ़ गया और छड़ी उतार ली, फिर छड़ी और बक्स केलों की ओर ले गया और बक्स पर खड़े होकर छड़ी से केलों को तोड़कर खा गया। तब कौन कह सकता है कि चिम्पाञ्ज़ी मूर्ख है ?
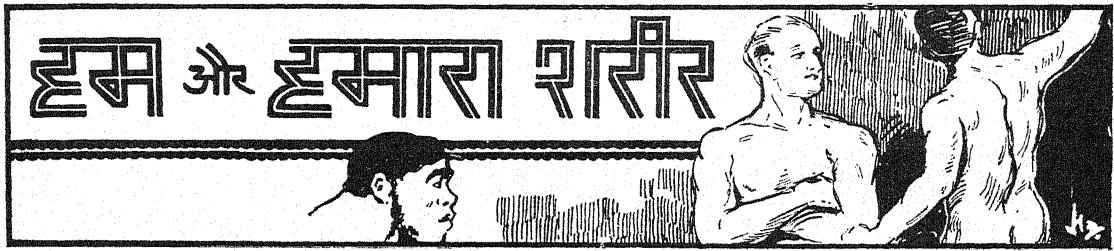
# हम कौन और क्या हैं ?

## अन्य प्राणियों से हमारी श्रेष्ठता

**जंतु-जगत् में मनुष्य का कौन-सा स्थान है और कौन उसके निकट सगे-संबंधी हैं, यह हम पिछले अंक में देख चुके। यहाँ हमें देखना है कि एक पशु होकर भी मनुष्य में कौन सी विशेषता है जिससे वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है ।**

इस विषय के पहले लेख में हम यह विचार कर चुके हैं कि मनुष्य-जाति का इस संसार-चक्र में कौन-सा स्थान है। अन्य प्राणियों के साथ तुलना करके हमने यह देखा है कि इस व्यापक संसार के असंख्य प्राणियों में मनुष्य भी एक प्राणी है। मनुष्य की रचना जीवनशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के नियमों की दृष्टि से अन्य जीवधारियों की शरीर-रचना से भिन्न नहीं है। मानव-शरीर उन्हीं मुख्य संस्थानों के समूह से बना हुआ है, जिनसे अन्य जीव बने हैं। इस रचना के साधारण तत्त्व सब प्राणियों में एक-से ही हैं। मनुष्य के शरीर में लगभग दो सौ स्नायु (Muscles) हैं, परन्तु उनमें एक भी ऐसा नहीं जो केवल उसके ही शरीर में विद्यमान हो अर्थात् और कहीं न पाया जाय। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की गर्भावस्था बहुत समय तक एक-सी ही रहती है। सच तो यह है कि मनुष्य के जीवन में जितने भी काम होते हैं, वे अन्य जानवरों की ही तरह होते हैं, किन्तु कोई बात कम है, कोई ज़्यादा। न तो मनुष्य में शेर या हाथी-जैसा बल है, न वह उनके बराबर खा ही सकता है, न उसकी आवाज़ ही उतनी दूर तक पहुँच सकती है, जितनी दूर तक शेर की दहाड़ या हाथी की चिंघाड़। उसकी सुनने की शक्ति भी उतनी तेज़ नहीं, जितनी जंगल में रहनेवाले हिरन, बिल्ली, ख़रगोश इत्यादि की। उसकी दृष्टि भी उतनी तेज़ नहीं, जितनी चील व अन्य चिड़ियों की। उसके सूँघने की शक्ति गिद्ध व चींटी से भी बहुत कम है। इन सब बातों में कम होते हुए भी मनुष्य कैसे सब जानवरों पर हावी रहता है ? केवल अपनी बुद्धि और कपट से।

"आदमी का मन या मस्तिष्क वह चीज़ है, जिसने आज उसे अन्य जीवधारियों से ऊँचा उठा रक्खा है। मस्तिष्क ही की बदौलत आदमी अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ऊँचा उठकर आज सभ्य बन पाया है। वह हवा में उड़ता है, समुद्र की छाती पर रौंदता हुआ चलता है, सात समुद्र पार बैठे हुए अपने मित्रों से बातचीत करता है, यहाँ तक कि उन्हें उतनी ही दूर पर बैठे-बैठे देखने भी लगा है। उसने प्रकृति पर विजय पा ली है, वह बीमारी और मृत्यु तक पर विजय पाने को तुला बैठा है।"

### वानर-कक्षा के विशिष्ट लक्षण

यह सब होते हुए भी जैसा डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा ने अपनी 'स्वास्थ्य और रोग' नामक पुस्तक में लिखा है, "मनुष्य एक जानवर है, जिसके चार शाखाएँ होती हैं। इनमें दो शाखाएँ चीज़ों को पकड़ने, लड़ने और लिखने इत्यादि के काम में आती हैं और दो शाखाएँ चलने, फिरने, भागने, दौड़ने के काम में आती हैं। अर्थात् मनुष्य दो-पाया जानवर है; बचपन में जब वह खड़ा होना नहीं जानता, मनुष्य भी चौपाया होता है; इस समय अगली शाखाएँ भी पृथ्वी पर दौड़ने और चलने-फिरने में सहायता देती हैं।" प्राणिशास्त्र-वेत्ताओं अथवा विकासवादियों ने ही नहीं, परन्तु विकासवाद के विरोधियों ने भी शरीर की रचना का साम्य देखकर मनुष्य का समावेश स्तनधारी श्रेणी की वानर-कक्षा में किया है। संस्कृत में 'वानर' आधे मनुष्य को कहते हैं। जो विशेषताएँ वानर-कक्षा में पाई जाती हैं, वे सब मनुष्य में भी हैं। उनमें से मुख्य ये हैं। दोनों ही में और प्राणियों की अपेक्षा खोपड़ी और दिमाग़

बड़ा होता है। आँखें सामने होती हैं और सामने ही देखती हैं। हाथ-पाँव लम्बे होते हैं और उनमें अन्य पदार्थों को ग्रहण करने वाली पाँच-पाँच उँगलियाँ होती हैं, जो इच्छानुसार घूमती हैं। अँगूठा घूमकर सामने आ जाता है और यदि सब उँगलियों में नहीं तो कम-से-कम अँगूठे का नाख़ून ज़रूर चपटा होता है। सभी में स्त्री के वक्षस्थल पर दो स्तन होते हैं, जिनके द्वारा वे अपने बच्चों को दूध पिलाती हैं। हँसली की अस्थियाँ दृढ़ और पूरी तरह से बढ़ी होती हैं। दूध के दाँत गिरकर स्थिर दाँत उगते हैं और इनकी संख्या कक्षा के सब प्राणियों में नियत होती है। इनमें गर्भावस्था में माता और गर्भ का संग नाल द्वारा होता है। हम पहले लेख में यह भी बता चुके हैं कि मनुष्य का वंश वन-मानुषों के वंश से अलग है, जैसे वन-मानुषों का वंश अन्य वानर-वंशों से। परन्तु उपर्युक्त लक्षण सभी में पाये जाते हैं। मनुष्य के सबसे निकट सम्बन्धी मानव-सम वानरों का विस्तारपूर्वक वर्णन जन्तु-जगत् के भाग में क्रमशः आपको मिलेगा। परन्तु उनके मुख्य लक्षण, जिनसे कि वे अन्य प्रधान-भागीयों से विभिन्न किये जाते हैं, हम यहाँ देते हैं। उनका अपूर्ण खड़ा आसन; उनके हाथ-ऐसे पैर जिनसे कि वे ज़मीन पर भलीभाँति नहीं चल सकते; उनका आगे को बढ़ा हुआ सिर; मज़बूत, बिना ठोढ़ी के, आगे को निकले हुए जबड़े; नीचा और पीछे को दबा हुआ माथा; भौं के ऊपर ऊँची निकली हुई हड्डी— ये उनके मुख्य लक्षण हैं। मनुष्य की खोपड़ी से उनकी खोपड़ी में आधी से कम जगह होती है। यह कहा जाता है कि वन-मानुषों का मानसिक स्वभाव दो-तीन वर्ष के आदमी के बच्चे के बराबर होता है। किन्तु शारीरिक गुणों में मनुष्य और वन-मानुषों में केवल मात्रा का ही अन्तर है।

### मनुष्य-वंश और वन-मानुषों के गुणों की तुलना

जिस प्रकार उपर्युक्त गुणों से मानव-सम बन्दर अन्य वानरों से पृथक् किये जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अन्य प्रधानभागियों से कई मुख्य लक्षणों द्वारा अलग मानव-वंश (Homidæ) में रक्खा जाता है। मनुष्य बिलकुल सीधा खड़ा होकर घंटों चलता-फिरता है, किन्तु दूसरे जीव अपनी पिछली टाँगों पर थोड़े ही समय तक खड़े हो सकते हैं। गोरिल्ला और चिम्पाञ्जी ही ऐसे हैं जो कमर झुकाये पिछली टाँगों पर खड़े होकर दो-चार पग चल-फिर लेते हैं। बन्दर भी मदारी के सिखाने से रस्सी या छड़ी पकड़कर दो पैरों पर चल लेता है; लेकिन कोई प्राणी मनुष्य की तरह बिल्कुल सीधा होकर नहीं चल-फिर सकता। कहा जाता है कि मनुष्य के पूर्वजों ने जब पिछली टाँगों पर चलना सीख लिया, तो उनकी भुजाएँ और हाथ दूसरे कार्य करने के लिए ख़ाली हो गये और उनको अवसर मिला कि हाथों को धीरे-धीरे नाना प्रकार के कामों में लगाते हुए निपुण कार्य करने योग्य बना लें। इस प्रकार हाथ और पैरों के काम अलग-अलग बँट जाने से उनके रूप में भी अन्तर हो गया। हम अपने हाथ के अँगूठे की तरह पैर के अँगूठे को उँगलियों से नहीं छुआ सकते और न बन्दरों की तरह
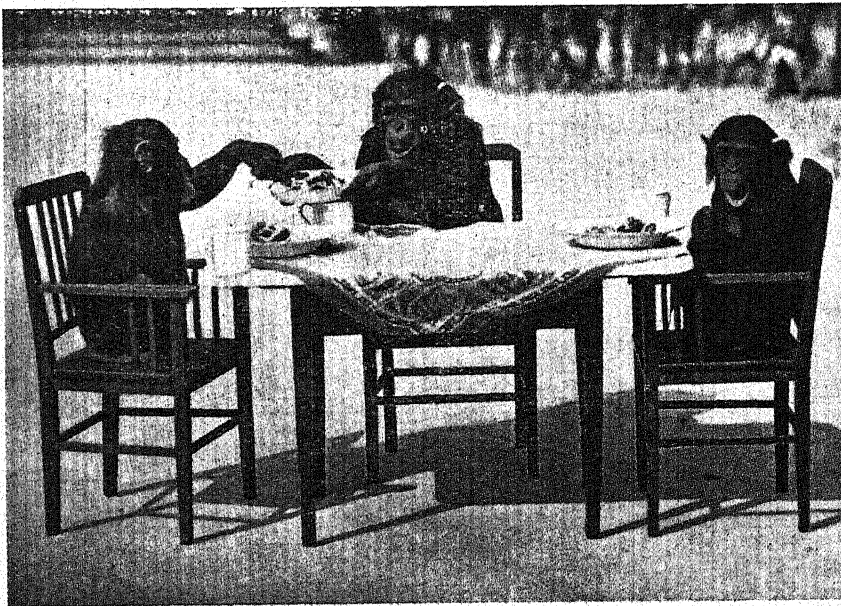
**चिम्पाञ्ज़ी की होशियारी**

इस चित्र में तीन पालतू चिम्पाञ्ज़ी कुर्सी और मेज़ पर बैठकर आदमी की तरह चाय पी रहे हैं और छुरी-काँटे से खाना खा रहे हैं।

पैरों से कोई चीज़ पकड़ने का काम ले सकते हैं। अन्य वन-मानुषों से तुलना करते हुए पता लगता है कि हमारी भुजाएँ टाँगों से अधिक छोटी होती हैं और शरीर पर बाल भी बहुत कम होते हैं। मानव-सम बन्दरों के समान न तो मनुष्य में जबड़े आगे निकले हुए हैं, न आँखों के ऊपर की हड्डियाँ उनकी-सी उभरी हुई हैं, और न उसके कुक्कुर दन्त ( Canine teeth ) या कीलें अन्य दाँतों से लम्बे होते हैं। मनुष्य में साफ़ ठोड़ी होती है और उसकी नाक नुकीली और ऊपर की ओर गड्ढेदार होती है। ऊपरी होंठ के बीचोबीच में एक नाली भी बनी हुई है। परन्तु सबसे मुख्य विशेषता उसके मस्तिष्क में है। मनुष्य अपने शरीर की साधारण रचना से बन्दरों से इतना भिन्न नहीं किया जा सकता है, जितना कि उनकी तुलना में अपने बड़े मस्तिष्क द्वारा। उसका मस्तिष्क बड़े-से-बड़े वन-मानुष के मस्तिष्क से दो या तीन गुना बड़ा होता है। मनुष्य का मस्तिष्क वज़न में १३८० माशे, गौरिल्ला का ६०० माशे, चिम्पाञ्ज़ी का ४५० माशे और घोड़े का ६५० माशे होता है।

सर आर्थर कीथ का कथन है कि मनुष्य के गुणों में से ९८ चिम्पाञ्ज़ी में, ८७ गोरिल्ला में, ८४ गिब्बन में, ६० पश्चिमी गोलार्द्ध (नई दुनिया) के बन्दरों में, ५६ उरंग-ओटांग में और ५३ पूर्वी गोलार्द्ध ( पुरानी दुनिया ) के बन्दरों में मिलते हैं। सर्वश्रेष्ठ वन-मानुष और सबसे प्राचीन मनुष्य में इतना मानसिक भेद है कि उनकी तुलना करना बहुत कठिन है।

**मनुष्य के मस्तिष्क का चित्र**
बायीं ओर से इसमें बोलने, स्वाद लेने, सुनने और देखने के केन्द्र दिखाये गये हैं।

## चिम्पाञ्ज़ी की होशियारी

इसमें सन्देह नहीं कि चिम्पाञ्ज़ी और मनुष्य के मस्तिष्क की मौलिक रचना एक ही-सी है, परन्तु चिम्पाञ्ज़ी का दिमाग़ बहुत साधारण है और बिल्कुल हमारे दिमाग़ की तरह काम नहीं करता। यह सिद्ध हो चुका है कि वह सिर्फ़ नक़ल ही नहीं कर सकता, या जो चालाकी के काम वह एक बार संयोग से कर लेता है उनका करना याद ही नहीं रखता है, वरन् अपने कार्यों का आगा-पीछा भी थोड़ा बहुत सोच सकता है। वह कोट-पतलून पहनना, कुर्सी पर बैठकर छूरी-काँटे से खाना और चाय पीना, बाइसिकिल पर सैर करना, और सिगरेट पीना ही नहीं सीख सका है, वरन् उसके सामने कोई समस्या—जो बहुत कठिन न हो—रख दी जाय, तो वह उसे सोच-विचारकर हल कर डालता है। इस प्रकार के कठिन काम उसने कर दिखाये हैं। विलायत में एक चिम्पाञ्ज़ी को बड़े कटहरे में बन्द कर दिया और कटहरे के बाहर केलों का एक गुच्छा काफ़ी ऊँचाई पर लटका दिया गया। कटहरे के अन्दर उसकी पहुँच के बाहर एक टेढ़ी मूठवाली छड़ी लटका दी गई, और कोने में एक लकड़ी का बक्स रख दिया गया। उस होशियार चिम्पाञ्ज़ी ने बिना किसी पहले अनुभव के अपने आस-पास की दशा को ताड़ लिया। बक्स को ढकेलकर वह उस पर चढ़ गया और छड़ी उतार ली, फिर छड़ी और बक्स केलों की ओर ले गया और बक्स पर खड़े होकर छड़ी से केलों को तोड़कर खा गया। ( देखो पृष्ठ १८२ का चित्र ) तब कौन कह सकता है कि चिम्पाञ्ज़ी मूर्ख है? और भी बहुत-से प्राणियों में ऐसे ही उम्दा दिमाग़ होते हैं, लेकिन मनुष्य के निकट कोई भी नहीं पहुँच सकता। वे बहुत-से बुद्धि के काम कर दिखाते हैं, किन्तु यह कहना कि चिम्पाञ्ज़ी के बराबर भी और किसी में अपने कर्त्तव्यों का परिणाम सोचने की योग्यता है या नहीं, असम्भव है। यों तो बन्दर और रीछ नाचना, पैसा माँगना, सलाम करना, पैर छूना, मूढ़े पर बैठकर डमरू बजाना, अपनी स्त्री को प्यार करना और उससे रूठना सीख लेते हैं। गाय-बकरी अपने भोजन का समय पहचान जाती हैं। बिल्ली मिठाई खाने के लिए अलमारी की कुंडी खोलना सीख लेती है। सरकसों में शेर, हाथी, घोड़े बहुत-से अनोखे काम कर दिखाते हैं।

## मनुष्य कैसे वन-मानुषों से पृथक् हुआ

इन बातों से मालूम होता है कि मनुष्य और ऊँचे-से-

ऊँचे अन्य पशुओं की बुद्धि में इतना विशाल अन्तर होने का कारण मनुष्य के मस्तिष्क का बड़ा और भारी होना ही है। मनुष्य का औसत डील के दिमाग़ का बोझ भारी-से-भारी गौरिल्ला के मस्तिष्क से दुगुने से भी अधिक होता है। इसकी वृद्धि उसके सबसे विशेष भाग, बृहत् मस्तिष्क (Cerebral hemisphere) के वल्क (Cortex) में ही हुई है, जो बुद्धि, स्पर्श-ज्ञान, वाक्शक्ति, और विचार आदि का केन्द्र है। हमारे बृहत् मस्तिष्क के वात-कोषों की संख्या ९,२००,०००,००० (नौ अरब बीस करोड़) है। इसी कारण वह बहुत पेचीदा हो गया है। मस्तिष्क की वृद्धि से ही जैसे वन-मानुषों ने अन्य प्राणियों की अपेक्षा उच्चता प्राप्त की, उसी प्रकार मनुष्य भी वन-मानुषों पर मस्तिष्क की अत्यधिक वृद्धि के कारण ही उच्चता को प्राप्त हुआ। मस्तिष्क की उन्नति ने उसे शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल प्रयुक्त करना सिखा दिया। उसमें सोचने, विचारने, पढ़ने, लिखने इत्यादि के केन्द्र अन्य जानवरों की अपेक्षा बड़े और उत्तम होते हैं। उसमें बुद्धि अधिक होती है; जो काम अन्य जानवर नहीं कर सकते, उन्हें वह कर सकता है। वह किसी विषय पर अपने मन में वाद-विवाद कर, उस विषय का निर्णय कर सकता है, जो और कोई नहीं कर सकता। बुद्धि की ही बदौलत वह शेर, हाथी, ह्वेल को भी—जो उससे कहीं अधिक बलशाली हैं—सहज में वश में कर लेता है। शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल की उन्नति होने पर मनुष्य में धीरे-धीरे अग्नि, जल, भोजन के पदार्थों और वस्त्रों के आच्छादन का ज्ञान हुआ। पत्थर फेंकना, निशाना लगाना, पत्थरों के अस्त्र बनाना इत्यादि प्रारम्भिक कार्यों के पश्चात् शनैः-शनैः मकान बनाने और बीज बोकर खेती करने का ज्ञान उसने प्राप्त किया और क्रमशः वन्य जीवन से सभ्य जीवन में उसकी परिणति हुई। प्रथम अंगविक्षेपों, फिर चित्रमय संकेतों और उसके बाद अक्षरमय चिह्नों से अपनी इच्छा को प्रकट करने की शैली उसने ढूँढ़ निकाली। विचार करने की उसकी जैसी-जैसी शक्ति बढ़ती गई, वैसे-वैसे उसके पास भिन्न-भिन्न साधन भी इकट्ठे हो गये और इसी अनुपात में उसमें और वन-मानुषों में बड़ा अन्तर पड़ता गया। प्रोफ़ेसर सोलस, कीथ और हेक्ल के लगाये हुए हिसाब के अनुसार इस संसार में मनुष्य का प्रादुर्भाव हुए आज लगभग दस लाख (१०,००,०००) वर्ष बीत चुके हैं। इतनी अवधि में मनुष्य के बुद्धि सामर्थ्य से उसमें और वन-मानुषों में इतना अन्तर पड़ गया कि उसका मापना असम्भव है। वन-मानुषों से पृथक् होकर ही मनुष्य की उन्नति समाप्त नहीं हुई, उसके विकास का चक्र बराबर गतिशील रहा और अब भी है।

### मानव मस्तिष्क, दृष्टि और कल्पना

मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा और भारी होने पर उसमें और कौन-कौन मनुष्यत्व के गुण आ गये हैं, उनका वर्णन अब हम करना चाहते हैं। मनुष्थ का मस्तिष्क प्रगतिशील है, वह किसी घटना के विषय में आगे-पीछे दोनों की कल्पना कर सकता है, परन्तु अन्य पशु केवल अपने सामने ही की घटना की अनुभूति कर सकते हैं। आदमी ऐसा जानवर है, जो स्वयं अपना अध्ययन अपने शरीर को स्पर्श करके या देखकर ही नहीं करता, किन्तु वह अपनी अभिलाषाओं और विचारों की छानबीन और इस बात का भी कुछ अनुभव कर सकता है कि अपने आस-पास की अद्भुत सृष्टि में, जिसका ज्ञान उसके समझदार मन में नेत्रों द्वारा होता है, वह क्यों भाग ले रहा है। देखभाल करने के अंग और उनकी शक्ति तो वन-मानुषों में भी वैसी ही है, जैसी हममें; किन्तु उनके दिमाग़ में वह सामग्री बहुत कम या बिल्कुल नहीं पाई जाती, जिससे वे नेत्रों द्वारा दिखाई देनेवाली चीज़ों के बारे में आगे-पीछे का नतीजा निकाल सकें। उनमें पेचीदा बातों को याद रखने की उतनी योग्यता नहीं है, जितनी हममें। अन्य प्राणियों में तो यह शक्ति और भी कम है। आगे के लेख में आप देखेंगे, कैसे आदमी की दृष्टि और उसके सीधे खड़े होने की शक्ति में एक घनिष्ट सम्बन्ध है; इन दोनों ने कैसे अन्य शक्तियों से मिलकर उसके मस्तिष्क को इस उच्च पदवी पर सुशोभित किया। यहाँ हम इतना ही बतलाना चाहते हैं कि जब मनुष्य ने सीधा खड़ा होना सीख लिया, तो उसकी दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण हो गई। उसके चलने में हाथों की ज़रूरत न रही और वह उनसे चीज़ों को पकड़ने, छूने और टटोलने के काम लेने लगा। ज्यों-ज्यों हाथों द्वारा वस्तुओं को पकड़ने और उनका ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति उसमें बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसके हाथ या उँगलियों में अनुकूलता और छूकर बोध करने की योग्यता बढ़ती गई और वह समय आ गया कि आदमी को देखभाल और छूकर अपने आस-पास की चीज़ों का पूर्ण ज्ञान होने लगा। जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, यह बात ज़रूरी हो गई कि उसे जो ज्ञान देखकर और छूकर हुआ है, उसे वह भूल न जाय। इसलिए उसके दिमाग़ को स्मरण-शक्ति की अधिक आवश्यकता पड़ी, जिसके कारण मस्तिष्क के स्मरण-शक्ति-

# प्रधानभागीय जीवधारियों (Primates) का वंशवृत्त और उसमें मनुष्य का स्थान

( चित्र पृष्ठ उलटकर देखिए )

आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जीवधारियों में 'प्रधानभागीय वर्ग' ( Primates ) का सदस्य है, और इस वर्ग की विभिन्न शाखाओं में उसका स्थान बनमानुषों ( Anthropoid Apes ) के बाद आता है। इस संपूर्ण वर्ग में मनुष्य का स्थान सबसे अधिक उन्नत अवस्था पर है। चित्र में एक मूल वृक्ष दिखाया गया है तथा उनमें से निकली हुई निम्न विभिन्न शाखाओं या वर्गों के प्रतिनिधि दिखाये गये हैं:—

**ट**—टारसीआइड्स ( **Tarsioids** ) वर्ग—इसका मुख्य प्रतिनिधि 'टारसियस' ( *Tarsius* ) जंतु है ( चित्र में नं० १ )।

**ल**—लीमराइड्स ( **Lemuroids** )—इसके निम्न प्रतिनिधि हैं:—

( चित्र नं० २ ) अय-अय ( Aye-Aye ); ( नं० ३ ) रिंग-टेल्ड लीमर ( Ring-tailed Lemur ); ( नं० ४ ) रफ़्ड लीमर ( Ruffed Black Lemur ); ( नं० ५ ) मंगूज़ लीमर ( Mongoose Lemur ); ( नं० ६ ) सिफाका ( Sifaca ); ( नं० ७ ) इन्द्रिस ( Indris ); ( नं० ८ ) गेलागो (Galago); ( नं० ९ ) बुश-बेबी ( Bush-Baby ); ( नं० १० ) लोरिस ( Loris ); ( नं० ११ ) पॉटो ( Potto )

**पु**—पुरानी दुनिया के वानर ( **Old World Monkeys** )—इसके मुख्य प्रतिनिधि निम्न प्रकार हैं:—

( चित्र में नं० १२ ) गुइनान ( Guenon ) ; ( नं० १३ ) लाल पेटवाला बंदर ( Red-bellied Monkey ) ; (नं० १४) मंगेबी ( Mangabey ); (नं० १५) मेकेक ( Macaque ) ; ( नं० १६ ) ब्लेक एप ( Black Ape ); ( नं० १७ ) गेलाडा बबून ( Gelada Baboon ); ( नं० १८ ) सेक्रेड बबून ( Sacred Baboon ); ( नं० १९ ) गुरेज़ा ( Guereza ); ( नं० २० ) लंगूर ( Langoor ); ( नं० २१ ) चपटी नाक का बंदर ( Snub-nosed Monkey ); ( नं० २२ ) लंबी नाकवाला बन्दर ( Proboscis Monkey )

[ शेषांश चित्र के पीछे उलटकर देखिए ]

३४
३५
३६
३३
४८
४७
४६
४५
४४
४२
४३
४०
४१
३७
ब
३९
म
३८
३२
३०
२९
३१
२८
२४
न
२५
२७
२६
२३

२०
२१
१९
२२
१६
१५
१७
१८
पु
१२
१३
१४
९
८
१०
११
ट
ल
६
७
८
३
४
५
२
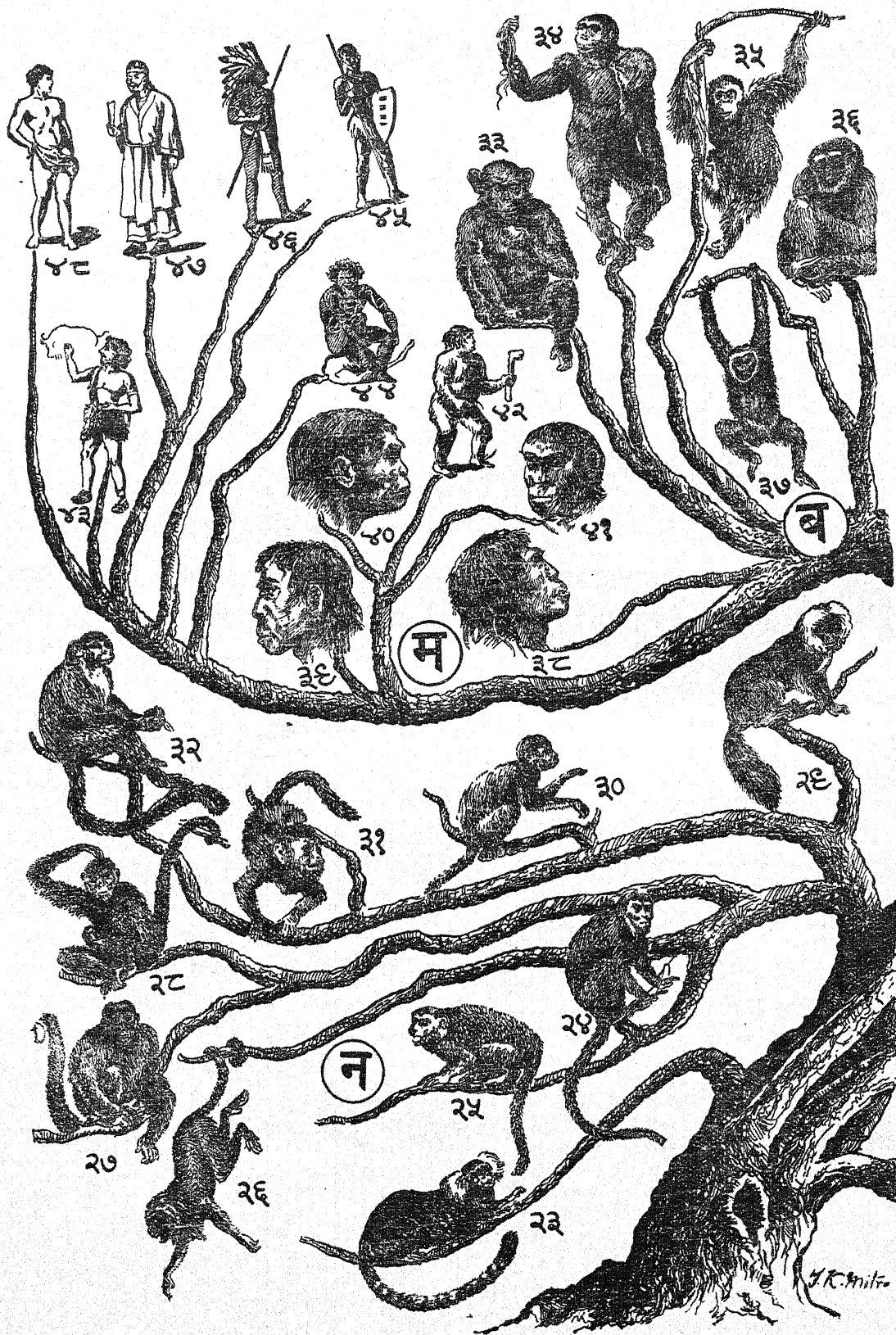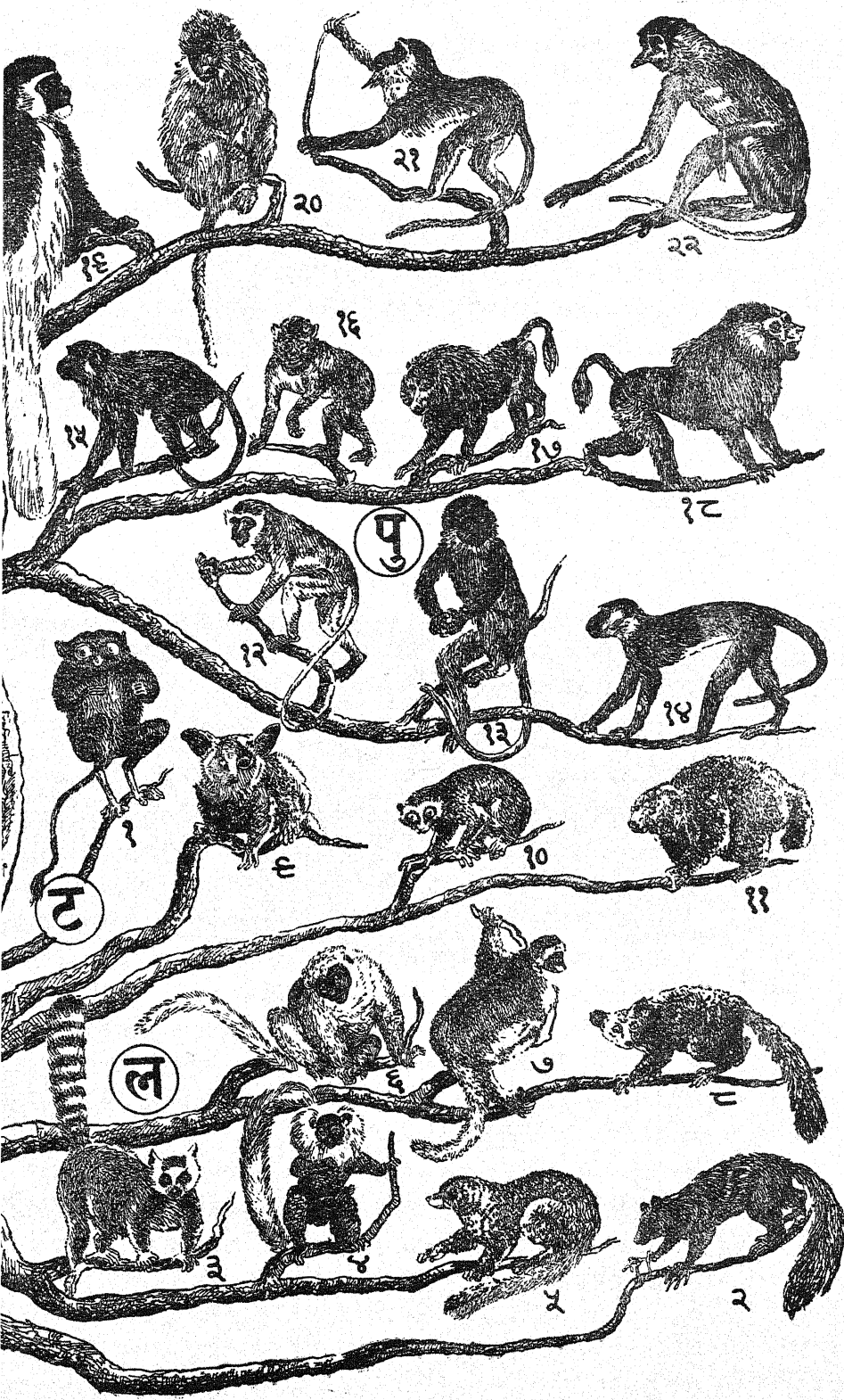
न—नई दुनिया के वानर (**New World Monkeys**) इसकी मुख्य जातियाँ निम्न प्रकार हैं:—

( चित्र में नं० २३ ) मारमोसेट ( Marmoset ); ( नं० २४ ) टीटी बंदर ( Titi Monkey ); (नं० २५) इसी जाति का एक और बंदर ( नं० २६ ) ब्लेक हाउलर ( Black Howler ); ( नं० २७ ) ऊनी बालवाला बंदर; ( Woolly Monkey ); ( नं० २८ ) स्पाइडर वानर ( Spider Monkey ); ( नं० २९ ) साकी ( Saki ); ( नं० ३० ) यूकारी ( Ukari ); ( नं० ३१ ) सेपेजू ( Sapajou ); ( नं० ३२ ) स्क्वीरल बंदर ( Squirrel Monkey )।

ब—वनमानुष ( **Anthropoid Apes** ) वर्ग—इस वर्ग के नीचे लिखे मुख्य प्रतिनिधि हैं:—

( चित्र में नं० ३३ ) चिम्पैंज़ी ( Chimpanzee ); ( नं० ३४ ) गोरिला ( Gorilla ); ( नं० ३५ ) ओरंग उटाङ्ग ( Orang-utan ); ( नं० ३६ ) हुलक गिबन ( Hoolook Gibbon ); ( नं० ३७ ) साधारण गिबन ( White-handed Gibbon )।

म—मानव वर्ग (**Men**)—इस वर्ग में आदिम मानवों से आज की जातियों तक की विकास-श्रेणी बताई गई है:—

( चित्र में नं० ३८ ) जावा में मिली खोपड़ी वाला आदि मानव ( *Pithecanthropus* or the Java Man ); ( नं० ३९ ) पिल्टडाउन मानव ( Piltdown Man ); (नं० ४०) पेकिंग में मिली खोपड़ी वाला आदि मानव (*Sinanthropus* or the Peking Man ); ( नं० ४१ ) हाइडलबर्ग मानव ( Heidelberg Man ); ( नं० ४२ ) निएण्डरथाल मानव (Neanderthal Man); ( नं० ४३ ) क्रोमैगनान मानव ( Cro-magnon Man ); ( नं० ४४ ) ऑस्ट्रेलियन जाति का मनुष्य ( Australian Race ); ( नं० ४५ ) अफ्रीकन जाति का मनुष्य ( African Race ); ( नं० ४६ ) रक्त वर्ण का मनुष्य ( Red Race ); ( नं० ४७ ) पीत वर्ण का मनुष्य ( Yellow Race ); ( नं० ४८ ) गौर वर्ण का मनुष्य ( White Race )।

[ यह चित्र 'अमेरिकन म्यूज़ियम ऑफ़ नेचरल हिस्ट्री, न्यूयार्क', के एक भित्ति-चित्र के आधार पर तैयार कराया गया है। इसके निर्माण में लखनऊ-विश्वविद्यालय के जंतु-विज्ञान-विभाग के डा० एम० एल० भाटिया और डा० दास से हमें अनमोल सहायता मिली है, अतएव हम उनके अत्यंत कृतज्ञ हैं। ]

सम्बन्धी स्थानों की उन्नति और वृद्धि होने लगी। ऐसा होने से ही हम एक बार जो कुछ देख लेते हैं, उसे याद रख सकते हैं। हम अपनी दृष्टि द्वारा ही एक चेहरे को दूसरे चेहरे से पहचानते हैं, एक रंग को दूसरे रंग से अलग कर सकते हैं, छूकर या देखकर, अथवा दोनों ही से, दूसरी वस्तुओं की बनावट में भेद समझ सकते हैं। दूसरों के संकेत अथवा चेहरों के भावों को देखकर उनकी इच्छा और विचारों का थोड़ा-बहुत अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे मस्तिष्क में अपने पिछले अनुभवों अर्थात् उन वस्तुओं का, जिन्हें पहले देख या छू चुके हैं, या उन कामों का जिन्हें पहले कर चुके हैं, परस्पर मिलान करने की शक्ति है; अथवा यों कहिये कि हममें बड़ी पेचीदा स्मरण-शक्ति होना प्रकट है।

## हमारी और जानवरों की भाषा

मस्तिष्क की समृद्धि होने की दूसरी आवश्यक सीढ़ी मनुष्य में वाक्-शक्ति का उदय होना भी है। मनुष्य में यह शक्ति अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बढ़ी-चढ़ी है, किन्तु बहुत से अन्य जीवधारी भी बोलते-चालते हैं। चिड़ियाँ अपने बच्चे के चहचहाने के ढंग से जान जाती हैं कि वह क्या चाहता है, बकरी का बच्चा अपनी माँ की आवाज़ दूर से ही पहचान लेता है, बिल्ली म्याऊँ-म्याऊँ करके अपने बच्चों को पास बुला लेती है। शेर, हाथी और बैल गरजते, चिंघाड़ते और रंभाते हैं, बुलबुल और लावा सुरीले और मधुर राग अलापते हैं। चिम्पाञ्ज़ी भी आवाज़ लगाते हैं, जिससे उनकी ख़ुशी-नाख़ुशी प्रकट होती है। चींटा-चींटी बिना बोले ही अपने महीन सींगों (Antenna) द्वारा एक-दूसरे को इशारा करके समझाते-बुझाते हैं। मनुष्य भी बोलता, गाता और चिल्लाता है। फिर उसकी वाक्-शक्ति और जानवरों की बोलचाल में क्या भेद है?

**मिदनापुर के जंगलों में मिली हुई लड़कियाँ**

जो भेड़ियों के भिटे से पकड़कर लायी गयी थीं। ( देखिए पृष्ठ १८९ )

कहा जाता है कि मनुष्य ने उन्नति करके अपनी भाषा बना ली है, जिसमें एक शब्द से केवल एक ही अर्थ समझा जा सकता है; परन्तु पशुओं की बोलचाल में साकार अभिप्राय के लिए नियुक्त शब्द नहीं हैं। लेकिन यह कहना कि उनमें अपने भाव या निर्णय को दूसरे में प्रकट करने की योग्यता है ही नहीं, असम्भव जान पड़ता है। शायद लोगों का यह विचार कि अन्य प्राणियों में कोई भाषा है ही नहीं, इसलिए हो कि उनकी बोली हमारी समझ में नहीं आती। पर क्या एक देश के निवासी दूसरे देश के मनुष्य की भाषा बिना सीखे समझ लेते हैं? भारतीय चीनी या जापानी भाषाएँ बिल्कुल नहीं समझ पाते। जर्मन और फ्रांसीसी अंग्रेज़ों की तरह नहीं बोलते हैं।

## बातचीत करनेवाली शहद की मक्खी और कुत्ते

जर्मनी के प्रोफ़ेसर वी. वौन फ़िश, जिन्होंने २७ वर्ष शहद की मक्खियों का स्वभाव अथवा बोल-चाल समझने का प्रयत्न किया, कहते हैं कि उनमें भी एक प्रकार की भाषा है जो उनके नाच या महक द्वारा प्रकट की जाती है (देखो दैनिक 'लीडर', ४ मई, १९३७)। जब कोई मक्खी किसी फूल पर काफ़ी शहद देख लेती है, तो वह अपने छत्ते में आकर चक्कर काटकर नाचने लगती है; उस नाच को देखकर और मक्खियाँ यह समझ जाती हैं कि उसने कहीं काफ़ी शहद देखा है। यह समझकर वे उसके पास आकर सूँघती हैं कि किस फूल की सुगन्ध उसके शरीर में से आ रही है, और उन्हीं फूलों पर जाकर शहद इकट्ठा करती हैं। यदि शहद बहुत थोड़ा है अथवा कठिनता से मिलनेवाला है, तो वह मक्खी छत्ते में आकर और मक्खियों को बुलाने के लिए नहीं नाचती। वह स्वयं बार-बार जाकर थोड़ा-थोड़ा शहद ले आती है। इन प्रोफ़ेसर साहब ने मक्खियों के इस प्रकार एक दूसरे से बात करने की भाषा को पहचान लिया और

उनके नाच का फ़िल्म भी बना लिया है। इनका कथन है कि वह मछलियों से भी बातचीत कर सकते हैं और उनका दावा है कि जिस प्रकार हम सीटी बजाकर कुत्ते को अपने पास आना सिखा सकते हैं, उसी तरह मछलियों को भी सिखा सकते हैं।

मुझे पारसाल महाराज जयपुर के पुराने महल के पीछे की झील को देखने का अवसर मिला। उस झील में कई मगर रहते हैं। वहाँ का चौकीदार हाथ से ताली बजाकर "आ, आ; हा, हा" की आवाज़ लगाकर जब चाहे उन मगरों को अपने पास किनारे पर बुला लेता था। चाहे कितनी ही दूर क्यों न हों, उसकी आवाज़ सुनते ही मगर तैरते हुए उसकी ओर किनारे पर आ पहुँचते थे। जर्मनी के वैमर नगर में कुछ ऐसे प्रसिद्ध सिखाये हुए कुत्ते हैं, जिनको नम्बरों के द्वारा बातचीत करना सिखाया गया है। डाक्टर मैक्समुलर ने स्वयं जाकर इन कुत्तों को देखा है और उनका बड़ा ही मनोरंजक विवरण १४ दिसम्बर, सन् १९३८, के 'लीडर' अख़बार में छपा है। उन्होंने लिखा है कि ये कुत्ते भूँककर और पंजों से थपथपाकर अक्षरों का ज्ञान दे सकते हैं। जैसे 'ए' के लिए एक बार भूँकना, 'बी' के लिए दो बार, 'सी' के लिए तीन बार और इसी तरह से आगे के अक्षरों के लिए भी उतने ही बार भूँकते और थपथपाते हैं, जितना उस अक्षर के लिए निश्चित होता है। इन प्रोफ़ेसर ने कुत्तों से लिखकर और ज़बानी कई प्रश्न किये, जिनका उत्तर कुत्तों ने बहुत सोच-समझकर और बुद्धिमानी से दिया। प्रोफ़ेसर मैक्समुलर लिखते हैं कि उनको इतनी आशा नहीं थी कि वैमर के कुत्ते साकार और निराकार विचारों को नम्बर द्वारा बातचीत में इतनी अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं और मनुष्य की बातों को समझ सकते हैं। इन कुत्तों ने हमें दिखला दिया है कि हमारे विचार इन शिक्षित पशुओं के विषय में कितने ग़लत हैं। इससे यह भी पता लगता है कि जितना हम जानवरों को समझ पाते हैं, उससे कहीं अधिक जानवर हमको समझ पाते हैं। इन हाल के पशु-संबंधी अध्ययनों से हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि जानवरों में सोचने और अपने विचारों को प्रकट करने की योग्यता है ही नहीं। फिर भी जो लोग जानवरों को इस शक्ति से हीन बतलाते हैं, तो इसका कारण उनका अपना घमण्ड या हठधर्मी ही है।
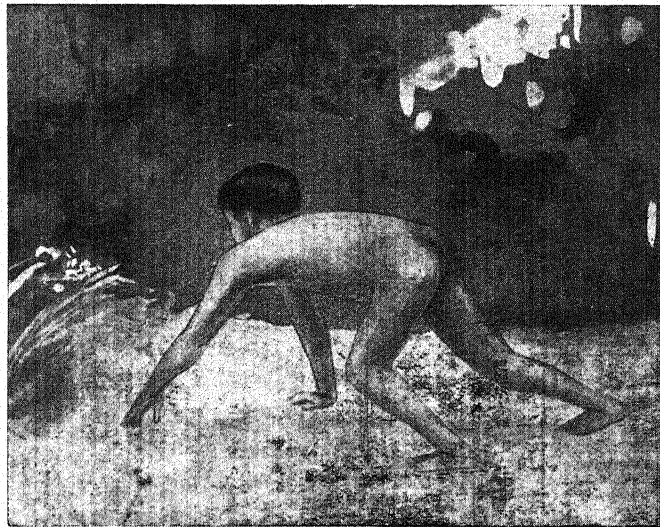
भेड़ियों द्वारा पाली गयी लड़की के चलने का ढंग

इसके सारे आचरण भेड़ियों-जैसे हो गये थे। यह उन्हीं की तरह चलती-फिरती, गुर्राती और खाती-पीती थी। ( देखिए पृष्ठ १८९ )

## मनुष्य और समाज

अपनी वाणी के ही द्वारा मनुष्य दूसरे की विद्या और अनुभव से लाभ उठाता है और इस प्रकार अपनी बुद्धि की वृद्धि करता है। वाक् और स्मृति ही ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके कारण हम दूसरों की अनुभूतियों और अनुमानों को अपने में एकत्र कर सकते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचा देते हैं। इससे हमारी अपने आप देखने-भालने और निर्णय करने की योग्यता की तो कुछ हानि अवश्य हुई, परन्तु मानव-समुदायों में परम्परागत विचार और रूढ़ियाँ निर्धारित हो गईं। आदमी को एक बहुत बड़ी सहायता मिली, जब उसने लिखना सीख लिया। लेखों के द्वारा आदमी ने दूसरों के अनुभवों से जिस प्रकार लाभ उठाया, वह बन्दरों के लिए बिल्कुल असम्भव है। इन्हीं शक्तियों के कारण हम अपने मस्तिष्क के ऊपर अनुचित घमंड करने लगे। कदाचित् हम कभी इतने होशियार न होते यदि हमसे कभी कोई बोला न होता अथवा हमने कभी कोई किताब न पढ़ी होती। यदि हमको सिखाया न गया होता, तो शायद ५-६ तक की गिनती भी हमें न आती, लेकिन

ज़बानी और पुस्तकों से पढ़कर हम बीज-गणित और रेखा-गणित ऐसे कठिन विषय भी सीख लेते हैं।

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि मनुष्य खाने-पीने, चलने-फिरने, लिखने-पढ़ने के लिए अन्य पशुओं की अपेक्षा दूसरों पर अधिक निर्भर हैं। यूनान के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी और दर्शनशास्त्र-वेत्ता **ऐरिस्टौट्ल** (अरस्तू) ने ठीक ही कहा है, कि "मनुष्य एक सामाजिक जीव है। वह न कभी अपने लिए जीता, न कभी अपने लिए मरता है।" हम ऐसे बने हैं कि हमारे लिए दूसरों के प्रभाव से अलग रहकर जीना बिल्कुल असम्भव है। सच तो यही है कि हम समाज के नियमों से ऐसे जकड़े हुए हैं कि दुनिया को बजाय अपनी आँखों के समाज की आँखों से देखने लगे हैं। कदाचित् इसी का यह फल है कि जब हम दुनिया में जन्म लेते हैं, बिल्कुल बेबस होते हैं। उस दशा में हम सारे जन्तुओं या वनस्पतियों से अपनी ख़बरदारी कम कर सकते हैं। हम अन्य प्राणियों से अधिक समय तक विवश रहते हैं। मनुष्य के बच्चे यह जानने के लिए कि क्या करें और कैसे करें, अन्य जीवधारियों की अपेक्षा, दूसरों पर अधिक निर्भर हैं। अगर कोई स्वस्थ और समझदार मनुष्य अन्य आदमियों की संगत से काफ़ी समय तक पृथक् रक्खा जाय, तो उसकी विचार-शक्ति में अवश्य ही हीनता आ जायगी। बच्चों में यह बात बहुधा देखी गई है। कभी-कभी अवसर पाकर भेड़िये छोटे बच्चों को उठा ले जाते हैं और कभी कभी जंगल में भटके हुए बच्चे भालू और बैबून (अफ्रीका का एक बड़ा बन्दर) या भेड़ियों को मिल जाते हैं और वे उनका अपने बच्चों की भाँति पालन-पोषण करते पाये गये हैं। जब ये बच्चे फिर अपने जंगली आश्रयदाताओं से छीन लिए गए तो देखा गया कि वे मानव-प्रकृति से बिल्कुल वंचित थे। वे अपने चारों हाथ-पैरों से चलते-फिरते थे और मनुष्यों की-सी बोली बोलने की अपेक्षा उन पशुओं की भाँति, जिनमें कि वे पहले रहे थे, चीख़ते, चिल्लाते और इधर-उधर कूदते-फिरते थे। किसी-किसी को आदमी की चाल और बोली सीखने में वर्षों लग गये, फिर भी वे सदा मूर्ख ही रहे। हमारे देश में कई बार ऐसे बच्चे सचमुच जंगल से पकड़े गये हैं और उनके विवरण प्रकाशित भी हुए हैं। लेखक को स्वयं ही सन् १६१२ या १६१३ में एक ऐसे बच्चे को, जो लगभग ६ वर्ष का था और भेड़िये की माँद से पकड़कर लाया गया था, बनारस के अन्धाख़ाने के अस्पताल में देखने का अवसर मिला था। यह बच्चा चारों हाथ-पैरों से चलता-फिरता था और झुके रहने के कारण उसकी खोपड़ी भी कुछ लम्बी-सी हो गई थी। वह आदमियों को देखकर भेड़ियों की तरह गुर्राता और भूँकता था, छोटे बच्चों पर आक्रमण करने की भी चेष्टा करता था। उस समय वह मनुष्यों की बोली न तो बोल सकता था, न समझ सकता था। सन् १६३७ में बम्बई के सचित्र साप्ताहिक 'इलस्ट्रेटेडवीकली' (Illustrated Weekly of India) में दो लड़कियों का पूरा वर्णन छपा था, जिन्हें जे० एल० सिंह नामक एक पादरी साहब मिदनापुर के जंगल से भेड़ियों के भिटे से पकड़कर लाये थे। जिस समय ये बच्चे पकड़े गये थे, वे भी भेड़ियों ही की तरह चलते-फिरते तथा खाते-पीते थे। उनकी भाषा केवल गुर्राना और भूँकना ही थी। रात में नित्य वे तीन बार एक विशेष प्रकार से निश्चित समय पर भूँका करते थे। उनका यह स्वभाव धीरे-धीरे बहुत दिनों में छूटा। दो वर्ष मनुष्यों के साथ रहने और सिखाये जाने पर भी वे "माँ" "हू, हू" और "न, न" के सिवाय और कुछ न बोल सकते थे। चार वर्ष बीतने पर उन्होंने कुछ बोल-चाल सीख पाई थी, हालाँकि उनकी आयु ८-१० वर्ष की हो गई थी।

### नेकी और हम

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट रूप से विदित होता है कि जानवरों और आदमियों के बीच मानसिक और आत्मिक बलों में एक महान् खाई है। इन्हीं बलों के अनुसार मनुष्यों में भी बहुत अंतर है जैसे सन्त और पापी में, विद्वान् और मूर्ख में। परमात्मा की सृष्टि में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ है। ईश्वर ने अपने अंश का जितना भाग मनुष्य को दिया है, उतना और किसी को नहीं। मनुष्य और पशुओं के बीच में नेकी की एक कल्पित विभाजक रेखा है। उसके ऊपरी ओर सच्चाई, साहस, ईमानदारी, परोपकार, विपत्ति में दूसरों की सहायता करना, आदि मनुष्य के गुण हैं। उसके नीचे पशुओं के-से कर्त्तव्य लड़ना-झगड़ना, मारना-पीटना, नोचना-खसोटना इत्यादि हैं। कभी-कभी मनुष्य भी जब मनुष्यत्व से गिर जाता है अथवा जब पशुत्व मनुष्यत्व के ऊपर अधिकार कर लेता है, तो मनुष्य पशुओं के-से कार्य करने लगता है। एक आदमी या राष्ट्र दूसरे आदमी या राष्ट्र के देश, धन और माल को ज़बरदस्ती छीनने को तैयार हो जाता है और घमासान युद्ध ठान लेता है; निरपराध स्त्री, पुरुष और बालकों पर अत्याचार करता है। इस समय मनुष्य अपनी सभ्यता को भूलकर लालच और घमंड के नशे में चूर होकर अपनी बुद्धि को गँवा देता है और निर्दयी तथा जंगली हो जाता है। जब कभी पृथ्वी पर

ऐसा अत्याचार हुआ है ( जैसा आजकल योरोप में हो रहा है ) तब कुछ स्त्री और पुरुष ऐसे निकले हैं, जो सत्य और न्याय पर अड़े रहे हैं और इन गुणों के विरोधियों पर उन्होंने विजय पाई है। यदि ऐसा न हुआ होता, तो हम आज इस संसार को उजड़ा हुआ रेगिस्तान पाते।

## सत्य और ईमानदारी

अब हम "सत्य और ईमानदारी" इन दो ही नेकियों के विषय में सोचें कि इनके बिना हमारी क्या दशा होती। अगर हमको एक दूसरे का विश्वास न होता, तो न कहीं दूकानें होतीं, न बंक होते, न डाकख़ाने होते और न बीमा की कम्पनियाँ होतीं। हम सबको ख़ुद ही अपना पेट भरने के लिए अनाज पैदा करना पड़ता या जीव-हत्या करना पड़ती। क्यों? इस भय से कि वह दूकानदार, जिससे हम खाना लाये हैं, झूठा या दग़ाबाज़ तो नहीं है; उसने खाने में कहीं विष तो नहीं मिला दिया है! अगर हम दूसरों को झूठा समझते तो अपने कमाये, कठिनता से बचाये हुए धन को बंक में न रख सकते और न तिजारत में लगा सकते; क्योंकि हमारे जी में यह खटका लगा रहता कि कहीं बंक-वाले या कम्पनीवाले हमारे धन को हड़प न जायँ। हम डाक्टर की बतलाई हुई ज़हरीली से ज़हरीली दवा दूकान से ख़रीदकर पीते हैं, क्योंकि हमको विश्वास रहता है कि डाक्टर का नुसख़ा हानिकारक न होगा और दूकानदार ने भी दवा ठीक से बनाई होगी। हम हवाई जहाज़, रेलगाड़ी, आदि में बैठकर यात्रा करते हैं, क्योंकि हमें भरोसा रहता है कि इनके चलानेवाले अपनी यथाशक्ति हमको हमारे इच्छित स्थान पर पहुँचायेंगे। किन्तु अगर मनुष्य के लिए दूसरों पर विश्वास करना असम्भव हो जाय, तो उसका जीवन और सामाजिक व्यवहार तहस-नहस हो जाय। इसलिए सचाई और ईमानदारी भी मनुष्य के लिए अति आवश्यक हैं।

## मनुष्य और परोपकार

मनुष्य का एक और गुण परोपकार है, जो उसे सारे जीवों से ऊँचा बना देता है। ऐसा कौन-सा और जानवर हम जानते हैं, जो अन्य को विपत्ति में देखकर अपने प्राणों की पर्वाह न कर उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़े? यदि किसी मकान में आग लग जाती है, तो अपरिचित मनुष्य भी उसको बुझाने और मकान के प्राणियों को बचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, चाहे स्वयं उनके प्राण संकट ही में आ जायँ। कोई बच्चा अथवा आदमी नदी में अचानक डूबने लगता है, तो दूसरा आदमी अपनी जान पर खेलकर पानी में कूद पड़ता है और उसे किनारे पर ले आता है। क्यों? इसीलिए कि वह मनुष्य है, पशु नहीं। हममें से कौन ऐसा है, जिसने किसी जानवर के बारे में यह सोचा हो कि उसके जी में भी कभी ऐसा विचार आया हो कि वह स्वयं अपने उदाहरण और उपदेश से दूसरों को उनके दुःखों से मुक्ति दिला सकता है, जैसा महात्मा बुद्ध ने हज़ारों वर्ष पहले सोचा था। कई और मनुष्यों ने परोपकार के लिए स्वयं कष्ट ही नहीं सहा वरन् प्राणदान भी दे दिये, जैसा ईसा मसीह ने लगभग २००० वर्ष हुए कर दिखाया था। आज भी महात्मा गाँधी जैसे व्यक्ति हैं जो दूसरों के हित के लिए ख़ुशी से स्वयं कष्ट उठाने के लिए तैयार रहते हैं।

वास्तव में मनुष्य और अन्य प्राणियों की मानसिक और आत्मिक क्रियाओं में एक महान् भेद है। जब प्राचीन मनुष्य विकास की सीढ़ी पर वन-मानुषों से आगे बढ़ा और सीधे खड़ा होकर चलने लगा, तब उसकी आँख की दृष्टि बढ़ी, उसने समझनेवाले कान पाये, उसके हाथों में निपुणता, जीभ में वाक् और मस्तिष्क में स्मरण-शक्ति बढ़ी और इसके पश्चात् उसने लेखन-कला निकाली। तब वह धीरे-धीरे वन-मानुषों को नीचे छोड़ उन्नति की सीढ़ी के सबसे ऊँचे डंडे पर पहुँच गया, जहाँ हम उसे आज पाते हैं। अपने इतिहास के आरम्भ से ही मनुष्य का मन दृश्य और अदृश्य वस्तुओं के बारे में सोचता और प्रश्न करता रहा है। वह जंगल में कन्द, मूल और फलों से अपना पेट भरकर संतोष की नींद नहीं सोता रहा, बल्कि सागर के तट पर खड़ा होकर उसकी गिरती-उठती लहरों के बारे में भी ध्यान लगाने लगा। बादलों की गरज को सुनकर, आकाश पर सूर्य और चन्द्र को निकलते देख, उनके बारे में भी वह सोचने लगा, जिससे उसके मस्तिष्क, ज्ञान और आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। उसमें भलाई और बुराई की पहचान आ गई, जो और किसी जीव में नहीं पाई जाती। मनुष्य के उपर्युक्त गुणों में ऐसी उन्नति हुई कि आज हम यह कहने लगे कि मनुष्य को प्रकृति ने नेकी के लिए ही बनाया है। इस संबंध में हॉलैण्ड देश के प्रसिद्ध धर्मशास्त्रज्ञ ह्यूगो ग्रोटियस के अनमोल शब्दों को याद रखना चाहिए कि "ईश्वर को मनुष्य ही सबसे प्रिय जीव है।" जब तक वह अपने को अधिक नेक बनाने की कोशिश करता है, तभी तक वह सच्चा मनुष्य है। जिस घड़ी उसके मन में इस बात की पर्वाह नहीं रह जाती कि वह अच्छा है या बुरा, दोषी है अथवा निर्दोषी, उसी घड़ी वह मनुष्य की पदवी से गिरकर पशुओं से जा मिलता है।
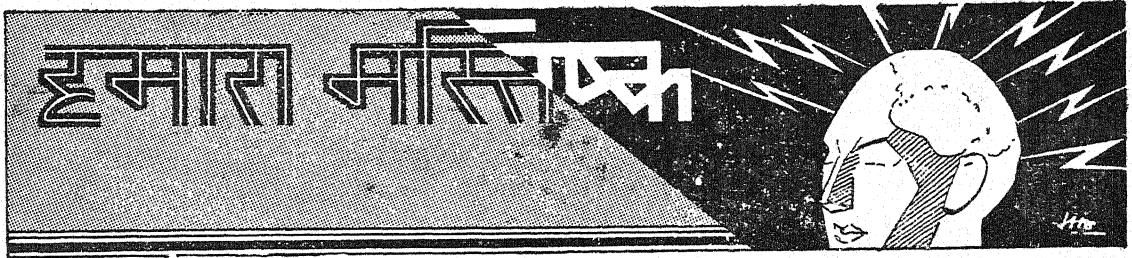
# मस्तिष्क का स्थूल रूप

**यद्यपि स्थूल मस्तिष्क का अध्ययन मनोविज्ञान का नहीं, बल्कि शरीरशास्त्र का विषय है, फिर भी मानसिक क्रियाओं को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि मोटे तौर से हम उस यन्त्र से परिचित हो जायँ जो हमारी चेतन-शक्ति का केन्द्र है। स्थूल मस्तिष्क की रचना का विस्तारपूर्वक अध्ययन तो "हम और हमारा शरीर" शीर्षक स्तंभ ही में हम करेंगे।**

हम मन या मस्तिष्क के विज्ञान का अध्ययन करने बैठे हैं और इस विज्ञान का क्षेत्र है, जैसा कि पहले लेख में कहा जा चुका है, मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन। पर इसके पहले कि हम सीधे सोचने, समझने, तर्क करने आदि मानसिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करें, हमें स्थूल मस्तिष्क के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करनी होगी, अर्थात् हमें मस्तिष्क का शरीरशास्त्र के अनुसार सरसरी तौर पर दिग्दर्शन करना होगा। कुछ वर्ष पूर्व बहुत सुरक्षित ढंग से कहा जा सकता था कि स्थूल मस्तिष्क का अध्ययन मनोविज्ञान का नहीं, बल्कि शरीरशास्त्र का विषय है, पर आज के इस वैज्ञानिक युग में किन्हीं भी दो विज्ञानों के बीच में आसानी से विभाजक रेखा का खींचा जा सकना संभव नहीं है। इसलिए मस्तिष्क की क्रियाओं के अध्ययन के लिए मस्तिष्क की स्थूल बनावट आदि की मोटे तौर पर जानकारी कर लेना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है।

हम अनुभव करते हैं, सोचते हैं, तर्क करते हैं और यह सब कुछ मस्तिष्क के द्वारा तथा ज्ञानेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों के तंतुओं के सहारे होता है। पर यह मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रिय के तंतु हैं क्या? इनका स्थान कहाँ है? ये किस प्रकार कार्य करते हैं?

वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज और परिश्रम से यह परिणाम निकाला है कि हमारे शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग मस्तिष्क हमारी खोपड़ी (Skull) के भीतर स्थित है। सिर के बाल और खाल के नीचे हमारी खोपड़ी होती है। यह हड्डियों का एक बड़ा पुष्ट-सा ढाँचा है, जिसका निर्माण आठ अस्थियों से हुआ है। उसके भीतर कई तरह की झिल्लियों का एक घना-सा जाल है, जिसके अन्त में स्थूल मस्तिष्क (Brain) मिलता है। मोटे तौर पर स्थूल मस्तिष्क की शक्ल और लम्बाई-चौड़ाई एक आधे कटे तरबूज़-जैसी होती है। वह बहुत ही मुलायम और लोहित-पीत (लाल पीला के मिश्रण से मिले रंग का) होता है। उसकी ऊपरी तह में एक भूरे रंग की वस्तु भरी रहती है और भीतरी तह में सफ़ेद रंग की। और वास्तव में हमारे आधे तरबूज़ की शक्ल के स्थूल मस्तिष्क के यही दो प्रमुख उपादान हैं। हेरिक नामक शरीरशास्त्रवेत्ता का मत है कि स्थूल मस्तिष्क के निर्मायक उपादानों में यह भूरे रंग का पदार्थ तौल में सारे मस्तिष्क का लगभग आधा होता है। मस्तिष्क में यह सबसे अधिक महत्व की वस्तु बतलाई जाती है। इसके महत्व पर सबसे पहले फ्रैन्स जोज़ेफ़ गाल नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने १९वीं शताब्दी के आरंभ में ज़ोर दिया था। आधुनिक शरीरशास्त्र के प्रमुख अंग शरीरतंतु विज्ञान (Neurology) के हाल के अध्ययन और खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि स्थूल मस्तिष्क के इन विभिन्न निर्मायक उपादानों के अलग-अलग विशेष कार्य हैं, जिनका शरीर के संचालन के लिए संपादित होना अत्यंत आवश्यक है। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्थूल मस्तिष्क एक चिकना पिण्ड-सा नहीं होता, बल्कि उसका धरातल बहुत ही असमान और उथला-पुथला-सा होता है, जैसे हल चलाने पर खेत की नालियाँ हो जाती हैं। यह पिण्ड आगे की ओर बढ़ते-बढ़ते ललाट तक और पीछे की ओर गर्दन के आगे तक बढ़ा चला गया है। इसका पिछला भाग आगे के भाग की तुलना में अधिक मोटा और चौड़ा होता है। इस पूरे ढाँचे के दो बड़े भाग हैं—१. वह जो खोपड़ी को ऊपर से देखने पर दिखाई देता

हैं; इसे 'बृहत् मस्तिष्क' कहते हैं; २. वह जो बृहत् मस्तिष्क के पिछले हिस्से के नीचे स्थित है और जो मस्तिष्क की तली को उलटने पर ही देखा जा सकता है। इसे 'लघु मस्तिष्क' कहते हैं। बृहत् मस्तिष्क के दो खण्ड होते हैं, जिनके बीच एक दरार-सी रहती है। इस दरार के आस-पास के भाग दाहिने और बाएँ 'गोलार्द्ध' कहलाते हैं। इन गोलार्द्धों की पेचीदी रचना के बारे में विशेष बातें 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक विभाग में क्रमशः आपको बताई जायँगी। यहाँ तो हमें इस अद्भुत यंत्र की रचना के संबंध में सरसरी तौर पर मोटी बातें जान लेना है, जिससे हमें अपने विषय के अध्ययन में सहायता मिले। बृहत् मस्तिष्क के पीछे गर्दन के पार बढ़ता हुआ रीढ़ की हड्डी से होते हुए वह पीठ के रास्ते कमर तक पहुँचता है। कपाल से लेकर कमर के ऊपर तक रीढ़ के साथ साथ फैला हुआ हमारे वात-संस्थान का यह भाग ही सुषुम्ना है। यह बेलनाकार होती है। इसके बीच भी एक लंबी घाई होती है, जिससे उसके दो पार्श्व बन जाते हैं। इन दोनों पार्श्वों से कुछ-कुछ अंतर देकर बहुत-सी सूत्रवत् नाड़ियाँ निकलती हैं। ये पतले वातसूत्र या तंतु अपने उद्गम-स्थानों से प्रारंभ होकर शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में अपने निर्दिष्ट स्थानों पर पहुँचकर रस्सी की लड़ियों की तरह फैले हुए हैं। इन वात-सूत्रों से हमारा सारा शरीर आच्छादित है। शरीर

( बृहत् मस्तिष्क ) ( पोनियल ग्रंथि ) ( चतुष्पिण्ड ) ( दृष्टि-नाड़ी ) ( लघु मस्तिष्क ) ( हाइपोफिसिस ग्रंथि ) ( स्तंभ ) (सेतु) ( सुषुम्ना का भाग )

**मस्तिष्क की रचना**
× × चिह्नवाला भाग महासंयोजक है।
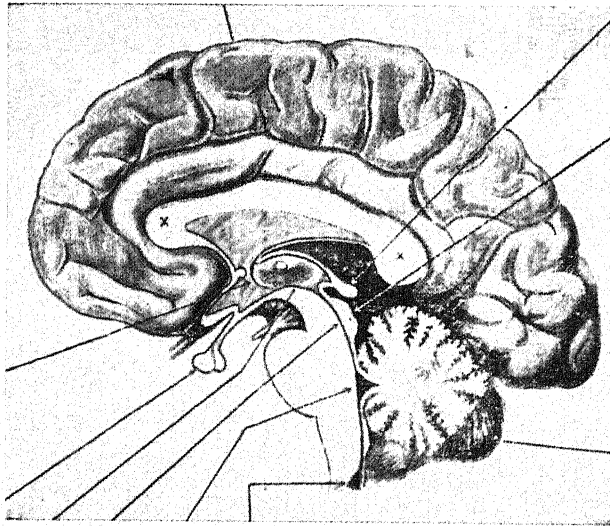
का बाहरी आवरण धूसर रंग का होता है, किन्तु भीतर से वह श्वेत होता है। बाहरी धूसर अंश को 'वल्क' कहते हैं। लघु मस्तिष्क की शक्ल पिचके गोले जैसी होती है। यह बृहत् मस्तिष्क से बहुत छोटा और वज़न में दो-ढाई छटाँक होता है। इसके पृष्ठ पर भी बृहत् मस्तिष्क की तरह घाइयाँ होती हैं, पर ये बृहत् मस्तिष्क की घाइयों से अधिक गहरी होती हैं। इन दोनों मस्तिष्क के अलावा हमारा एक और महत्वपूर्ण अंग है, जिसका हमारे वात-संस्थान से घनिष्ट संबंध है। यह 'सुषम्ना' कहलाता है। और इसका स्थान रीढ़ है। यहाँ यह बतला देना ज़रूरी है कि मस्तिष्क का अन्त खोपड़े ही तक नहीं हो जाता, बल्कि शरीर का कोई भी ऐसा भाग नहीं, जो इनसे ख़ाली हो। ये वात-सूत्र शरीर के इस बड़े कारख़ाने में तारबर्कों की तरह काम करते हैं और हर जगह की ख़बर मस्तिष्क के केन्द्रीय संस्थान को दिया करते हैं। शरीर में यदि कहीं भी कोई काँटा या कोई और चीज़ चुभ जाय तो वहाँ के स्नायु कट जायँगे और पीड़ा द्वारा इसकी सूचना या अनुभूति इन्हीं वात-सूत्रों द्वारा केन्द्रीय चेतना या मस्तिष्क को पहुँच जायगी। इन सूत्रों के सिरों में विषय के ज्ञान या अनुभूति को ग्रहण करने की अद्भुत स्वाभाविक शक्ति होती है और उनके शेष भागों में उस सूचना के वहन करने और उसे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने का विचित्र सामर्थ्य होता है। भिन्न-भिन्न काम

करनेवाले भिन्न-भिन्न वात-सूत्रों के सिरों की बनावट भी अलग-अलग प्रकार से उनके कार्यों के उपयुक्त ही होती है। दृश्य जगत् की अनुभूति वहन करनेवाले तंतुओं के सिरे एक तरह के हैं, तो शब्द का ज्ञान करानेवाले तंतु के सिरे दूसरे प्रकार के और स्पर्श या गन्धवाहक तंतुओं के सिरे तीसरे ढंग के होते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि पदार्थों की अनुभूति इन तंतुओं को कैसे हो पाती है? वैज्ञानिकों ने बड़े परिश्रम और खोज के बाद सिद्ध किया है कि आकाश तत्त्व (ether) में हलचल होने पर प्रकाश की लहरें उठा करती हैं और वे अन्य वस्तुओं से टकराकर चारों ओर छिटक जाती हैं। यही लहरें जब एक निश्चित संख्या और परिमाण में होती हैं, तो हमारी आँखों की विशेष प्रकार की बनावट के कारण उनके द्वारा देखने से सम्बन्ध रखनेवाले वातसूत्रों के सिरों तक पहुँच जाती हैं। इसी प्रकार वायु में जो लहरें निरन्तर उठा करती हैं; उनका भी एक निश्चित परिमाण हो जाने पर 'शब्द' या सुने जा सकने योग्य ध्वनि बनती है और श्रवण-वातसूत्रों के सिरों पर वह पहुँचती है। विद्वानों ने हिसाब लगाया है कि ठीक हवा की लहरों की संख्या चालीस हज़ार प्रति सेकंड हो, तब 'शब्द' श्रव्य बन सकता है अन्यथा शब्द का अस्तित्व होते हुए भी वह मनुष्य के लिए श्रवण-सुलभ नहीं है। अब यहाँ पर एक बहुत ही विवादास्पद प्रश्न उठ सकता है। वह यह है कि हवा की इन लहरियों की, जब कि उनकी संख्या प्रति सेकंड चालीस हज़ार के नीचे होती है, हमें कैसी अनुभूति और किस ज्ञानेन्द्रिय के ज्ञानतंतु द्वारा होती है? यह एक टेढ़ा सवाल है। असल में विज्ञान अभी शैशव की अवस्था में है और वह इस प्रश्न का उत्तर दे सकने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त विकासवाद का निश्चित और प्रमाणित यह मत कि प्राणिजगत् में मनुष्य सरीसृप और वानरों की अवस्था से गुज़रकर आज का मनुष्य बना है, इसका किसी हद तक समाधान उपस्थित करता है। विभिन्न प्राणियों के स्थूल मस्तिष्क का विकासवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवालों ने पता चलाया है और उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि किस प्रकार विकास की विभिन्न सीढ़ियों से गुज़रकर मनुष्य में अनुभव प्राप्त करने और ज्ञान वहन करनेवाले वात-तंतुओं का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। न केवल इतना ही, बल्कि मनुष्य-शरीर के ही कालान्तर से विकसित होते हुए भिन्न-भिन्न स्वरूपों में बहुत-सी विशेषताएँ, जो पहले के मनुष्य में नहीं थीं, आज आ गयी हैं। इसलिए संभव है कि भविष्य में इस विकासशील और प्रगतिशील प्राणी में उन अननुभूत वायु की लहरियों की भी अनुभूति प्राप्त करने के लिए कोई तंतु बढ़ें या स्थूल मस्तिष्क में कोई क्षेत्र बन जाय और लगभग चालीस हज़ार प्रति सेकण्ड से कम या उसके बहुत ऊपर की वस्तुस्थिति का भी हम अनुभव करने लगें।

**मनुष्य शरीर में वात-सूत्रों का जाल**

काले भाग, मस्तिष्क, से नीचे की ओर जो मोटी काली रेखा खिंची है, वही सुषुम्ना है। इसीसे शाखाओं की तरह फूटकर वात-सूत्र सारे शरीर में फैल गये हैं।

इस तरह हमने देखा कि स्थूल मस्तिष्क की सारी क्रियाशीलता में ज्ञानवाहक वातसूत्रों का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग है। पर इतने ही से तो मस्तिष्क की क्रियाशीलता का काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी सरकार के केन्द्रीय शासनविभाग में केवल बाहर के ज्ञान और संदेश पहुँचाने की ही क्षमता है, तो वह तो एक मौन अक्रिय सरकार ही रह जायगी; और जब तक उसके पास अर्जित ज्ञान और प्राप्त संदेशों के अनुसार

निर्णीत आदेशों को भिन्न-भिन्न विभागों तक ले जानेवाले आज्ञाकारी कर्मचारी न हों, तब तक वह उन विभागों का शासन करने में असमर्थ ही रहेगी। मस्तिष्क हमारे शरीर का केन्द्रीय शासन-विभाग कहा जा सकता है। उसके राज्य-संचालन के लिए ऊपर वर्णित वात-सूत्र या तार दूत का कार्य करते हैं। ये सूत्र न सिर्फ़ विभिन्न अंगों की सूचना या संदेश मस्तिष्क तक पहुँचा देते हैं, बल्कि मस्तिष्क की आज्ञा या आदेश को उन अंगों तक पहुँचाने का काम भी इन्हीं के सुपुर्द है। इन दोनों कामों के लिए दो भिन्न-भिन्न प्रकार के सूत्र या तार हमारे नाड़ी-मण्डल में हैं—१. वे जो मस्तिष्क और सुषुम्ना से विभिन्न अंगों को जाते हैं; ये 'केन्द्रत्यागी' कहे जाते हैं; २. वे जो अंगों से मस्तिष्क और सुषुम्ना को जाते हैं; ये 'केन्द्रगामी' कहलाते हैं। केन्द्रगामी तार सांवेदनिक होते हैं अर्थात् मस्तिष्क में उनके द्वारा किसी अंग की अनुभूति की संवेदना होती है। इसके विपरीत केन्द्र-त्यागी तार मस्तिष्क के आज्ञानुसार अंगों में गति उत्पन्न करते और उनका संचालन करते हैं। ये 'मोटर नर्व्हस्' (Motor Nerves) कहे जाते हैं। ये तार किस प्रकार अपना कार्य-संपादन करने में समर्थ होते हैं, यह हम विस्तारपूर्वक आगे के लेख में बता-येंगे। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि केन्द्रत्यागी या गत्युत्पादक तारों के उत्पत्ति-स्थान मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना के भीतर रहते हैं। इसके विपरीत केन्द्रगामी अथवा सांवेद-निक तारों के उद्गमस्थल सुषुम्ना और मस्तिष्क से बाहर होते हैं।

अब हमें यह देखना है कि उपर्युक्त केन्द्रगामी तार मस्तिष्क में कहाँ जाकर समाप्त होते हैं तथा केन्द्रत्यागी तार के उद्गमस्थलों का मूल मस्तिष्क से क्या संबंध है। इस संबंध में अध्ययन करने पर वैज्ञानिकों ने यह मालूम किया है कि बृहत् मस्तिष्क के वल्क या धूसर अंश में भिन्न-भिन्न भागों के भिन्न-भिन्न काम हैं। कोई भाग दृष्टि से संबंध रखता है, तो कोई स्वाद या घ्राण से। किसी का कार्य गति उत्पन्न करना है, तो कोई शीत, ताप, वेदना आदि की संवेदना ही से संबंध रखता है। ये भाग अलग-अलग कहे जाने पर भी वास्तव में एक-दूसरे से पेचीदे ढंग से जुड़े हुए हैं, और परस्पर संबंधित हैं। ये विभिन्न भाग 'केन्द्र' कहलाते हैं। इस प्रकार बृहत् मस्तिष्क के पृष्ठ पर दृष्टि केन्द्र, श्रवण केन्द्र, घ्राण और स्वाद के केन्द्र, गति क्षेत्र, सांवेदनिक क्षेत्र आदि विभिन्न केन्द्र निश्चित हैं (देखो इसी पृष्ठ का चित्र)। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी शासन-तंत्र के विभिन्न विभागों की तरह यद्यपि ये केन्द्र या विभाग केवल अपने अपने कार्यों ही के लिए उत्तरदायी हैं, फिर भी ज़रूरत पड़ने पर ये एक-दूसरे से मिलकर भी काम करते हैं। ये क्षेत्र केन्द्रगामी और केन्द्रत्यागी तारों द्वारा शरीर के विभिन्न भागों से संबंधित हैं। मानव मस्तिष्क बड़ी पेचीदा मशीन है। उसकी क्रिया-प्रक्रिया हमारे बिजली की तार-बर्क़ी के जंगल से कहीं अधिक गूढ़ और पेचीदा है। अंगों से मस्तिष्क तक संवेदना की सूचना पहुँचने या मस्तिष्क से उन अंगों तक प्रतिक्रिया के रूप में आदेश पहुँचने में यद्यपि एक पल भर लगता है, किन्तु इस क्रिया के संपादन के लिए संसार में सबसे अधिक पेचीदा यंत्र-प्रणाली हमारे इस शरीर में प्रकृति ने बनाई है। हम अगले लेख में देखेंगे कि किस प्रकार यह मशीन काम करती है। साथ ही, यह भी देखेंगे कि ऊपर वर्णित अंगों के अलावा हमारे मस्तिष्क में और कौन-कौन विशेष महत्त्व के अंग स्थित हैं, जिनका हमारी मानसिक क्रिया-प्रक्रियाओं से अत्यंत महत्त्वपूर्ण संबंध है, जैसे लघु मस्तिष्क का क्या कार्य है, सुषुम्ना के सिपुर्द कौन-कौन-से काम हैं, एक इष्ट गति उत्पन्न करने में कौन-कौन-सी क्रियाओं का हमारे वात-संस्थान में होना आवश्यक है, आदि।
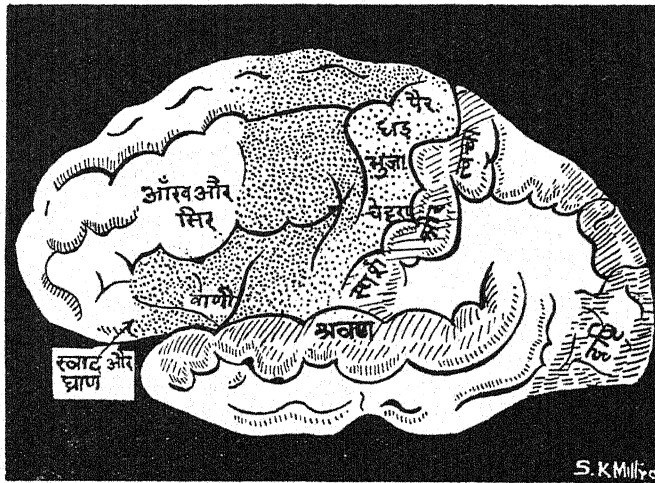
हमारे मस्तिष्क के विविध ज्ञान-केन्द्र
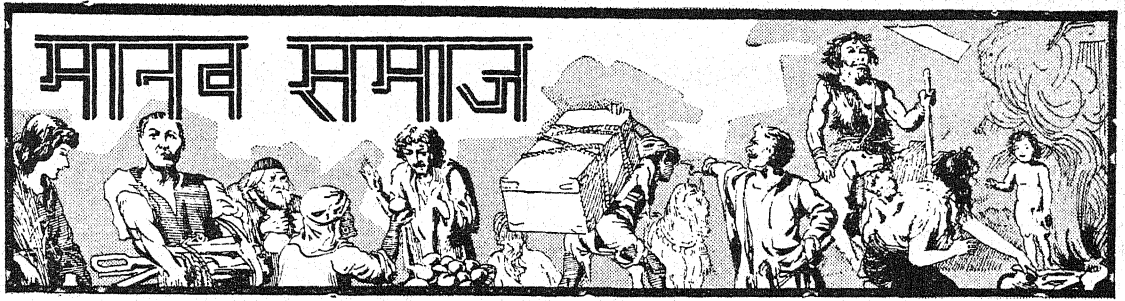
# हमारा आर्थिक विकास

"मनुष्य निःसहाय होते हुए भी अपने बुद्धि-बल द्वारा संसार में सर्वविजयी हुआ है—इस विजय-यात्रा में प्रकृति और मनुष्य का प्रतिद्वन्द्व निरन्तर चलता रहा है।"

आदि काल से लेकर आज तक मनुष्य का जीवन निवासस्थान की प्राकृतिक दशा के अनुकूल ढलता रहा है। प्रकृति ने मनुष्य का आहार, वस्त्र, भूषण, रहने का घर, आचरण, आर्थिक उद्यम व राजनीतिक पद्धति को नियत किया है। पथरीले पहाड़ी देशों में, जहाँ खेती दुष्कर है, वन के कन्द-फल और पशु-मांस ही मनुष्य की भोजन-सामग्री रही है। वहाँ पशुओं की खालों से मनुष्य ने शरीर को ढकने का काम लिया है। मरुप्रदेशों में जल का अभाव होने के कारण समाज के विधान में हम जल के उपयोग के नियम तथा उसका दुरुपयोग करने पर दण्डविधान भी पाते हैं। भिन्न-भिन्न देशों का सामाजिक संगठन व आर्थिक क्रम वहाँ की भौगोलिक दशा के अनुसार निश्चित हुआ है। कहीं खेती का उद्यम है, तो कहीं कल-कारख़ानों द्वारा वस्तुएँ बनाकर दूर देशों को भेजी जाती हैं। यदि साइबेरिया और उत्तरी शीत प्रदेश के निवासी (इस्किमो आदि) पशु-मांस भक्षण करके बर्फ़ के मकानों में रहते हैं, तो अफ्रीका या भारतवर्ष के निवासी खेती द्वारा पैदा किये हुए अन्न व फल का स्वाद लेते हुए सूर्य व चन्द्र के प्रकाश में सुखप्रद जीवन व्यतीत करते हैं। अतः मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्राकृतिक दशा के द्वारा निर्धारित होता रहा है और नतमस्तक होकर उसे प्रकृति की आज्ञा का पालन करना पड़ा है। किन्तु इसके साथ-साथ प्रकृति से द्वन्द्व करने की भी उसने चेष्टा की है। मनुष्य का जीवन प्रकृति के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता का एक रुचिकर इतिहास है। इस घोर युद्ध में मनुष्य का एक सहकारी और प्रबल मित्र उसकी बुद्धि थी। बुद्धिबल द्वारा मनुष्य ने पशु और प्रकृति दोनों को परास्त किया और प्रकृति का दास न रहकर प्रकृति और पशु दोनों को अपना दास बना लिया।

यह बतलाया जा चुका है कि मनुष्य ने सामाजिक जीवन जन्तुओं और पशुओं के आचरण से सीखा। परन्तु वास्तव में परिस्थिति व प्रकृति ने मनुष्य को साथ-साथ रहने व मिलकर काम करने के लिए विवश कर दिया। आर्थिक जीवन का प्रमुख कार्य भोजन एकत्रित करना है। प्रारम्भिक काल में मनुष्य को खेती करने की कला मालूम न थी। उस समय जीवन-निर्वाह की सामग्री केवल कन्द-फल, मछली और वन के पशु थे। पर्वत-प्रदेश तथा वन के समीप रहनेवालों का जीवन-आधार आखेट था। समुद्रतट-वासी मछली खाकर उदर-पोषण करते थे। विशेष बात यह है कि इस समय में मनुष्य का सामाजिक व आर्थिक संगठन भोजन-व्यवस्था के अनुकूल ही बन गया। आर्थिक जीवन का आदि काल 'आखेट का युग' कहलाता है। इस काल में पुरुष आखेट करने, कन्द-फल जुटाने या मछली आदि पकड़ने में लगे रहते थे। स्त्रियाँ घर पर रहकर बच्चों का पालन-पोषण करती थीं। पुरुष निरन्तर भोजन की खोज में भ्रमण करता रहता था। इसलिए इस समय में मातृसत्तावादी (Matriarchal) परिवार का संगठन हुआ। जिस दिन सुयोग से भोजन अधिक मिलता, उस दिन बड़ा समारोह मनाया जाता था। आखेट के बाद परिवार के लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर आनन्द मनाते थे। मित्र-सम्बन्धियों का भोज होता था। यह एक प्रकार से उस समय का त्यौहार-दिवस था। आखेट में अनिश्चितता होने के कारण कई दिवस ऐसे भी होते थे, जब मनुष्य को जंगल अथवा जलाशय से निराश होकर ख़ाली हाथ घर लौटना पड़ता था। ऐसे दिन उपवास के अतिरिक्त कोई और उपाय ही न था। इस दुःखद अनिश्चितता को दूर करने और प्रति दिन के आखेट-सम्बन्धी अनिवार्य कठोर परिश्रम से बचने के लिए मनुष्य ने पशु से मैत्री करने का

प्रयत्न किया। अब मनुष्य आखेट में पशु को मारने व पकड़ने दोनों ही की चेष्टा करता था। इस नवीन योजना ने उसके जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। पशु को मारने के बजाय उसको जीवित पकड़ना अधिक दुष्कर कार्य था। अब यह आवश्यक हुआ कि कुछ मनुष्य साथ मिलकर आखेट पर जायँ और पशु को घेरकर पकड़ें। यही मनुष्य के सहयोगिक जीवन की नींव है। पशु पकड़ने के बाद इन बन्दी पशुओं के संरक्षण की समस्या उपस्थित हुई। डर था कि कहीं पशु भाग न जायँ, अथवा दूसरे मनुष्य और हिंसक पशु इन्हें उठा न ले जायँ। इसलिए परिवार के कुछ व्यक्तियों को पशुओं के निरीक्षण का कार्य करना पड़ा। साथ-ही-साथ इन पालतू पशुओं के भोजन के प्रबन्ध का भार भी बढ़ गया। उनकी समय-समय की देखरेख, तथा उनके बच्चों का पालन-पोषण स्वभाव ही से कोमलप्रकृति और मृगया के लिए असमर्थ स्त्री-जाति के हिस्से में आया। इस तरह आजकल के आर्थिक जीवन के मूल सिद्धान्त श्रम-विभाग ( Division of Labour ) का जन्म हुआ।

पालतू पशुओं में सबसे पहले पाला जानेवाला पशु कुत्ता था और यह पशु आज तक मनुष्य का साथी बना हुआ है। पालतू बनाने पर मनुष्य ने कुत्ते से आखेट में सहायता लेना प्रारम्भ किया और अब मनुष्य के समूह, पालतू कुत्तों की सहायता से, अन्य पशुओं को पकड़ने लगे। बहुधा शिकार न मिलने पर अथवा आखेट में असफल होने पर पाले हुए पशु को ही मारकर क्षुधा-तृप्ति होती थी। अपने परिवार के भोजन के अतिरिक्त पशुओं के लिए भोजन-प्रबन्ध का कार्य भी अब मनुष्य को चिन्तित करने लगा। अतएव मनुष्य ने अपना निवासस्थान ऐसे स्थानों को बनाया, जहाँ चरागाह समीप थे और पशुओं के लिए खाने का सुभीता था। थोड़े-थोड़े समय के बाद मनुष्य को अपना निवासस्थान बदलना पड़ता था और चरागाहों की खोज में जाना पड़ता था। इसके लिए मनुष्य ने कुत्ते के बाद घोड़े को पालतू बनाया और सुदूर यात्रा में उससे सवारी का काम लिया। पकड़े हुए पशु और चरागाह अब मनुष्य की सम्पत्ति गिने जाने लगे, जिन्हें बचाने की वह चेष्टा करता और उनकी रक्षा में बहुधा भिन्न-भिन्न दलों में परस्पर युद्ध भी होता था। विजयी दल पराजित दल के पशुओं और चरागाहों को छीन लेता था और पराजित दल को दास बनाकर अपने साथ रखता था। ऐसी अवस्था में प्रत्येक परिवार अपनी जन-संख्या बढ़ाने की चेष्टा करने लगा। परिवार का बल जन-संख्या पर निर्भर था। अब परिवार में पुरुष का पद उच्च समझा जाने लगा, क्योंकि युद्धकार्य, रक्षाकार्य, आखेट तथा चरागाहों का ढूँढ़ना केवल पुरुष ही कर सकता था। परिवार मातृसत्तावादी स्थान पर पितृसत्तावादी होने लगे। परिवार की जन-संख्या बढ़ाने और एकत्रित रखने के लिए पुरुषों ने एक से अधिक विवाह किये, संयुक्त परिवार बनाये, छोटे-छोटे परिवारों में विवाह-सम्बन्ध द्वारा अथवा अन्य उपायों से मैत्री-भाव बढ़ाया और इस तरह कई परिवार अथवा जन-समूह मिलकर एक जाति के रूप में संगठित हुए। इन जातियों में साथ रहने के कारण एकसाँ आचरण-व्यवहार होता था। उनका एक मुखिया होता था और अधिकांश में उसी मुखिया के आदेशानुसार सम्पूर्ण जाति कार्य करती थी। चरागाहों का दूसरा प्रभाव मनुष्य के भोजन पर पड़ा। पशुमांस के अतिरिक्त इनके भोजन में कन्द, मूल, फल इत्यादि भी अधिक मात्रा में आने लगे। पाले हुए पशुओं के प्रति मनुष्य में दया-भाव उत्पन्न हुआ और उनको मारकर खाने में उसे दुःख होने लगा।

अपने निवासस्थान को दैवी प्रकोप तथा हिंसक पशुओं से सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य ने वृक्षों की शाखाओं, पत्थरों के टुकड़ों व अन्य सामग्री एकत्रित करके रहने के स्थान बनाये थे। पशुओं की खालें वस्त्र के काम में लाई जाती थीं। अग्नि प्रज्वलित करने का कार्य भी मनुष्य को मालूम हो चुका था। दो पत्थरों को रगड़कर वृक्ष-शाखाओं की सहायता से यह कार्य किया जाता था। यहीं से कला के विकास का भी आरम्भ होता है। इस कार्य में बूढ़े मनुष्य व स्त्रियों का प्रमुख हाथ था। युवा पुरुष सदैव आखेट, तथा परिवार व पशु-संरक्षण में संलग्न रहते थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की नींव भी इसी काल से पड़ती है। पकड़े हुए पशु, निवासस्थान तथा एकत्रित कन्द-मूल, परिवार व मनुष्य के छोटे-छोटे समूहों की सम्पत्ति समझे जाते थे। कहीं-कहीं तो चरागाह तक बँटे हुए थे और एक दूसरे के चरागाह में जाने के लिए तथा अधिकार पाने के लिए दो दलों में युद्ध भी होता था। इस समय तक मनुष्य को वृक्षों का लगाना तथा खेती करने की कला का ज्ञान नहीं हुआ था। खेती प्रारम्भ करने का श्रेय भी स्त्री-जाति ही को है। चरागाह के इस युग में स्त्रियाँ समीपवर्ती वन-वृक्षों से कन्द-मूल तोड़ लेती थीं। नदियों से जल लाने का काम भी वे ही करती थीं। इस काम में कुछ समय तक एक ही मार्ग से फल इत्यादि लाते समय मार्ग में यहाँ-वहाँ फलों के बीज गिर जाते थे। उसी मार्ग से जल लाते समय उन पृथ्वी पर दबे हुए बीजों को पानी भी मिला। वर्षा ऋतु में इन बीजों ने छोटे-छोटे पौदों का रूप धारण किया
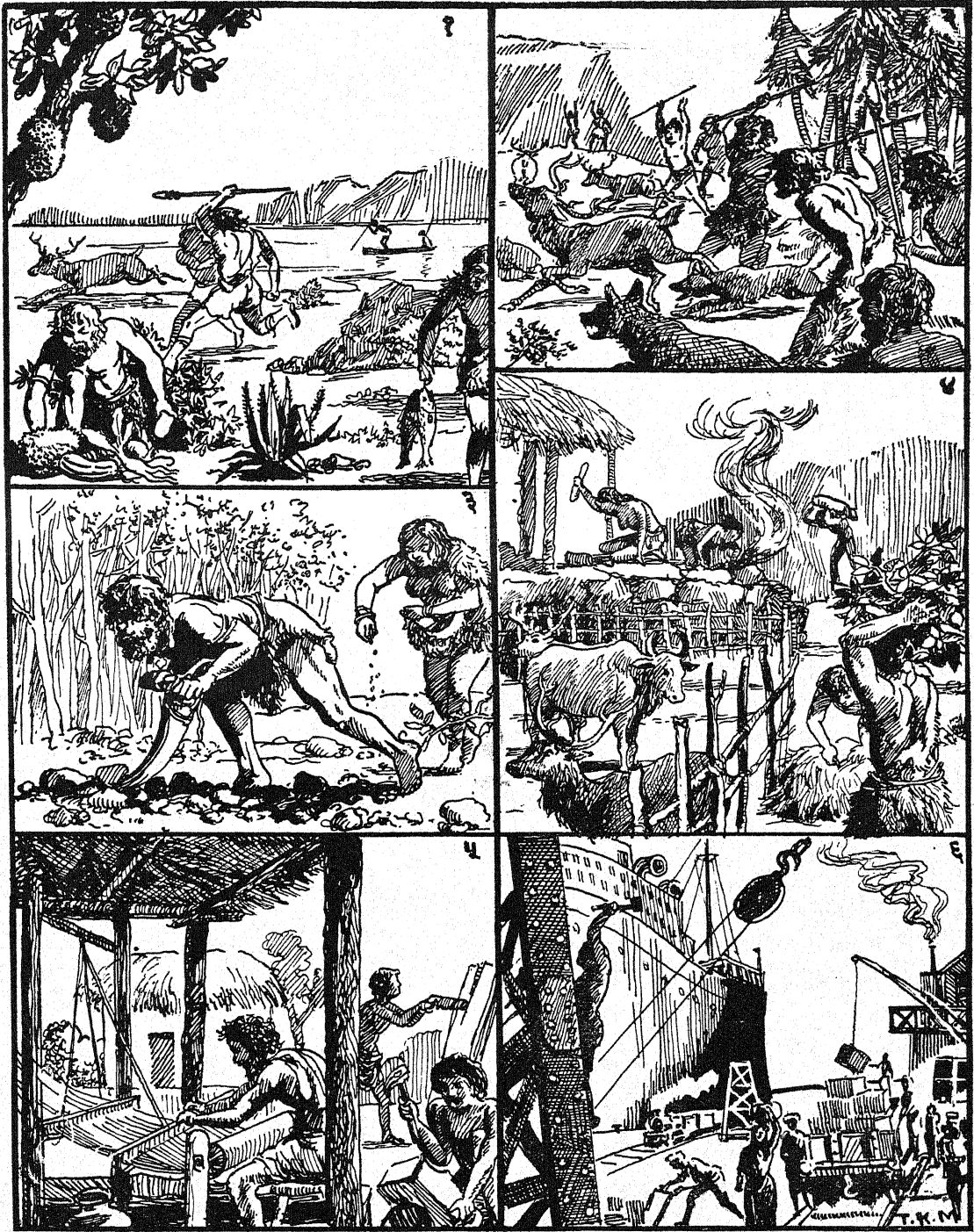
**मनुष्य के आर्थिक जीवन का विकास**

( १ ) आखेट-काल—जब जंगल के कंद-मूल, जल की मछली और वन के पशुओं से आहार प्राप्त करना ही मनुष्य का एकमात्र काम था ; ( २ ) पारस्परिक सहयोग का आरंभ—कई आदमी मिलकर कुत्ते आदि पशुओं की सहायता से बारहसींगे आदि को घेर कर पकड़ रहे हैं । ( ३ ) खेती का आरंभ ; ( ४ ) पारिवारिक जीवन का उदय और एक स्थान में बसना तथा पशु आदि को पालना ; ( ५ ) छोटे-छोटे उद्योग-धंदों और कलाओं का आरंभ ; ( ६ ) आधुनिक युग में मनुष्य के आर्थिक जीवन का फैलाव ।

जिनको देखकर उस समय के मनुष्यों को बड़ा कौतूहल हुआ। साथ-ही-साथ फल इत्यादि के इन वृक्षों के निवास-स्थान के समीप आ जाने से खाने की सुविधा भी हो गई, अतएव अब वृक्षों को समीप लगाने का प्रयत्न होने लगा और इसी प्रयत्न ने समयानुसार खेती का रूप धारण कर लिया।

भूमि व जलवायु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की खेती होने लगी। कृषि के विकास में भी अनेक अवस्थाएँ रही हैं, जो देश की प्राकृतिक दशा तथा मनुष्य के तत्कालीन ज्ञान की अवस्था के अनुसार हुई हैं। खेती के काल में मनुष्य ने गाय व बैल को पालना शुरू किया और बैल से अपने इस नये कार्य में सहायता ली। खेती के आदि काल में भूमि खोदने के कार्य में पकड़े हुए मृगों के सींग से सहायता ली जाती थी। क्रमशः लोहे के अस्त्र बनाये जाने लगे और हल चलाने के लिए बैलों व अन्य चौपायों से काम लिया जाने लगा। यही कारण है कि कृषि-प्रधान देशों में आरंभ से ही गाय व बैल की महिमा बहुत है। खेती के विकास ने मनुष्य के निरन्तर भ्रमण, आखेट की खोज, भोजन की अनिश्चितता की अनिवार्यता को दूर कर दिया। अब परिवार एक स्थान पर बहुत काल तक निश्चित रूप से रहने लगा। इसके परिणामस्वरूप सुन्दर और अधिक काल तक रहनेवाले टिकाऊ निवासस्थानों का निर्माण हुआ। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मनुष्य गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हुआ। एक किसान के लिए आवश्यक हुआ कि वह विवाह करे। खेती व्यक्तिगत न होकर अब परिवार की वस्तु हो गई, जिसमें सबका सहयोग अनिवार्य था। दुष्कर व परिश्रम के कार्य पुरुष के हिस्से में पड़े। स्त्रियाँ बीज बोने, ग़ल्ला साफ़ करने, खेत साफ़ करने इत्यादि के सुगम कार्य करती थीं। पशुपालन का कार्य भी स्त्रियाँ तथा बालकों पर रहा। छोटी-छोटी कलाओं का उत्थान होने लगा। रुई इत्यादि के पैदा होने से कपड़ा बनने लगा। पुरुष को परिवार के साथ रहना और उसकी रक्षा व पालन का भार लेने से परिवार के स्वामित्व का पद प्राप्त हुआ। यहाँ से स्त्रियों का प्रभुत्व घटा तथा पुरुष का प्रभुत्व प्रबल हुआ।

इसके बाद का समय 'छोटे-छोटे कला-कौशल का युग' या 'कलाकार समिति (Cuild) का काल' कहा जाता है। इस काल में व्यक्तिगत कलाकार से लेकर छोटे-छोटे कारखानों तक का उत्थान भी सम्मिलित है। छोटे-छोटे औज़ारों का बनाना, वस्तु को एकत्रित करना तथा औज़ारों के भिन्न-भिन्न प्रयोग मनुष्य ने इसी काल में सीखे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव अब प्रमुख हुआ और पैतृत्व की प्रथा प्रबल हुई। परिवार अथवा वंश संगठित हुए। एक ही उद्योग या कला में संलग्न व्यक्तियों में आवश्यकताओं, तथा सुविधा-असुविधाओं की एकता व समानता से परस्पर सम्पर्क बढ़ा और घनिष्ठता होने लगी। मनुष्य-समाज भिन्न-भिन्न उद्योगी समूहों में विभाजित हुआ। इधर गत दो शताब्दियों में मशीन, द्रुतगामी सवारियों तथा शीघ्र समाचार फैलने के साधनों के आविष्कारों ने कला-सम्बन्धी इस संगठन का रूप बिल्कुल पलट दिया है। छोटे-छोटे कारख़ानों, कारीगरों के परिवारों व व्यक्तिगत कलाकारों की जगह अब बड़े-बड़े मिलमालिकों द्वारा संचालित मिलें बन गई हैं। व्यापार गाँव, नगर व प्रान्त में सीमित न रहकर अब अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। गाँव की कला के विनाश के साथ-साथ मनुष्य के आर्थिक संगठन में भी अपूर्व परिवर्त्तन हुआ है। सुदृढ़ पारिवारिक जीवन शिथिल हो गया है और परिवार-विच्छेद होने लगा है। आज पुरुष यदि एक कारख़ाने में काम करता है, तो स्त्री दूसरे में। अब मनुष्य का आर्थिक जीवन इस सीमा तक पहुँच चुका है कि आर्थिक निर्भरता व सहयोगिता का स्थान अब स्वतंत्रता व स्वच्छंदता ने ले लिया है। देश की प्राकृतिक दशा, सम्पत्ति व विज्ञान की उन्नति के अनुसार मनुष्य ने संसार के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक आर्थिक परिवर्त्तन किये हैं। आर्थिक विकास का क्रम सर्वदा सर्वत्र एक-सा न रहकर भिन्न-भिन्न रहा है। कहीं-कहीं कई अवस्थाएँ अब भी एक साथ ही पाई जाती हैं और किसी-किसी जगह प्रगति के कारण बीच की अवस्थाएँ प्राप्त किये बिना ही आगे की उन्नतिशील अवस्था ने स्थान पाया है। बुद्धि-विकास द्वारा मनुष्य का कार्यक्रम पशु-बुद्धि के कार्यों तक ही सीमित न रहा, वरन् वह धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय पाता गया और प्रकृति के कुछ अटल व अजेय नियमों को छोड़कर मनुष्य ने प्रकृति को स्वामी के स्थान से गिराकर उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया है। परन्तु इतनी उज्ज्वल विजय के बाद भी मनुष्य प्रकृति को बिल्कुल परास्त नहीं कर सका। इस कल-कारख़ानों के युग में भी जलवायु का प्रभाव, पृथ्वी की परिमित उपज, मानव प्रकृति, धातुओं की सुलभता अथवा न्यूनता, भूकम्प, बाढ़, वर्षा की कमी, अति शीत और ताप आदि बातें प्रकृति की शक्ति का प्रदर्शन करते हैं और विज्ञान का पुतला पराकर्मी अजेय मनुष्य पुनः उत्साहित होकर उससे द्वन्द्व करने में लग जाता है। यह क्रम आदि से चला आया है और शायद अन्त तक चलता रहेगा।

# सभ्यताओं का उदय—(१) प्राचीन मिस्र

**इतिहास की पगडंडी पर मनुष्य की लम्बी यात्रा की शुरू की मंज़िलों पर हमने पिछले प्रकरण में सरसरी नज़र दौड़ाई, और कुछ ही पन्नों में हज़ारों-लाखों वर्ष हम पार कर गए। इस प्रकरण में हम आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व की स्थिति पर आ पहुँचे हैं, जब पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ ही सभ्यताओं का उदय होने लगा था। इस लेख में हम सर्वप्रथम मिस्र को लेते हैं।**

सिन्धु और गङ्गा ने भारत की और दजला और फ़रात नदियों ने मेसोपटेमिया की सभ्यता के विकास में जितना भाग लिया है, उससे भी अधिक नील नदी ने मिस्र देश की सभ्यता पर अपना प्रभाव डाला है। वस्तुतः नील नदी के बिना वहाँ सभ्यता की कल्पना तक नहीं की जा सकती। वहाँ का जीवन और सभ्यता नील नदी का ही प्रसाद है। उसकी बाढ़ से और जल में मिली हुई मिट्टी से उसके दोनों तट उपजाऊ हो गए वरना वहाँ रेगिस्तान ही दिखाई देता। उसी की सहायता से लोग मिस्र के विभिन्न स्थानों में आ-जा सकते थे। उसी के दोनों तटों पर मिस्र के इतिहास का निर्माण हुआ है। कोई आश्चर्य नहीं कि मिस्र-निवासी नील नदी को देवता मानकर उसकी स्तुति किया करते थे।

पुरातत्व-वेत्ताओं ने, विशेषतः मोर्गन ने, यह पता लगाया है कि अन्य देशों की तरह मिस्र में भी पुराने और नये पत्थर के युग थे, जिनका समय ईसा के दस हज़ार से चार हज़ार वर्ष पूर्व तक रहा। इस भूभाग के पत्थर के औज़ार संसार के अन्य देशों के पत्थर-युग के औज़ारों से बनावट, सफ़ाई और तेज़ी में बेहतर हैं। उस समय के लोगों ने जङ्गल साफ़ करके, दलदलों को दूर करके, खेती करना आरम्भ कर दिया था। वे नाव बनाना, अनाज पीसना, मिट्टी के अच्छे बरतन बनाना, कपड़े और दरी बुनना और तस्वीर बनाना जानते थे। वे जानवर पालते थे। उन्हें ख़ुशबू बनाने और रत्नों का ज्ञान था। वे बाल कटवाते थे। उनको चित्र-लेख अङ्कित करना आता था। पत्थर-युग के अन्त में उनको धातुओं का ज्ञान हो चला था। कुछ लोगों का अनुमान है कि लेखन-कला का आविष्कार मिस्र देश में ही हुआ है। यह तो सब मालूम हुआ, किन्तु यह ठीक पता नहीं कि वहाँ के आदिम निवासी कौन और किस जाति के लोग थे। यह अनुमान किया गया है कि वे लोग किसी एक जाति के न थे। उनका समाज न्यूबिया, लीबिया और ईथोपिया के काले लोगों एवं सेमेटिक और आर्मिनाइड लोगों के मिश्रण से बना था।

मिस्र के ऐतिहासिक काल का आरम्भ वस्तुतः ईसा के ३४०० वर्ष पूर्व अर्थात् अब से लगभग ५४०० वर्ष पहले होता है। वहाँ के इतिहास को विद्वानों ने कई भागों में विभक्त किया है। पहला भाग ३४०० से २१६० वर्ष ई० पू० तक रहा। उसे 'पुरातन राज्य' (Old Kingdom) कहते हैं। उसके बाद 'माध्यमिक राज्य' ( Middle Kingdom ) अथवा 'सामन्त सत्ताकाल' ( Feudal Age ) आरम्भ हुआ, जो २१६० से १५८० वर्ष ई० पू० तक रहा। तीसरा काल जिसे 'नया राज्य काल' (New Kingdom) अथवा 'साम्राज्य काल' कहते हैं, १५८० से ६४५ ई० पू० तक रहा। इसके बाद मिस्र के दुर्दिन आ गये। उस पर आक्रमण होने लगे। ईसा के पूर्व की छठी शताब्दी में फ़ारस ने मिस्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किया और ३३२ ई० पू० में यूनान के प्रख्यात विजेता अलेक्ज़ाण्डर ( सिकन्दर ) ने सदा के लिए मिस्र की स्वाधीनता का अन्त कर दिया। ऐतिहासिक काल में मिस्र में इकतीस राजवंशों ने राज्य किया, जिनमें चौथा, बारहवाँ और अठारहवाँ विशेष रूप से प्रख्यात हुआ।
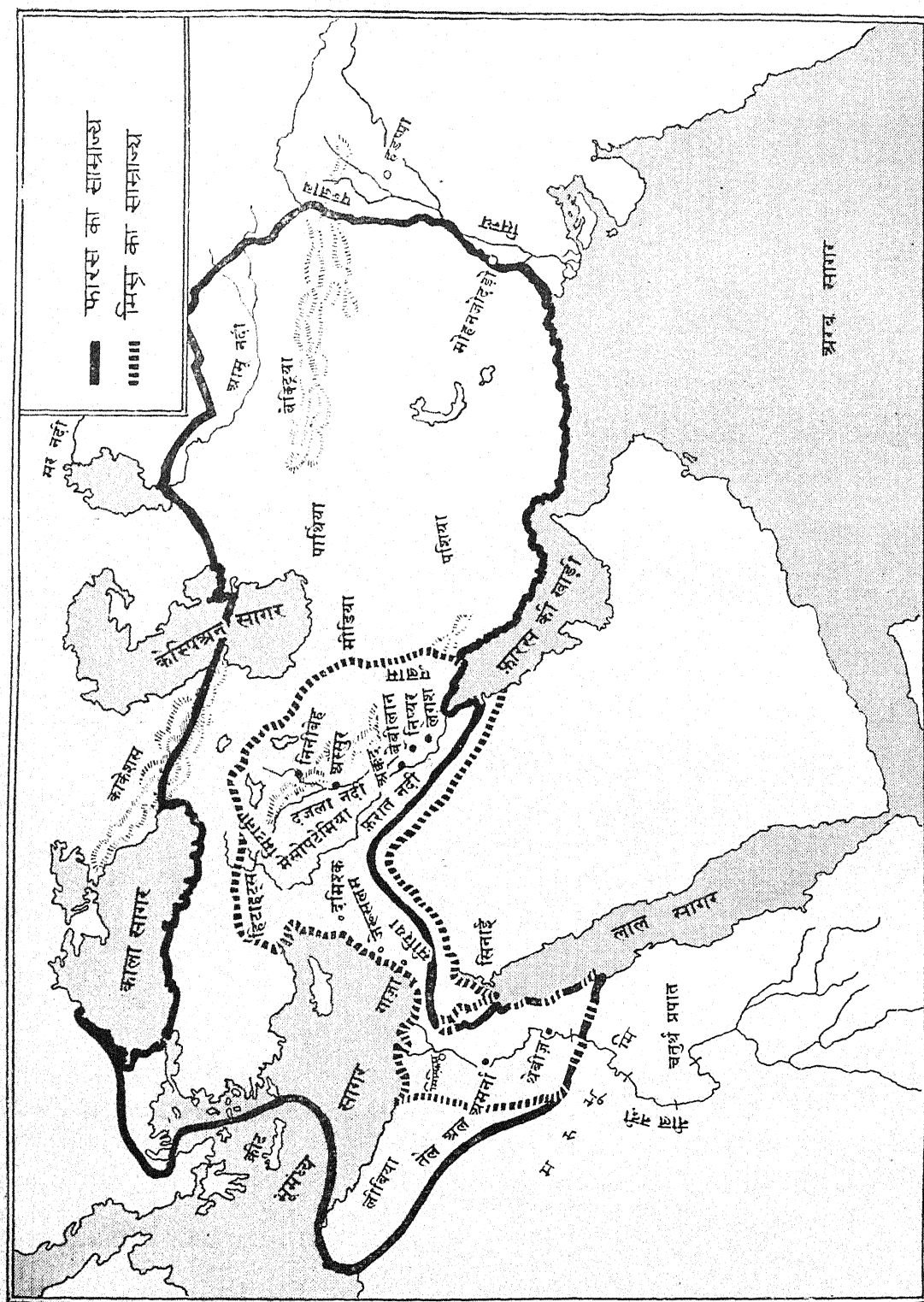
प्राचीन दुनिया का मानचित्र ( फ़ारस के साम्राज्य के बारे में आगे विवरण दिया जायगा )

**पुरातन राज्यकाल** ( ३४००–२१६० ई० पू० )

इस युग का उस समय आरम्भ हुआ जबकि 'मीनीज़' नामक एक व्यक्ति ने, जो नील नदी के दक्षिणी भाग में राज्य करता था, नील के उत्तरी भाग को जीतकर सम्पूर्ण तलहटी में एक राज्य स्थापित कर दिया। उसके पहले अनेक छोटे-छोटे ज़िमींदारों ने मिलकर एक राज्य नील के उत्तर में और एक दक्षिण में बना लिये थे। मीनीज़ ने क़ानूनों को प्रचलित किया, जो उसे 'थोथ' नाम के देवता से मिले थे। उसने लोगों को मेज़ और काउच (Couch) का प्रयोग सिखलाया। उसने अपनी राजधानी 'मेम्फ़िस' नगर में स्थापित की। इस समय का दूसरा प्रसिद्ध राजा ज़ोसीर ( ३१५० ई० पू० ) हुआ, जिसको मिस्र के लोग देवता की तरह मानते थे। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि उसने वैद्यक, विज्ञान, कला और स्थापत्य-विद्या का प्रचार मिस्र में पहले ही पहल किया। कहते हैं कि इसी के समय से वहाँ पत्थर के मकान बनना शुरू हो गये। इस युग में दस वंशों ने राज्य किया। ज़ोसीर जब मरा तब 'सक्कर' में उसकी क़ब्र के ऊपर एक पटरीदार या सीढ़ीदार पत्थर का पिरामिड बनाया गया, जिसे देखकर बाद को बड़े विशाल पिरामिडों की रचना की गयी। संसार में सबसे पुराना पत्थर का मकान भी इसी के समय में बनाया गया था। इस युग में सुन्दर तराशदार पत्थर के खंभे, उभरी नक़ाशी का काम, ग्लेज़-दार रंगीन मिट्टी की चीज़ें बनायी जाने लगी थीं। कहते हैं कि इस युग का संसार को ज्ञात प्रस्तर-स्थपति 'इमहोतेप' था। वह ऊँचे दर्जे का हकीम और राजनीतिज्ञ भी माना जाता है। इन्हीं गुणों के कारण वह राज-मंत्री हो गया था। उसी ने उस काल की पत्थर की इमारतें बनायी थीं।

फ़ेरो ख़ेफ़रे

यह 'कैरो म्यूज़ियम' में रखी हुई एक मूर्त्ति का चित्र है।

[ फ़ोटो—मैट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट ]

**चतुर्थ राजवंश** ( ३०००–२५०० ई० पू० )

ज़ोसीर के सौ वर्ष के बाद मिस्र के चौथे राजवंश (Fourth Dynasty) का प्रभुत्व आरम्भ हुआ। इस समय तक मिस्र ने स्थापत्य-कला और कारीगरी में ऐसी उन्नति कर ली थी जितनी उन्नीसवीं सदी को छोड़-कर संसार की किसी भी एक शताब्दी में कहीं भी नहीं हुई। खनिज-विद्या की उन्नति एवं मिस्र का बढ़ता हुआ व्यापार इस अपूर्व उन्नति के कारण माने जाते हैं। इस वंश का पहला राजा 'ख़ूफ़ू'* नाम का था। मिस्र उसके समय में समृद्धिशाली देश हो गया था। ख़ूफ़ू अभि-मानी और उग्र स्वभाव-वाला था। उसने एक लाख मज़दूर लगाकर बीस वर्ष में सबसे पहला पिरामिड 'गीज़े' में बन-वाया। यूनानी लेखक हेरोडोटस के अनुसार कुछ लोगों ने उसे अत्याचारी माना है। इन लोगों के अनुसार ग़ुलामों से जबरन काम लेकर उसने पिरामिड बनवाया था। किन्तु कुछ विद्वान् कहते हैं कि बेकारी के समय में अथवा नील में बाढ़ आने से पीड़ित किसानों और जनता को काम और दाम देकर उसने उनकी रक्षा की थी। अतएव उसे प्रजापालक समझना चाहिए। उसका उत्तराधिकारी 'ख़ेफ़रे' हुआ, जिसने ५६ वर्ष तक संतोषजनक शासन किया। उसके बाद वंश का पतन होने लगा।

* ग्रीसवाले "ख़ीऑप्स" नाम से उसका उल्लेख करते हैं।

गीज़े का पिरामिड तेरह एकड़ ज़मीन पर बना है। उसकी ऊँचाई ४८१ फ़ीट है। उसकी लम्बाई ७५५ फ़ीट और उतनी ही चौड़ाई भी है। पत्थरों का वह एक ठोस त्रिकोण है। उसके बनाने में तेईस लाख या पच्चीस लाख पत्थर लगे होंगे। प्रत्येक पत्थर का वज़न लगभग ढाई टन* है, किन्तु कुछ पत्थरों का वज़न तो डेढ़ सौ टन (४२०० मन) तक है! इतने भारी-भारी पत्थरों को काटकर अरब आदि दूर-दूर के प्रदेशों से लाने और उतनी ऊँचाई तक चढ़ाने में एवं एक लाख मज़दूरों के रहने, खाने-पीने और प्रबन्ध रखने में जो कठिनाइयाँ और समस्याएँ पैदा हुई होंगी, उनका अनुमान किया जा सकता है। उनको सुलझाकर कार्य को सफल करना प्राचीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। मिस्र में इञ्जीनियरी ग्रीस और रोम से अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। वैसे इञ्जीनियर योरप में उन्नीसवीं शताब्दी तक भी नहीं हुए।

### मेम्फिस नगर

गीज़े पिरामिड के आसपास राजमहल, कचहरियाँ, पार्क, बाग़ आदि बनने लगे और धीरे-धीरे वहाँ "मेम्फिस" नाम का सुन्दर नगर निर्मित हो गया। यहीं चतुर्थ वंश की राजधानी स्थापित हो गयी। इस नगर की इमारतें पत्थर की नहीं, बल्कि कच्ची ईंटों और लकड़ी की बनी थीं। रईस लोगों के मकानों के चारों ओर बाग़ लगाया जाता था। उनको कमल के फूलों का बड़ा शौक़ था। बाग़ के तालाब में कमल के फूल लहलहाया करते थे। उसमें बाल-बच्चे खेला करते थे और आदमी आमोद-प्रमोद करते, जुआ खेलते तथा स्त्रियाँ नाचा-गाया करती थीं। नगर में अच्छे-अच्छे कारीगर बसते थे। लकड़ी का और सुनारी का काम ऐसा सुन्दर होता था कि जिसका मुक़ाबला आज दिन भी करना कठिन है। चतुर कुम्हार, शिल्पकार, शीशे की चीज़ें बनानेवाले, ताँबे और काँसे की चीज़ें बनानेवाले, बारीक़ कपड़े बिननेवाले, रँगरेज़, छीपी, फ़र्दसाज़, संगतराश, जौहरी, चित्रकार, काग़ज़ बनानेवाले वहाँ बसते थे। स्मरण रखना चाहिए कि मिस्र में शीशा और बादामी काग़ज़ बनाने की कला, और बिनाई में बड़ी उन्नति हुई थी। कहते हैं कि सबसे पहले वहाँ ही शीशे का बनाना आरम्भ हुआ था। मेम्फिस नगर की समृद्धि कृषि और व्यापार पर अवलम्बित थी। मिस्रवासी छोटी-बड़ी नावों और बजरों द्वारा नदियों और मेडिटरेनियन (भूमध्य सागर) में व्यापार करते थे। स्थल-मार्ग से व्यापार गधों के द्वारा होता था, क्योंकि वहाँ के लोगों को घोड़ों का परिचय न था। इस समय वहाँ सिक्के का चलन शुरू नहीं हुआ था और व्यापार साधारणतया विनिमय (Barter) द्वारा होता था। मालगुज़ारी भी जिन्स में दी जाती थी। केवल राजा, और रईस सोने अथवा ताँबे के वज़नी छल्लों का प्रयोग सिक्कों की तरह करते थे।

पिरामिड-काल में मिस्र का समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था। एक श्रेणी तो दासों की थी, जो दूसरों की ज़मीन पर काम करते थे। दूसरी श्रेणी में स्वतन्त्र जनता थी, जो कृषि और उद्योग-धन्धों से अपना निर्वाह करती थी। प्रत्येक पेशे के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी काम को करते थे, जिससे कि हर एक पेशे की बिरादरी या ज़ात बन गयी थी जैसी कि हमारे देश में है। हर पेशे के लोगों का एक नायक होता था, जो सबसे काम लेता और उनको मज़दूरी देता था। मज़दूरी में अधिक विलम्ब होने अथवा ज़्यादती करने पर कारीगर हड़ताल कर देते थे और कभी-कभी तो उपद्रव मचाते और आक्रमण कर बैठते थे। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के लोगों के पास अपनी ज़मीन न होती थी। इनके ऊपर ज़िमींदार, और सरकारी बड़े उच्च पदाधिकारी थे। सबसे ऊँचा स्थान 'फ़ेरो' अर्थात् राजा या सम्राट् का था। सम्राट् ही कुल ज़मीन का मालिक माना जाता था।

### पाँचवाँ वंश (२६६५–२८२५ ई० पू०) और छठा वंश (२८२५–२६३० ई० पू०)

चौथे राजवंश के बाद पाँचवें राजवंश का आरम्भ हुआ। इस वंश के तेरह राजाओं के नाम मिलते हैं, किन्तु सम्भवतः नौ राजाओं ने ही राज्यासन शोभित किया। इस समय के इतिहास का अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। किन्तु एक बड़े महत्व की वस्तु उस समय का एक पेपाइरस अर्थात् काग़ज़ की लपेटी हुई कुण्डली-सी मिली है, जिसमें पाँचवें वंश के सम्राट् तत्-का-रा-असा (Taf-Ka-Ka-Assa) के समय की घटनाओं का उल्लेख है, कहा जाता है कि संसार का सबसे पुराना लेख यही है।

पाँचवें वंश की मुख्य विशेषता मिस्र में उत्तर के सूर्य देवता 'रा' की पूजा का पुनःस्थापन और प्रचार करना है। इसके पहले वहाँ दक्षिण के आकाश-देवता 'होरस' की पूजा होती थी। कहा जाता है कि इसी काल से मिस्र में 'पुरोहित' (Priest) श्रेणी का प्रारम्भ हुआ। इसके पहले पुरोहितों की कोई पृथक् श्रेणी न थी। इसी प्रकार पैतृक या पुश्तैनी पदाधिकारियों का भी आरम्भ हो गया। इसके पहले वहाँ राज्य के बड़े-बड़े पद राजा के वंशजों को ही मिलते थे। किन्तु इस समय से उच्च पद पुश्तैनी

* एक टन का वज़न लगभग २८ मन होता है।

हो गये। इनको जो अधिकार और भूमि मिली थी, वह छठे राजवंश के समय तक इनके वंश में पुश्तैनी हो गयी।

छठे वंश में "पेपी" द्वितीय नाम का पराक्रमी राजा हुआ। इसके समय (२७३८ से २६४४ ई० पू०) से यह प्रथा चली कि प्रत्येक राजा अपने समय में ऐसे मन्दिरों का निर्माण करावे, जो भवि'य में उसके महत्व के साक्षी हो सकें। पेपी ने स्वयं लाल पत्थर के मन्दिर बनवाये। इस पत्थर के लिए उसे 'असवान' पर दो बार आक्रमण भी करना पड़ा। कहा जाता है कि 'सुएज़' की ओर भी उसने चढ़ाई की थी। अपने राजत्व-काल में पेपी द्वितीय ने पाँच नहरें खुदवायीं, जिनका उद्देश्य असवान से पत्थर लाना था। यद्यपि पेपी के समय में राजकोष और राज्य की वृद्धि हुई और उसे योग्य मंत्री भी मिले और उसका राज्य-काल लगभग ६४ वर्ष तक रहा, किन्तु राज्य के अस्त-व्यस्त होने के लक्षण उसके राज्य-काल के अन्त तक साफ़ दिखायी पड़ने लगे। उसके मरते ही उसका राज्य भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। स्थानिक ज़िमींदार, सरदार और राजवंशज स्वतन्त्र बन बैठे। मेम्फिस नगर का महत्व भी उसके साथ-साथ नष्ट हो गया। ऐसी परिस्थिति में 'सीरिया' वालों ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। यह भी कहा जाता है कि न्यूबिया के 'नीग्रो' लोगों ने भी उस पर चढ़ाई कर दी। परिणाम यह हुआ कि पुराने राज्यवंशों और उनके ऐश्वर्य का अन्त हो गया।

## माध्यमिक राज्य-काल

### ग्यारहवाँ राज्य-वंश ( २३७५ से २२१२ या २१६० से २००० ई० पू० )

क़रीब तीन सौ वर्ष तक मिस्र का इतिहास अन्धकारपूर्ण और संभवतः अशान्तिपूर्ण रहा। छोटी-छोटी रियासतों के आपस के बैर और विदेशियों के आक्रमण से मिस्र अव्यवस्थित हो गया। किन्तु उसका उद्धार करनेवाली एक नई शक्ति मिस्र के मध्य भाग में पैदा हो गयी। यह थीबिया का "अन्तेफ़ों" वंश था, जिसकी राजधानी 'थेब्रीज़' में थी। इस वंश का सबसे बड़ा राजा नेभपेत्रे ( २२६०-२२४२ ? ई० पू० ) हुआ, जिसने ज़िमींदारों पर अपना प्रभुत्व जमाकर मिस्र में फिर एक राज्य स्थापित कर दिया। किन्तु उनको न तो उसने नष्ट किया और न उनके स्थानिक अधिकारों को ही उनसे छीना। यही नहीं उसने विदेशी आक्रमणकारियों से भी अनेक युद्ध किए। एक सौ साठ वर्ष तक राज्य करके यह वंश भी समाप्त हो गया, किन्तु इसने मिस्र के उत्थान के लिए रङ्ग-मञ्च तैयार कर दिया।

### बारहवाँ वंश ( २००० से १७८८ ई० पू० )

मिस्र के इतिहास में सबसे महत्व का वंश 'बारहवाँ वंश' माना जाता है। इसका सबसे पहला राजा "आमेनेमहेत" प्रथम ( २२१२-२१८२ या १५५७-१५४१ ई० पू० ) हुआ, जो या तो ग्यारहवें वंश की किसी शाखा से उत्पन्न हुआ या उसके अन्तिम राजा का मन्त्री था। इसी के समय में नये वंश की राजधानी 'इत्थतोई' की बड़ी उन्नति हुई और 'लक्सर' के प्रसिद्ध देवालयों का निर्माण आरम्भ हुआ। इसी ने 'आमोन' देवता की पूजा का प्रचार किया जो कुछ समय के बाद 'रा' से संयुक्त होकर 'आमोन रा' के नाम से मिस्र का प्रमुख देवाधिदेव प्रख्यात हो गया। इसने राजा और युवराज के मिलकर शासन करने की परिपाटी चलायी, जिससे वयस्क और युवक का सहयोग और शासन की स्फूर्ति रहे तथा राज्याभिषेक में कठिनाई भी कम पड़े। कहा जाता है कि मिस्र का यही पहला राजा है, जिसने प्रजा का पालन और राष्ट्र-सेवा को ही राजा का परम कर्तव्य निश्चित किया। यह निरन्तर राज्य का दौरा करता और अराजकता और देशद्रोहियों का दमन करता रहा। इसी की नीति का अनुकरण करके उसके प्रतापवान उत्तराधिकारियों ने ज़िमींदारी वंश का विनाश कर दिया और राजाश्रित नये राज्य-पदाधिकारियों का वर्ग तैयार कर दिया।

### सेनूस्रेत तृतीय ( २०६६-२०६१ ई० पू० )

इस वंश के राजाओं में दो विशेषतया उल्लेखनीय हैं। एक "सेनूस्रेत" तृतीय और दूसरा "आमेनेमहेत" तृतीय। 'सेनूस्रेत' तृतीय ( २०६६-२०६१ या १८८७-१८४६ ई० पू० ) ने न्यूबिया पर चढ़ाई करके दूसरे प्रपात तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा दी। पेलेस्टाइन के दक्षिणी भाग में 'सेकमेम' पर भी चढ़ाई की। किन्तु उसका सबसे महत्व का कार्य स्थानिक ज़िमींदारों और रजवाड़ों को निस्तेज और अशक्त करना था। उसका उत्तराधिकारी आमेनेमहेत तृतीत (२०६१-२०१३ या १८४६-१८०१ ई० पू०) हुआ। इसने राज्य की सीमा तृतीय प्रपात तक बढ़ाकर वहाँ क़िले बनवा दिए। इसने मोइरिस झील के पानी को बाँध बनाकर नील नदी की ओर बढ़ा दिया, जिससे एक बड़ा भूभाग जल से सिंचित और खेती से हरा-भरा हो गया। फैय्यूम में उसने प्रसिद्ध भूलभुलैयाँ और मनुष्य के चेहरे के सिंह बनवाये। सीनाई में याक़ूत और ताँबे की कानों से भी पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। उसके समय में राजा की शक्ति पूर्णता पर पहुँच गयी और शासन का कार्य ज़िमींदारों के हाथ से राजकर्मचारियों के हाथ में चला गया।

किन्तु बढ़ते हुए वैभव में क्रूर काल का विनाशकारी विधान छिपा हुआ था। उसकी मृत्यु के बाद राज्य बिगड़ने लगा और १८०० या १७८८ ई० पू० 'हिक्सोस' नामक सेमेटिक भाषा-भाषी वंश ने अरब की मरुभूमि से बढ़कर मिस्र पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया। मिस्र में विदेशियों का ऐसा प्रबल और इतने काल तक अधिकार पहले कभी नहीं हुआ था। उनके विजय का मुख्य कारण उनके युद्ध के साधन थे। उनके पास घोड़े थे, जिनको वे पहियोंवाले रथ में जोतकर चलाते थे। मिस्रवालों को न तो घोड़ों और न पहियेवाले रथों का ही ज्ञान था। इसके अलावा आक्रमणकारियों के पास काँसे के हथियार विशेषतः तलवार थी, जिसके मुक़ाबले का कोई अस्त्र मिस्र-वालों के पास न था, क्योंकि वे काँसे का प्रयोग जानते ही न थे। जान पड़ता है कि मिस्र के अधिकारच्युत ज़िमींदारों और असन्तुष्ट प्रजा ने राजाओं का साथ न दिया, जिससे आक्रमणकारियों का काम सुलभ हो गया। "हिक्सोस" के उत्थान के साथ-ही-साथ मिस्र के माध्यमिक काल का अन्त माना जाता है।

**नया राज्य-काल** ( १५८०-६४५ ई० पू० )

यद्यपि मिस्र के दक्षिणी भाग में वहाँ के ही राजा राज्य करते रहे, किन्तु हिक्सोस लोगों के प्रताप के सामने वे निस्तेज और नगण्य-से रहे। दो सौ आठ वर्ष तक हिक्सोस का ही दौर-दौरा रहा। किन्तु यह व्यवस्था ई० पू० की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से बदलने लगी। थेबीज़ के एक राजकुमार 'सेक्नेनरे' प्रथम ने हिक्सोस लोगों के विरोध का आरम्भ किया, जो दिनोदिन बल पकड़ता गया। उसका एक उत्तराधिकारी 'सेकेनेनरे' तृतीय भी संभवतः स्वतंत्रता के लिए लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ ( १५६० ई० पू० )। उसका एक पुत्र 'आहमीज़' बड़ा योद्धा निकला। उसने अपने पिता का संकल्प पूर्ण किया और हिक्सोस लोगों की राजधानी 'अवरिस' को छीनकर उनको मिस्र से निकाल दिया। इसी वीर नवयुवक ने १५७८ ई० पू० राजसिंहासन पर बैठकर अठारहवें राजवंश की प्रतिष्ठा की। यही नहीं दक्षिण के विद्रोहियों और न्यूबियन लोगों का दमन करके उसने मिस्र को फिर एकता के सूत्र से बाँध दिया।

**अठारहवाँ राजवंश** ( १५८०-१३५० ई० पू० )

'आहमीज़' के बढ़ते हुए प्रताप के आगे मिस्र के ज़िमीं-दारों और प्रबल राजकर्मचारियों का सितारा फिर डूब गया। उसने उनकी पैतृकभूमि छीनकर अपने शासन में ले ली। इसके समय में सामन्तों का अन्त हो गया और सारी भूमि राज-शासन में आ गयी। अपनी विजयों से उत्साहित होकर उसने सीरिया और पैलेस्टाइन पर चढ़ाइयाँ आरम्भ कर दीं। देश में विजयाकांक्षा की ऐसी उत्तेजक लहर उठी कि मध्यम श्रेणी के लोग भी हथियार बाँधकर सैनिक हो गए। उसने उनको उदारता के साथ पुरस्कृत करके उनके उत्साह को दृढ़ और संवर्धित कर दिया। मिस्र में घोड़े, रथ और नए अस्त्रों से सज्जित नए ढंग की स्थायी सेना की स्थापना हो गयी। इस सेना से मिस्र में दिग्विजय की अभिलाषा और नए युग का आरम्भ हो गया। आह-मीज़ ने बड़े परिश्रम के साथ अपने सुयोग्य मंत्री की सहायता से राज्य और शासन का संगठन नव आदर्शों के अनुकूल किया। समाज में राज-कर्मचारियों की वृद्धि होने लगी। मन्दिरों की सम्पत्ति और उनका महत्व बढ़ने के कारण "पुजारियों" के एक पृथक् श्रेणीबद्ध दल का आविर्भाव हो गया, जो आगे चलकर प्रबल हो गया और राज्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग बन गया।

आहमीज़ की मृत्यु ( १५५७ ई० पू० ) के पश्चात् कई प्रतापी राजे हुए। आमेनहोतेप प्रथम ( १५५७–१५४१ ई० पू० ) ने न्यूबिया के उत्तरी भाग को राज्य में मिला लिया, लीबियावालों को खदेड़कर उनके प्रान्त पर चढ़ाई कर दी, और कहा जाता है कि उसने मेसोपटेमिया की फ़रात नदी तक धावा किया। उसके उत्तराधिकारी 'थटमोज़' प्रथम ( १५४०–१५०१ ई० पू० ) ने अपना राज्य नील के चौथे प्रपात तक बढ़ा दिया। एशिया के राज्य, जिन्हें उसके पूर्वजों ने करद बनाया था, ठीक तौर पर कर नहीं देते थे। अतएव वह सीरिया की ओर बढ़ा और फ़रात नदी के तट तक जा पहुँचा। वहाँ उसे इतनी सफलता हुई कि वह प्रसन्नमन लौटा और थेबीज़ में आलीशान मन्दिर की रचना में लग गया। मन्दिरों के लिए उसने बहुमूल्य सामग्री एकत्रित कर दी और उनके लिए जागीरें दे दीं। उसकी मृत्यु ( १५०१ ई० पू० ) के बाद असली पुत्र के अभाव में उसकी पुत्री 'हाशेपसुत' महारानी बनायी गयी। वह बड़ी तेजस्विनी थी। यद्यपि उसका पति 'थटमोज़' तृतीय स्वयं पराक्रमी और प्रतापी था, किन्तु महारानी के जीते जी तक उसकी कुछ चलने न पाई। सारा राज-काज महा-रानी ही करती रहीं। कहा जाता है कि ऐतिहासिक स्त्रियों में यही सबसे पहली और प्रख्यात राज्य करनेवाली महा-रानी हुई। यद्यपि उसने राज्य-विस्तार तो नहीं किया, किन्तु इसके गौरव की पूरी तरह रक्षा की। उसके शान्तिमय
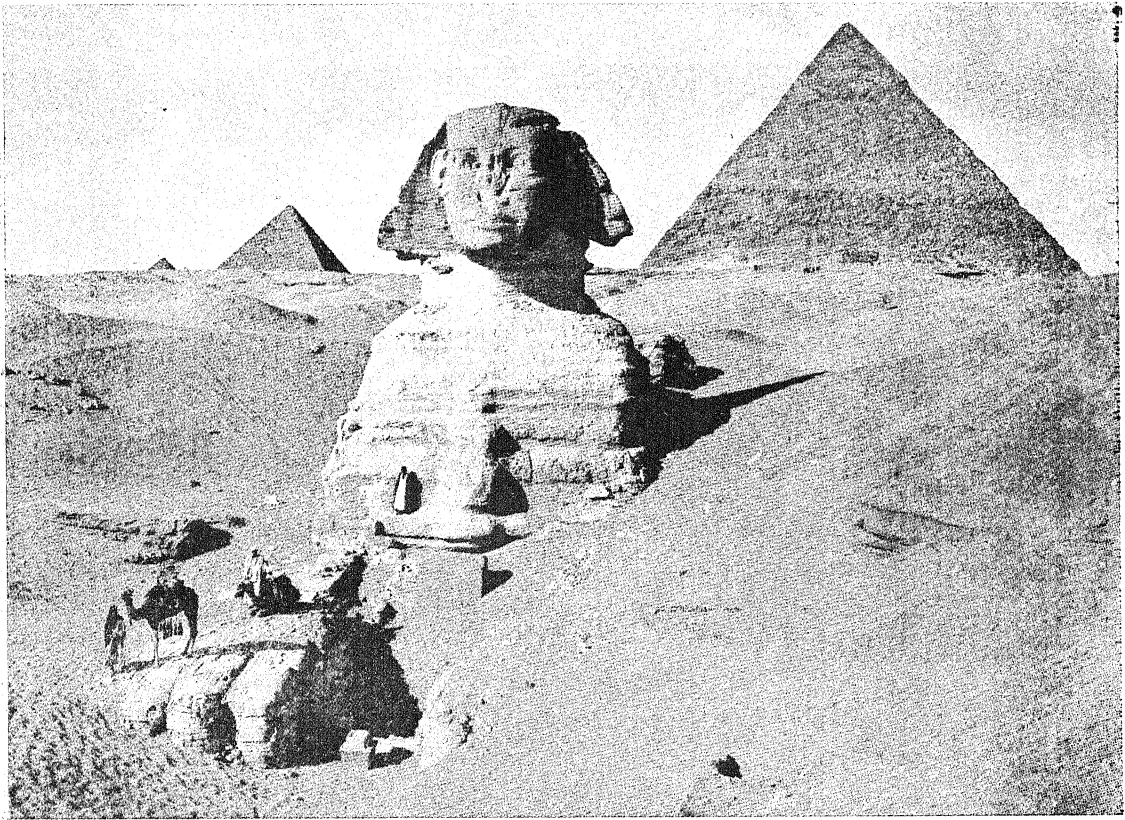
**गीज़े में स्थित स्फिंक्स की विशाल मूर्त्ति**

पीछे ख़ैफरे और मैनकुरे के पिरामिड हैं। स्फिंक्स की मूर्त्ति के संबन्ध में तरह-तरह की धारणाएँ प्रचलित हैं। कई ऐतिहासिक इसे किसी मिस्री सम्राट् की मूर्त्ति मानते हैं, और इस संबन्ध में प्रायः ख़ैफरे का नाम लिया जाता है, क्योंकि स्फिंक्स की इस मूर्त्ति के पंजों के बीच एक लेख में ख़ैफरे का कुछ उल्लेख है।
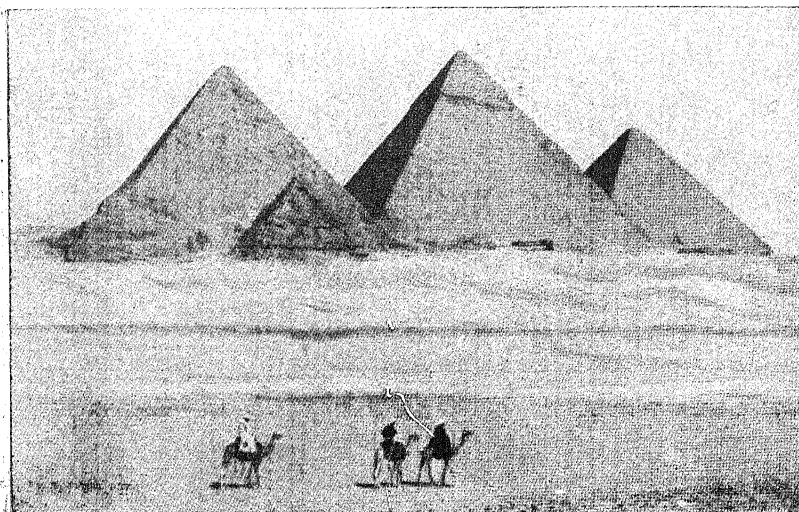
**( बाईं ओर ) गीज़े के सुप्रसिद्ध पिरामिड**

यह फ़ोटो इन पिरामिडों के दक्षिण-पश्चिम में स्थित रेगिस्तान से लिया गया है। इनमें बाईं ओर से पहला (ख़ैफरे के उत्तराधिकारी) मेनकुरे का पिरामिड है, दूसरा ख़ैफरे का पिरामिड है और तीसरा ख़ूफ़ू का महान पिरामिड है।

[ फ़ोटो—ब्रेस्टेड की 'हिस्ट्री आफ़ ईजीप्ट' से। ]

( दाहिनी ओर )

**सेनूस्रेत तृतीय**

यह प्रस्तर-मूर्ति का टूटा अंश सेनूस्रेत तृतीय की प्रतिमा का भाग बताया जाता है।

[ फ़ोटो—मैट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट ]
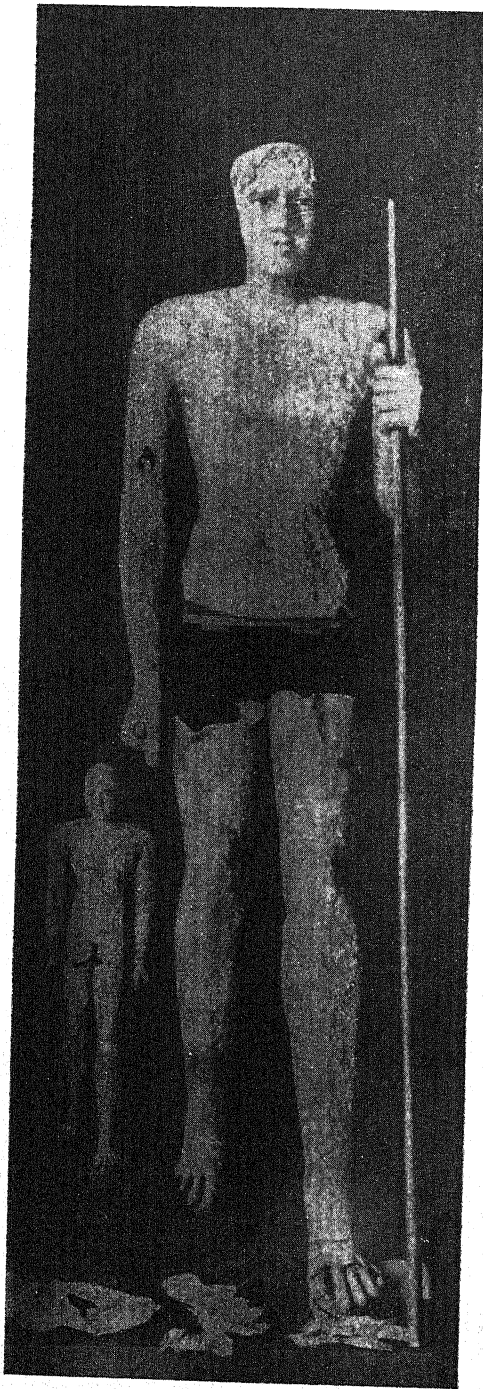
**पेपी द्वितीय**

यह प्रतिमा पूरे मनुष्य के आकार की है और ताँबे की चादर की बनी है। पीछे जो एक और छोटी प्रतिमा है वह पेपी के पुत्र की है। [ फ़ोटो—क़ैरो म्यूज़ियम ]

**आमेनहोतेप तृतीय**

यह पाषाण-मूर्ति भी 'क़ैरो म्यूज़ियम' में रक्खी है।

( बाईं ओर ) इख़नातोन, जो मिस्र के राजाओं में सबसे अधिक प्रतिभाशाली, क्रान्तिकारी और आदर्शवादी राजा हुआ।

( दाहिनी ओर ) थटमोज़ तृतीय जो 'मिस्र का नेपोलियन' कहा जाता है। यह सुन्दर प्रस्तर-मूर्त्ति क़ैरो म्यूज़ियम में रक्खी है। [ फोटो — मैट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट ]

( ऊपर ) तूतन ख़ामोन की कुर्सी या सिंहासन

यह सुन्दर नमूना 'क़ैरो म्यूज़ियम' में है। [फ़ोटो—मैट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट]

( बाईं ओर ) समाधिस्थान से प्राप्त तूतन ख़ामोन की एक प्रतिमा
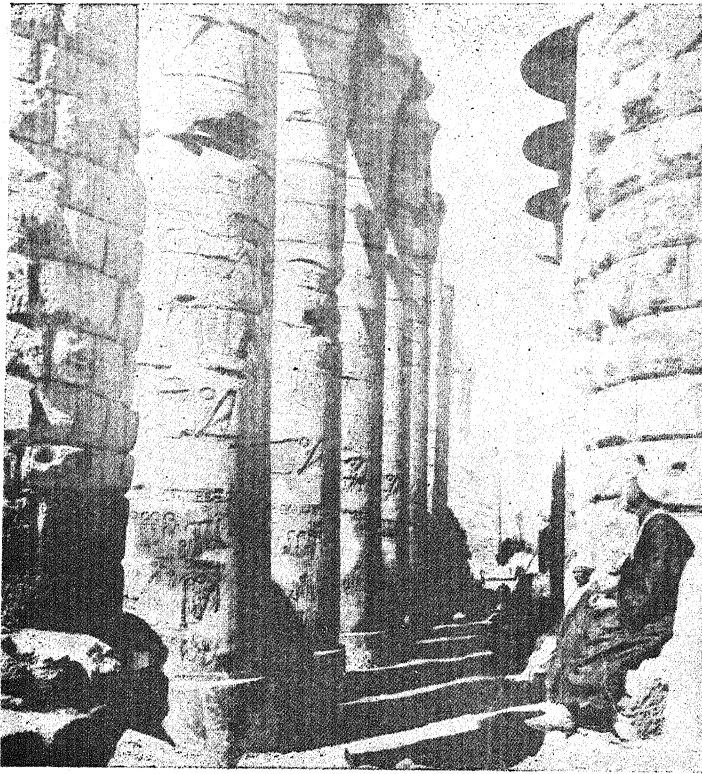
( बाईं ओर ) कर्नाक के भव्य मंदिर में सभामण्डप के विशाल खंभों की पंक्ति

इन ध्वंसावशेषों से ही कुछ अनुमान किया जा सकता है कि मिस्र ने आज से हजारों वर्ष पूर्व ही स्थापत्य-कला में कितनी उन्नति कर ली थी।

( नीचे ) कर्नाक के मंदिर का सभामण्डप कैसा रहा होगा ?

यह 'मैट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट' में प्रदर्शित कर्नाक के मंदिर के सभामण्डप के एक कल्पित नमूने का फ़ोटो है। यह इस भव्य इमारत के वर्तमान ध्वंसावशेषों के आधार पर बनाया गया है। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि अपनी वास्तविक दशा में यह इमारत कैसी भव्य दिखाई देती रही होगी।
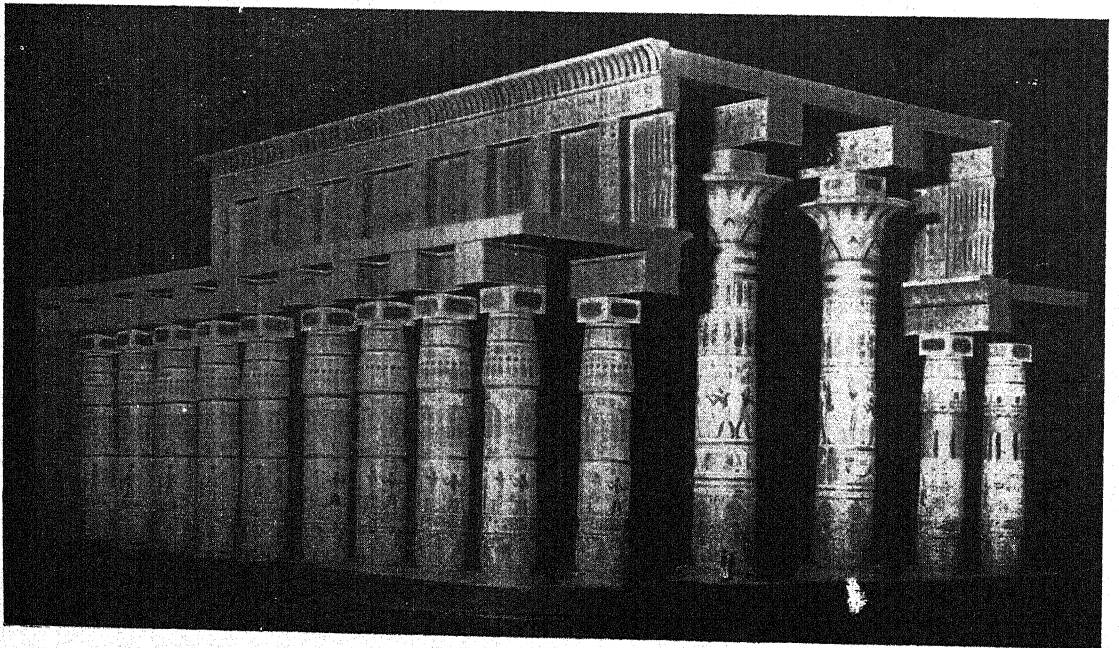
राजत्व-काल में मिस्र ने अच्छी उन्नति और समृद्धि प्राप्त की। उसने भी बड़े आलीशान मन्दिर निर्माण कराए। मिस्रवाले उसे देवी होरस का अवतार मानने लगे। १४७६ ई० पू० उसके देहान्त होने के बाद उसके पराक्रमी पति को स्वतंत्रतापूर्वक अपने पराक्रम के प्रदर्शन का अवसर मिला।

**थटमोज़ तृतीय** ( १४७६-१४४७ ई० पू० )

थटमोज़ तृतीय जैसा पराक्रमी और विजयी था वैसा ही सेनानायक और राजनीतिज्ञ भी था। इतिहासज्ञ उसकी सेना-सञ्चालन की विधि को सोचकर अचम्भे में आ जाते हैं, क्योंकि उसका ढंग वैज्ञानिक और आधुनिक युद्ध के अनुकूल था। अपने शासन के पहले वर्ष में ही उसने सीरिया के संयुक्त बल का मुक़ाबला 'मेगीडो' में किया और घोर युद्ध के बाद प्रशंसनीय विजय प्राप्त की, जिससे अनेक राजे उसकी शरण में आ गए। इस विजय से प्रोत्साहित होकर उसने सात बार आक्रमण किए। प्रत्येक युद्ध में उसकी विजय हुई। इसी कारण उसे इतिहासकार 'मिस्र का नेपोलियन' कहते हैं। इसका आतङ्क ऐसा जम गया कि सीरिया,असीरिया,नहरैन, मिटानी, खेटा (हिटाइट), फोनीशिया, अलाशिया (साइप्रस ?) की रियासतें उसको कर देने लगीं। उसकी सेना फ़रात की तलहटी तक जा पहुँची। उसका जहाज़ी बेड़ा भूमध्य-सागर में निर्द्वन्द विचरता फिरता था। चारों ओर से सम्पत्ति उड़कर मिस्र में आने लगी और उसकी समृद्धि अभूतपूर्व हो गयी। इस धन से मिस्र में बड़े-बड़े मन्दिर और स्मारक बनाए गए, जिनसे नील नदी के तट के कई नगर जगमगाने लगे। थटमोज़ जैसा विजेता था, वैसा ही शासक भी था। शासन के प्रत्येक विभाग और देश के समस्त जीवन पर उसने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी। कहा जाता है कि वास्तविक अर्थ में वह सबसे पहला साम्राज्य-निर्माता और दिग्विजयी हुआ है। केन्द्रिक शासन के स्थानिक शासन पर आधिपत्य का विधान रचकर भविष्य को उसने नया मार्ग दिखाया। विजित प्रजा को स्वानुरक्त बनाने के लिए उसने सहानुभूति,न्याय,शान्ति और शिक्षा का प्रयोग किया।

**आमेनहोतेप तृतीय** ( १४११-१३७५ ई० पू० )

मिस्र का साम्राज्य शक्ति के प्रयोग से बना था, और उसी से उसकी रक्षा भी हो सकती थी। थटमोज़ के बाद उसके पुत्र और प्रपौत्र को बल का प्रयोग करना पड़ा, क्योंकि थटमोज़ के मरते ही सीरिया आदि में विद्रोह की आग भड़क उठी थी। इस विद्रोह का दमन ऐसी दृढ़ता के साथ किया गया कि "आमेनहोतेप" तृतीय को अपने छत्तीस वर्ष के राज्य-काल में फिर सीरिया की ओर जाने की आवश्यकता ही न पड़ी। इस राजा के समय में मिस्र उन्नति और समृद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस समय को लोग 'मिस्र का स्वर्णयुग' मानते हैं। सम्पत्तिशाली होने के कारण इस युग में मिस्र की कलाओं और कौशल ने अभूतपूर्व उन्नति की। आमेनहोतेप तृतीय के पिता ने और स्वयं उसने भी मिटानी और बेबीलान के राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया, जिससे राजनीतिक प्रभाव और सभ्यता की यथेष्ट वृद्धि हुई।

इतने वर्षों तक शान्ति, वैभव, ऐश और आराम में रहने के कारण मिस्र में विजयादर्श क्षीण हो गया और रण-प्रेम कम हो गया। संयोगवश वहाँ का नया राजा 'आमेनहोतेप' चतुर्थ ( १३७५-१३५८ ई० पू० ) शान्ति और धर्म का प्रेमी निकला। उसके विचार और आदर्श क्रान्तिकारी थे। धर्म, कला, आचार-विचार के सम्बन्ध में उसके विचार अपने पूर्वजों से भिन्न थे। न तो जातीय देवता 'आमोन' के प्रति उसकी श्रद्धा थी और न उसे मन्दिरों और पुजारियों का आडम्बर ही रुचिकर था। मन्त्र, तन्त्र, पशु-बलि और नरबलि एवं मन्दिरों की अगणित देवदासियों को वह निन्दनीय समझता था। पुजारियों की जीवन-चर्या और व्यभिचार से उसको घृणा थी। उसके आचार-विचार पवित्र, और भाव एवं आदर्श शुद्ध थे। नवयुवक होने और कवि-हृदय पाने के कारण, उसमें उत्साह और सुधार करने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो उठी। उसने एक ईश्वर "आतोन" की पूजा का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। अन्य देवताओं के स्थान पर उसने केवल सूर्य की उपासना का ही आदेश दिया, क्योंकि सूर्य ही उस सर्व-व्यापक परम पिता, दयालु, रक्षक परमेश्वर की विभूति का द्योतक है। थेबीज़ नगर को आचारहीन और पापपूर्ण देखकर उसने "आख़ेतातोन" नामक नवीन नगर का निर्माण किया। उसने "आतोन" के सिवा सभी देवताओं की पूजा और नामनिशान मिटा देने की आज्ञा दे दी। स्वयं अपना नाम भी बदलकर उसने "इख़नातोन" रख लिया। यही नहीं, मन्दिरों में खुदे हुए सब देवताओं और उनके नामों से संयुक्त होने के कारण अपने पूर्वजों के भी नाम उसने खुर-चवा दिए। देवालयों से पुराने देवता निकाल दिए गए और पुजारियों की सम्पत्ति छीन ली गई। उसने अपने क्रान्तिकारी विचारों और आदर्शों के प्रचार में अपनी पूरी शक्ति, अपना कवित्व और सारा समय लगा दिया, जिससे राज-काज में ढील पड़ गई और अबतरी आने लगी।

प्रजा में उसके विचारों और नीति से असन्तोष पैदा हो गया। वंशानुगत जातीय देवताओं का अपमान लोगों को असह्य होने लगा। पुजारियों ने भी असन्तोष बढ़ाने का पूरा प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि इख़नातोन को लोग सनकी, आदर्शवादी, धर्मान्ध, निर्बल और अदूरदर्शी प्रचारक, उपदेशक और प्रमादी कवि समझने लगे। उसके प्रति उपेक्षा, अरुचि और घृणा के भाव पैदा हो गए। राजकर्मचारियों ने ढील डाल दी, प्रबन्ध में गड़बड़ी पैदा हो गई, अधीनस्थ राज्यों ने कर देना बन्द कर दिया, ख़ज़ाना ख़ाली हो गया, सेना उत्साहहीन हो गई और मिस्रवासियों का आत्म-विश्वास घट गया। ऐसी पतनोन्मुख परिस्थिति में हिटाइट, मिटानी और बेबिलान वालों ने साम्राज्य का विरोध करना आरम्भ कर दिया। ऐसी सोचनीय दशा में मिस्र को छोड़कर विलक्षण और प्रतिभाशाली किन्तु प्रभावहीन 'इख़नातोन' तीस वर्ष की अवस्था ही में दुःखी होकर बिना सन्तान के संसार छोड़कर चल दिया। उच्च आदर्शों का राज्य और देश पर दुःखद प्रभाव पड़ना इतिहास की एक विषम पहेली है!

इख़नातोन की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी उसका एक दामाद हुआ, किन्तु वह बिना कुछ किये ही उसी वर्ष मर गया। फिर दूसरा दामाद 'तूतनख़ातोन' राजा बना। जनता को संतुष्ट करने के लिए, वह राजधानी फिर थेबीज़ को वापस ले गया। 'आतोन' की पूजा छोड़ी जाने लगी। 'आमोन' तथा पुराने देवता फिर जीवित हो गये। पुराने पुजारी फिर फूलने-फलने लगे। इसने अपना नाम भी बदलकर 'तूतन ख़ामोन' रख लिया। किन्तु यह परिश्रम निरर्थक रहा। उसने एक बार मिस्र के महत्त्व को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की, किन्तु वह असफल रही। इसका समाधिस्थान सन् १६२२ ई० में खोला गया। उसमें बड़े महत्व की चीज़ें निकलीं, जिससे शिक्षित संसार में उसकी चर्चा हो गयी। उन चीज़ों के देखने से साफ़ पता चलता है कि उसके श्वसुर के समय क्रान्तिकारी विचारों और कलाओं का भी पतन हो गया था। तूतन ख़ामोन की मृत्यु (१३५३ ई० पू०) राज्यासीन होने के पाँच वर्ष बाद हो गई। उसका उत्तराधिकारी और भी निर्बल निकला। उसके मरते ही (१३५० ई० पू०) अठारहवें राजवंश का विनाश हो गया, मिस्र का राज्य अस्तव्यस्त हो गया और अशान्ति के झकोरों से शासन की बेलि टूटकर गिरने लगी।

अठारहवें वंश के अन्तिम राजा 'आई' का मन्त्री 'होरमहेब' एक चतुर, कार्यकुशल और प्रभावशाली व्यक्ति था। विप्लव से राज्य की रक्षा करने के लिए उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। प्राचीन संस्थाओं, पुराने देवताओं और देवालयों का पुनः-पुनः संस्कार करके शासन को सुधारने का उसने भरसक प्रयत्न किया। इख़नातोन की बहिन से विवाह करके उसने राजवंश से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अपनी मृत्यु (१३२१ या १३१४ ई० पू०) के पूर्व उसने शायद किसी पुराने राजवंश के "रामसेज़" प्रथम नाम के एक व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी चुन लिया था।

### उन्नीसवाँ और बीसवाँ राजवंश—रामसेज़ वंश
(१३२१—१०६४ ई० पू०)

'रामसेज़' से ही उन्नीसवाँ और बीसवाँ राजवंश चला है। रामसेज़ वृद्ध था। सिंहासन ग्रहण करने के एक वर्ष बाद ही उसका देहान्त हो गया। इस वंश में भी कई प्रसिद्ध राजे हो गए हैं। उनमें पहला 'सेती' प्रथम था, जिसने कि पेलेस्टाइन में बद्दुओं के बढ़ते हुए प्रभाव को रोककर वहाँ वालों पर मिस्र की सेना का आतङ्क फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया। वहाँ से लौटकर उसने लीबियावालों को पीछे हटा दिया। हिटाइट लोगों से, जिन्होंने सीरिया में अपना प्रभाव जमा लिया था, युद्ध करने के लिए सेटी ने उन पर चढ़ाई की और उनको परास्त किया। इस विजय से मिस्र की शक्ति का ऐसा प्रभाव जमा कि हिटाइट उससे फिर न उलझे। सेती ने राज्य के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और थेबीज़ को पुनर्जीवित करके विशाल मन्दिरों और स्मारकों से उसे विभूषित किया। उसकी मृत्यु लगभग १३०० ई० पू० हुई।

दूसरा प्रतापी राजा रामसेज़ द्वितीय (१३००—१२२५ ई० पू०) हुआ। यह बली योद्धा था। इसमें अदम्य आत्मिक विश्वास और स्वाभिमान था। थटमोज़ तृतीय की समता प्राप्त करने के लिए उसने हिटाइट लोगों पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि उससे भयङ्कर चूक हो गयी थी, किन्तु अपनी वीरता और उत्साह से उसने उन पर (१२९६ या १२८८ ई० पू०) विजय प्राप्त कर ली। किन्तु उनकी भूमि लिए बिना ही उसे लौटना पड़ा। इतिहास में यह सबसे पहला युद्ध माना जाता है, जिसका पूरा वर्णन मिलता है। इस विजय को सन्दिग्ध समझकर हिटाइटों ने फिर उपद्रव खड़ा किया और अन्य रियासतों को भी उभाड़ा। इस बार रामसेज़ ने फिर चढ़ाई की और तीन वर्ष तक इधर उधर विजय करता और नगरों पर आधिपत्य जमाता रहा। अन्त में हिटाइटों के प्रार्थना पर उसने शान्ति प्रदान कर

( १२६५ या १२७२ ई० पू० ) सन्धि कर ली। यह सन्धि भी इतिहास की पहली सन्धि है, जिसकी कि बाक़ायदा लिखा-पढ़ी की गई थी। आगे चलकर उसने हिटाइट राजवंश की एक राजकुमारी से विवाह कर लिया ( १२५६ ई० पू० )। रामसेज़ के चौरानवे वर्ष के दीर्घ राज्य-काल में यद्यपि मिस्र का बाहरी स्वरूप अच्छा दिखायी दिया, किन्तु भीतरी दशा कुछ न सुधर पायी। शासन में ढील पड़ गयी। उच्च कर्मचारी मनमानी करने लगे। पुजारियों के हाथ में सम्पत्ति और शक्ति बहुत कुछ आ गयी और आसपास की रियासतों में अशान्ति और विद्रोह के लक्षण दिखायी देने लगे। रामसेज़ द्वितीय की मृत्यु ( १२२५ ई० पू० ) के बाद वहाँ के राजाओं के सामने शासन के संगठन और देश की शत्रुओं से रक्षा के दो जटिल प्रश्न थे। कई राजे आये और चले गये, किन्तु सत्ताईस वर्ष तक व्यवस्था ख़राब ही रही।

जब से रामसेज़ तृतीय सिंहासन पर आया ( ११६८ ई० पू० ), तब से मिस्र में फिर जान आई। उसने देशी और विदेशी सिपाहियों को मिलाकर एक स्थायी सेना संगठित की और जहाज़ी बेड़ा भी मज़बूत किया। इनकी सहायता और अपने साहस और बल से उस युवक राजा ने क्रीट और सीरियावालों से युद्ध ठान दिया। क्रीटवालों के प्रबल बेड़े को उसने हराकर पीछे हटा दिया ( ११६४ ई० पू० )। सीरिया में ईजियन लोग थे, जो उत्तरी भूमध्य-सागर से आकर बलपूर्वक जम गये थे। उन्हें भी रामसेज़ तृतीय ने जल और स्थल युद्ध में अच्छी तरह हराकर ( ११६० ई० पू० ) अधीन कर लिया। उसी प्रकार मेशवेश नामक उत्तरी अफ़्रीका वालों को, जो लीबिया में घुस बैठे थे और मिस्र में पैर जमाने का प्रयत्न कर रहे थे, उसने हराकर पीछे भगा दिया। यद्यपि उसने राज्य तो बहुत नहीं बढ़ाया, किन्तु मिस्र का आतंक उसने फिर स्थापित कर दिया, और विद्रोहियों और आक्रमणकारियों से मिस्र की रक्षा कर ली। देश में शान्ति स्थापित हो गयी। व्यापार फिर से चेत उठा। ठीक समय से राज-कर वसूल होने लगा। सामुद्रिक बल और सेना बल बढ़ गया। विशाल मन्दिरों के निर्माण, ( उनमें पाए गए ) लेखों और आर्थिक जीवन पर मिस्र की इस शक्ति का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। मन्दिरों के महत्व के साथ पुजारियों का भी प्रभाव बढ़ने लगा और राज्य में उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। मन्दिरों पर होनेवाले ख़र्च का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनकी सेवा में राज्य की उपजाऊ भूमि का सातवाँ भाग दे दिया गया था। इसके सिवा ८८ जहाज़, ५३ कारख़ाने और कितने ही नगर भी इन मंदिरों के अधीन थे। उनमें से सबसे सम्पन्न और वैभवपूर्ण 'आमोन' का मन्दिर था, जहाँ ख़ज़ाने के ख़ज़ाने खिंचे चले आते थे। जनता के हितार्थ रामसेज़ ने राज्य में स्थान-स्थान पर बहुत से पेड़ लगवा दिए थे, जिससे लोगों को छाया मिल सके।
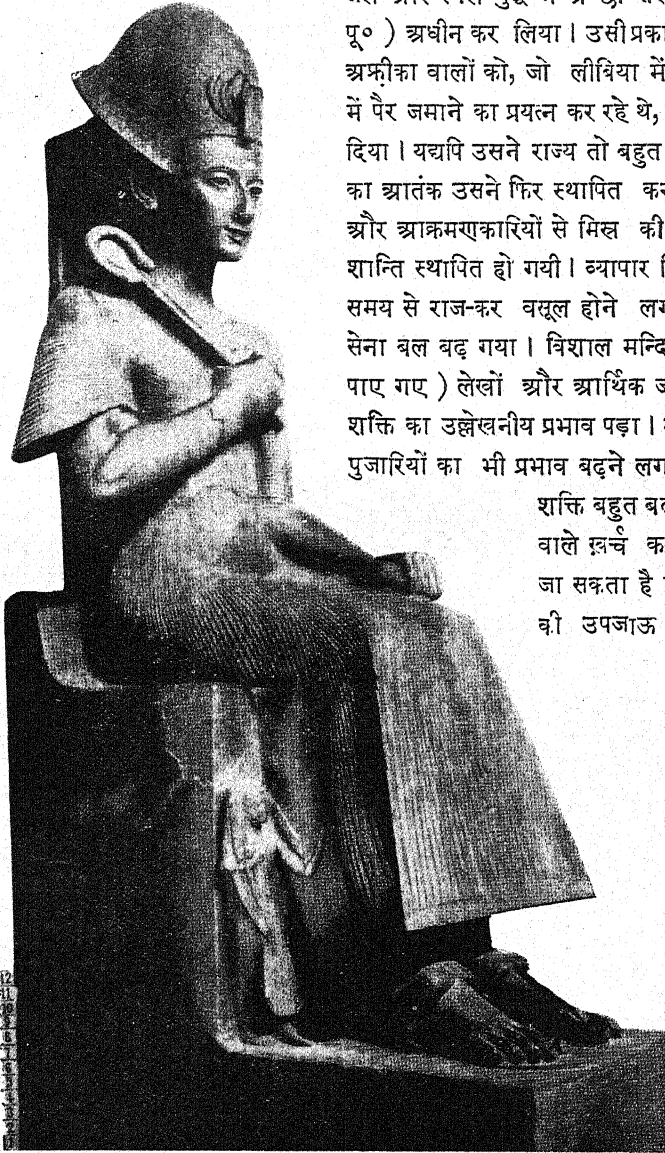
**रामसेज़ द्वितीय**
यह सुन्दर मूर्ति 'ट्यूरीन म्यूज़ियम', इटली, में रक्खी है।

बाहरी वैभव में बहुत बढ़े-चढ़े दिखायी देने पर भी वास्तव में मिस्र के राज्य के भीतर पतन के कीटाणु छिपे

हुए थे। मन्दिरों का अत्यधिक सम्पत्तिशाली होना, पुजारियों और राजकर्मचारियों का बल-वैभव बढ़ना, राजा तथा उनके अनुचरों और राजकर्मचारियों में आमोद-प्रमोद का व्यसन बढ़ना, राज्य में दासों और दासियों की संख्या बढ़ना, ग़ुलामों का राज्य में महत्व पाना और उनके प्रभाव की वृद्धि होना, रनिवास में षड़यंत्र का विकास होना आदि लक्षण पतन के प्रमाण थे। एक रानी ने तो रामसेज़ ही की हत्या करने का षड़यंत्र रचा, जो संयोगवश विफल हो गया। राजा को चोट और घाव तो लगे, किन्तु जान बच गयी। अभी हत्यारों पर मुक़दमा चल ही रहा था कि मानसिक और शारीरिक आघात से राजा की मृत्यु हो गयी (११६७ ई० पू०)।

**राज्य का पतन (११६७ से १०६० ई० पू०)**

रामसेज़ की मृत्यु के बाद राज्य में अनस्थिरता इतनी बढ़ी कि पचीस-तीस वर्ष के भीतर ही पाँच राजे रामसेज़ नाम के आये और चले गये। जब तक रामसेज़ नवाँ राजा हुआ, तब तक आमोन के महन्त का इतना महत्व बढ़ गया कि उसके सामने राजा का महत्व दबने लगा। समय में इतना फेर आ गया कि लोगों ने पुराने राजाओं के समाधिस्थान की सम्पत्ति को चुराना और छीनना शुरू कर दिया, और अन्ततोगत्वा उन्होंने उसे लूट लिया। जब राजधानी में इतनी अराजकता फैल गई, तो दूरस्थ प्रान्तों का कहना ही क्या था! सीरिया तो स्वतंत्र हो ही गया और पेलेस्टाइन में मिस्र का प्रभाव नगण्य-सा हो गया। मिस्र के बुरे दिन आ गये और उसके हाथ से सभ्यता और राजनीतिक नेतृत्व जाता रहा। राज्य का अङ्ग-भङ्ग हो गया और अन्त में उसका इतिहास केवल स्थानिक महत्व का रह गया।

**मिस्र का जीवन और उसकी सभ्यता**

मिस्र का विकास नील नदी की उपजाऊ तलहटी में हुआ। वह कृषिप्रधान देश था। यद्यपि बाढ़ों के कारण हानियाँ हो जाया करती थीं तथापि धरती के अधिक उपजाऊ होने के कारण कृषि-कार्य वहाँ सरल था। समय-समय नहरों के बन जाने से और भी सहायता मिल गई थी। किन्तु किसानों की परिस्थिति बहुत अच्छी इसलिए न थी कि उनसे बेगारी का अधिक काम लिया जाता था, लगान भी दस से बीस सैकड़ा तक था, और ज़िमींदारों एवं स्थानिक कर्मचारियों का भी हाथ उन्हें गरम करना पड़ता था। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसानों की दशा विशेष ख़राब थी। मिस्र के लोग अनाज, मछली और मांस खाते थे। खाने विविध ढंग से पकाये जाते थे। अस्सी तरह के पके हुए मांसों का और चौबीस प्रकार के पेय पदार्थों का उल्लेख पाया जाता है। अमीर अच्छी शराब और ग़रीब जौ की शराब पिया करते थे। मिस्र के लोग परिवर्तन-प्रेमी न थे। वे अपने आचार-विचार में कम फेरफार करते थे। वे प्रगतिशील न थे। उनके बच्चे बारह वर्ष तक नंगे फिरा करते थे; लड़कियाँ ज़रूर अंग का कुछ भाग ढाँक लेती थीं। साधारणतः औरतें और मर्द नाभि तक नङ्गे रहते थे, उसके नीचे वे लुङ्गी-सी पहनते थे। आगे चलकर स्त्रियाँ और मर्द भी छाती ढकने लगे और चुस्त कपड़े के बदले ढीले कपड़े पहनने लगे। आदमी और औरतें आभूषणों के शौक़ीन थे। दोनों के कान छिदवाने का रिवाज था। औरतों को बनावटी सिंगार के अनेक साधन मालूम थे। आदमी दाढ़ी-मूँछें बनवाते थे और औरतें तरह-तरह के बाल सँवारती थीं। लोगों को खेल-कूद और मेलों और जलसों का शौक़ था। कुश्ती, घूँसेबाज़ी, और साँड़ों को लड़ाने में उन्हें आनन्द आता था। पाँसे का खेल भी उनमें प्रचलित था। आज़ाद किसानों के अलावा ग़ुलामों की भी मिस्र में भारी संख्या थी। उनकी परिस्थिति किसानों से भी ख़राब थी।

यद्यपि मिस्र में खाने-पीने की चीज़ों की कमी नहीं थी, किन्तु ताँबे के सिवा अन्य खनिज पदार्थ मिस्रवालों को अन्यत्र से लाने पड़ते थे। न्यूबिया से सोना और हिटाइट्स से लोहा लाना पड़ता था। ताँबा और टीन मिलाकर वे लोग काँसा बनाना भी सीख गये थे। उनसे वे पेंच, बरमा, आरी, गड़ारी, पहिये आदि बनाते थे। उन्हें लकड़ी पर बढ़िया नक़्क़ाशी करना आता था। कुरसी, पलँग, संदूक, गाड़ी, नाव आदि वे बना लेते थे। ईंटें, सीमेन्ट और पलस्तर बनाना वे जानते थे। रंगीन चमकीले मिट्टी के बरतन और शीशे की सादी और रंगीन चीज़ें भी वे बनाया करते थे। जानवरों की खाल से वस्त्र, ढाल, तरकश बनाते थे। पौदों और पेड़ों के रेशों से चटाइयाँ, रस्से, जूते और काग़ज़ बनाना उन्हें मालूम था। धातु पर रंग चढ़ाने और पालिश करने का कौशल भी उन्हें आता था। वे ऐसे बारीक कपड़े सूत से बिनते थे कि बिना आतशी शीशे की परीक्षा के उन्हें रेशम से भिन्न मानना कठिन था। उद्योग-धंधे आज़ाद और ग़ुलाम कारीगर करते थे। कारीगरों के कुटुम्ब में पुश्त-दर-पुश्त कला या कौशल चला करते थे जैसा कि हमारे देश में है। कारीगरों के ठेकेदार या मुखिया होते थे, जो लोगों से काम लेते और उन्हें मज़दूरी देते थे। मज़दूरी ठीक-ठीक न मिलने से मज़दूर कभी-कभी हड़ताल भी कर

देते थे, किन्तु ऐसा बहुत कम होता था। सिक्कों का चलन न था, इसलिए वेतन और मज़दूरी जिन्स में दी जाती थीं और कर भी वैसे ही वसूल किया जाता था। लेन-देन के लिए अमीर आदमी सोने के छोटे, बड़े, पतले और मोटे छल्लों या कड़ों का प्रयोग करते थे। व्यापार बड़े मज़े से चलता था। व्यापारियों की साख पक्की होती थी और लिखा-पढ़ी, हुंडी और खाता से काम लिया जाता था।

मिस्रवालों में इञ्जीनियरी ने अच्छी उन्नति की थी। कहा जाता है कि रोम, यूनान, और अठारहवीं शताब्दी तक योरपवालों को भी उनके बराबर इञ्जीनियरी का ज्ञान न था। बड़े-बड़े बाँध, तालाब, नहरें, आलीशान मन्दिर और स्मारक बनाना उन्हें आता था। उनके बनाए हुए पिरामिड संसार में प्रख्यात हैं। इनका निर्माण किसी कला अथवा धर्म के भाव से नहीं किया गया था। ये मृतक के समाधिस्थान एवं एक प्रकार से स्मारक मात्र हैं। स्थापत्य के अलावा वे मूर्त्तिनिर्माण-कला में भी निपुण थे। पत्थर पर वे तरह-तरह की नक्काशी और तराश का काम करते थे।

मिस्र के राजे अपना वंश और रक्त शुद्ध रखने के लिए कभी-कभी अपनी बहनों और लड़कियों से विवाह कर लेते थे। प्रेमी और प्रेमिका के लिए वे उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते थे, जो भाई और बहन के लिए प्रचलित थे। राजों और रईसों में बहुत-सी स्त्रियों को रखने का फ़ैशन था, किन्तु साधारण लोग एक ही स्त्री से सन्तुष्ट रहते थे। उनमें तलाक़-प्रथा का चलन था। पुरुष स्त्री और स्त्री पुरुष को तलाक़ दे सकती थी। पर आगे चलकर यह अधिकार स्त्रियों के हाथ से जाता रहा। व्यभिचारिणी स्त्री को वे निकाल देते थे। मर्दों में भी एकपत्नी-व्रत का आदर था। स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक अकेली अथवा साथियों के साथ आ-जा सकती थीं। पत्नी के अनुकूल पति प्रायः आचरण करता था। स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति रखने, दे देने और अपने नाम से लेने का अधिकार था। जायदाद की उत्तराधिकारिणी प्रायः स्त्रियाँ ही मानी जाती थीं। प्रेम प्रकट करने में भी वे पुरुष की प्रतीक्षा किए ही बिना अग्रसर होती थीं। मिस्र में प्रेम की कविता प्रायः स्त्रियों की ओर से पुरुषों के प्रति की जाती थी। कामुक चर्चा बिना संकोच के सब करते थे। उनके मन्दिरों के शिल्प में नग्नता अनुचित नहीं गिनी जाती थी। वेश्याओं, देवदासियों एवं अन्य प्रकार के काम-वासना तृप्त करने के साधनों की कमी न थी।

## शिक्षा और साहित्य

शिक्षा और साहित्य का भी अभाव न था। शिक्षा प्रायः मन्दिरों में दी जाती थी। शिक्षा का मुख्य ध्येय लिखना-पढ़ना तथा व्यापारिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना था, किन्तु यम-नियम पर भी ध्यान रखा जाता था। मन्दिरों से विद्यार्थी निकलकर कचहरियों में काम सीखते थे। लेखक का पद प्राप्त कर लेना शिक्षा का विशेष लाभ माना जाता था। मिस्रवालों को संकेत-चित्र में लिखना आता था। ये चित्र धीरे-धीरे छोटे होते चले गए और दो हज़ार वर्ष ई० पू० उनसे चौबीस व्यञ्जनों का विकास हो गया। पाँचवें और छठे राज-वंश तक के समय के इसी शैली में लिखे हुए लेख पिरामिडों में मिले हैं। ईसा के दो हज़ार वर्ष के पहले के पेपाइरी (काग़ज़) पर लिखे हुए लेखों के पुलिन्दे मिलते हैं। क़िस्से-कहानियाँ, धार्मिक विषय, प्रेम-गीत, रणगान, कविताएँ, पत्र, मंत्र-तंत्र, स्तुतियाँ, ऐतिहासिक वार्त्ताएँ, वंशावलियाँ, नीति के उपदेश आदि मिले हैं। कहा जाता है कि नाटक और पद्य-कथाओं को छोड़कर मिस्रवालों ने साहित्य के सभी मुख्य अङ्गों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। साहित्य के अलावा विज्ञान की ओर भी उनका ध्यान गया। गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, प्रजनन-चिकित्सा, शृङ्गार के मसालों का भी अध्ययन किया जाता था। व्रण-चिकित्सा या जर्राही (Surgery) का भी उन्हें शौक़ था। उनके लेखों में अड़तालीस प्रकार के आपरेशनों का उल्लेख है। सन्तान-निरोध की औषधियाँ उन्हें ईसा के अठारह सौ वर्ष के पूर्व मालूम थीं। अनेक रोगों के सैकड़ों नुसख़ों का भी उल्लेख मिलता है। उपवास, रेचन, आदि का प्रयोग किया जाता था। कहा जाता है कि वहाँ के लोगों का स्वास्थ्य अच्छा था। साहित्य और विज्ञान की भाँति सङ्गीत-कला और चित्र-कला से भी उन्हें अनुराग था। भीति-चित्र बनाने में वे बड़े चतुर थे। कई प्रकार के रङ्गों का चित्रों में वे प्रयोग करते थे। कहते हैं कि चीन को छोड़कर कोई भी प्राचीन सभ्य देश चित्र-कला में उनकी समता नहीं कर सकता।

## धार्मिक विचार और आचार

मिस्रवालों की धर्म-भावना बड़ी व्यापक थी। धर्म का प्रभाव उनकी प्रत्येक कृति में कुछ न कुछ पाया जाता है। मिस्र में अनेक देवता माने जाते थे, किन्तु आकाश, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य आदि प्रमुख गिने जाते थे। नदी, वृक्षों, थलचर, जलचर और पक्षियों में भी वे देवताओं की भावना कर लेते थे। वे राजा को भी देवता मानते थे। बकरे और बैल का सबसे अधिक महत्व था। रा (आमोन), ओसरिस (लिङ्गधारी देव), आइसिस (धरित्री देवी), होरस (सूर्य-

देव ), सुतेख़, और प्ता सब देवताओं में मुख्य थे। मिस्र के इतिहास के उत्तरकाल में रा, आमोन और प्ता त्रिदेव गिने जाने लगे, जो एक ही महान् देवता के तीन भिन्न स्वरूप हैं। इख़नातोन ने आमोन देवता और पशु-बलि द्वारा उसकी पूजा का विरोध किया था। उसके सिद्धान्त के अनुसार सब देवता कपोलकल्पित थे; क्योंकि वस्तुतः ईश्वर केवल एक है, जिसे वह "आतोन" ( सूर्य ) कहता था। उसे वह सर्वव्यापक, आनन्दमय, प्रेममय, रक्षक, द्रष्टा, सर्वज्ञ, और अन्तर्यामी मानता था। इस प्रकार एकेश्वरवाद भी प्राचीन मिस्र में प्रचलित था। आतोन की उपासना भक्तिमूलक थी। इख़नातोन ने स्वयं उसकी प्रभावपूर्ण भक्तिरसात्मक स्तुतियाँ रची थीं। मिस्र में देवताओं को भोज्य और पेय पदार्थ चढ़ाये जाते थे। देवताओं के लिए देवालय बने थे, जिनके प्रबन्ध के लिए उन्हें अच्छी सम्पत्ति मिली थी। उनकी सेवा के लिए पुजारी, दास और दासियाँ नियुक्त थीं। प्रजनन के देवता आसरिस की नग्न मूर्तियाँ साङ्केतिक मुद्रा में उसके मन्दिर में बनायी जाती थीं।

मिस्रवालों का विश्वास था कि प्रत्येक प्राणी का एक लिङ्ग-शरीर होता है, जो उसके मरने के बाद भी जीवित रहता है। उसको वे लोग 'का' कहते थे।। शरीर और 'का' के अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी में 'जीव' रहता है, जो अमर है। शरीर यदि नष्ट होने से बचा लिया जाय तो वह भी 'का' और जीव की तरह स्वर्ग को जाता है, जहाँ शान्ति, सुख और सम्पन्नता के साथ वे रहते हैं। किन्तु यदि प्राणी पापी है, तो वह अनन्तकाल तक अन्धकारमय समाधि-स्थान में भूखा-प्यासा पड़ा रहता है और तरह-तरह के त्रास पाता है। स्वर्ग केवल पवित्र आचरण से ही नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत् मंत्रों-तंत्रों आदि के प्रभाव से अपवित्र आचरणवाला भी स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

## राज्य-संगठन

राजा के ऊपर राज्य-सञ्चालन का भार था। न्याय करना तथा शासन का निरीक्षण और सेना का नियंत्रण उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। ज्यों-ज्यों धन और वैभव बढ़ता गया, त्यों-त्यों कर्मचारियों की भी वृद्धि होती गयी। कर्मचारियों की संख्या का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राजा के साज और शृङ्गार की सामग्री के प्रबन्ध के लिए इक्कीस अफ़सर नियुक्त थे! राज-सेवकों में मंत्री और कोषाध्यक्ष प्रमुख माने जाते थे। राजा प्रातःकाल उनको बुलाकर उनसे राज्य और कोष की व्यवस्था पूछता, परामर्श करता और उचित आदेश देता था। मन्त्री का मुख्य काम शासन-यन्त्र का रक्षण, सेना-प्रबन्ध और न्याय करना था। राज्य बढ़ने पर एक के बदले दो मन्त्री रखे जाने लगे। राजा स्वयं राज्य में घूम-घूमकर शासन-प्रबन्ध का निरीक्षण करता और न्याय करता था। बड़े-बड़े पदाधिकारियों का एक परिषद था, जिसे 'सरू' कहते थे। यह परिषद परामर्श द्वारा राजा की सहायता करता था। राज्य चालीस या पचास प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त के लिए वे लोग "नोम" शब्द का प्रयोग करते थे। प्रत्येक नोम का एक बड़ा अफ़सर रहता था, जो न्याय, प्रबन्ध और कोष के लिए उत्तरदायी था। इसी प्रकार प्रत्येक नगर के लिए भी अफ़सर रखे जाते थे। इनकी सहायता के लिए लेखक आदि बहुत से कर्मचारी नियुक्त कर दिए गए थे। ज़मीन दो प्रकार की थी। एक तो वह जो ज़िमींदारों के अधिकार में थी और दूसरी वह जिसका प्रबन्ध स्वयं राजकर्मचारी करते थे। सिक्कों का चलन न होने के कारण मालगुज़ारी पशु, अन्न, तैल, शहद, शराब और वस्त्र आदि के रूप में वसूल की जाती थी। पैदावार का पाँचवाँ हिस्सा मालगुज़ारी में लिया जाता था। कर्मचारियों से कर लिया जाता था, जो प्रायः सोना, चाँदी, पशु, अनाज और वस्त्र के रूप में था। स्थानिक कर्मचारी प्रति मास आय-व्यय का चिट्ठा राजमंत्री और कोषाध्यक्ष के पास भेजा करते थे।

मन्त्री से साधारण कर्मचारी तक अपने-अपने क्षेत्र में न्याय करता था। न्याय करने के लिए रोज़ ख़ास कचहरी लगती थी। मुक़दमों का फ़ैसला तीन दिन में प्रायः कर दिया जाता था, किन्तु अगर मामला दूर का हुआ तो अधिक-से-अधिक दो महीने तक लग जाते थे। फ़ैसला लिखे हुए क़ानून के अनुसार था। क़ानून चालीस पुलिन्दों में लिखे हुए थे। मुक़दमे की सारी कार्रवाई लिखकर होती थी। वादी और प्रतिवादी एवं गवाहों के बयान और फ़ैसला सब लिखे जाते थे। स्थानिक अफ़सरों के फ़ैसले के विरुद्ध मन्त्री की कचहरी या राजदर्बार में अपील की जा सकती थी। किसी भी व्यक्ति को बिना बाक़ायदा मुक़दमा किए हुए दण्ड नहीं दिया जाता था। मिस्र में रिश्वत भी चलती थी, जिससे धनी व्यक्तियों का काम बन जाता था। किन्तु अमीर और ग़रीब के लिए क़ानून एक ही था। सज़ाएँ कई तरह की थीं। शारीरिक दण्ड, अङ्ग-भङ्ग, देश-निर्वासन और प्राणदण्ड भी दिए जाते थे। यदि किसी बड़े आदमी को प्राणदण्ड दिया जाता था तो उसे पहले आत्महत्या कर लेने का अवसर दिया जाता था, ताकि वह जनता के सामने बेइज़्ज़ती से बच सके।

# लोहे का युग

**लोहा हमारी भौतिक सभ्यता की रीढ़ है। यदि आज लोहा पृथ्वी से एकाएक ग़ायब हो जाय तो हमारे इस सभ्यता की सारी इमारत ही ढह पड़ेगी।**

आधुनिक युग मशीनों का युग है। यन्त्रों की बदौलत ही मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में सफल हो सका है। यह सही है कि कोयला, गैस, भाप तथा बिजली की शक्ति ही हमारे तमाम कारबार और कल-कारख़ाने का भार उठाए हुए हैं। किन्तु इन शक्तियों से पूरा फ़ायदा उठाने के लिए हमें मशीनों का ही सहारा ढूँढ़ना पड़ता है, और मशीनों के निर्माण के लिए लोहे तथा इस्पात से बढ़कर अन्य कोई पदार्थ लभ्य नहीं है।

यदि हम यह कहें कि हमारी सभ्यता लोहे की नींव पर टिकी हुई है, तो इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी। पत्थर और काँसे के युग भी गुज़र चुके हैं, किन्तु काँसे को तत्कालीन सभ्यता में वह सर्वव्यापी स्थान
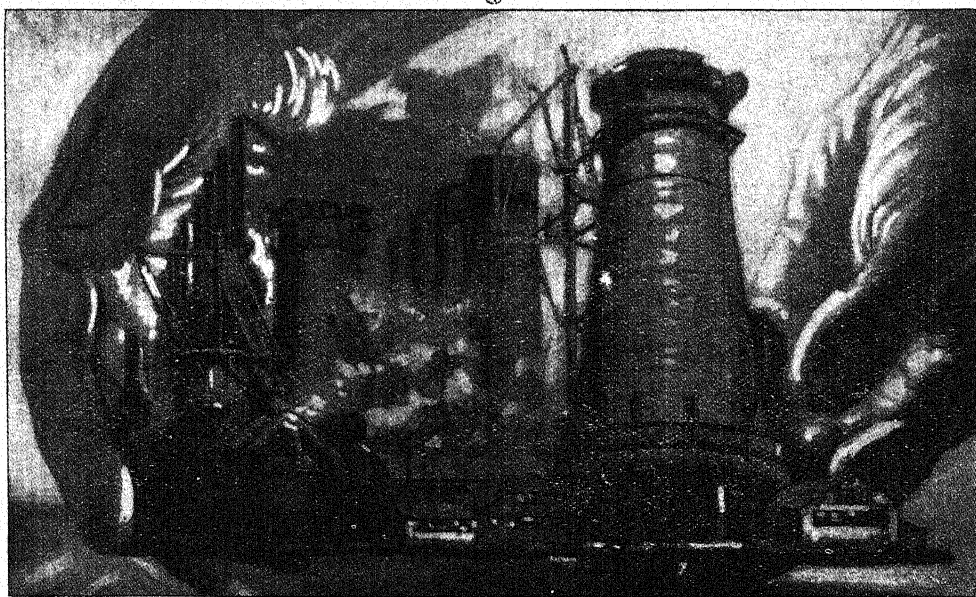
**यंत्र युग का प्रतीक—लोहा**

हमारे आज के सारे कल कारख़ाने स्थूल रूप में एक ही मूल भित्ति पर टिके हुए हैं और वह है लोहा। जब से मनुष्य को लोहा हाथ लगा है, उसकी सभ्यता में एक युगान्तर हो गया है। पिछली दो शताब्दियों में तो लोहे ने हमारे जीवन में वह सर्वव्यापी स्थान प्राप्त कर लिया है कि आज हम इस युग को 'लोहे का युग' कह सकते हैं।
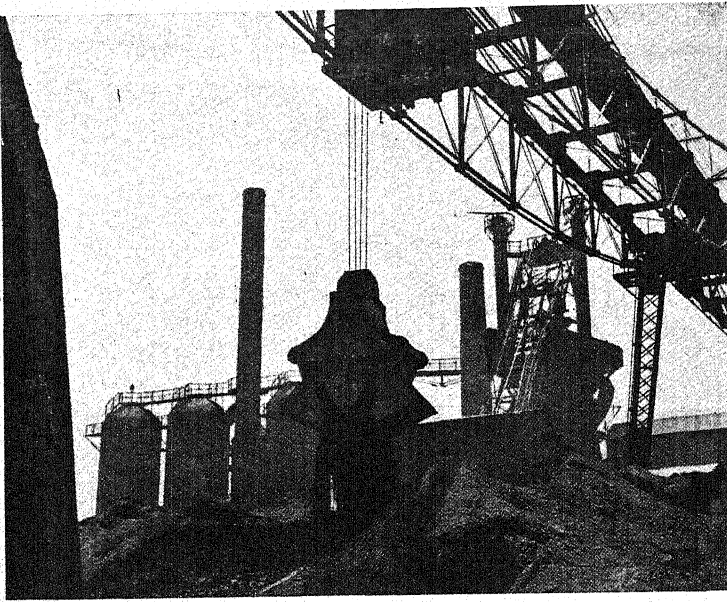
**कच्चा लोहा कारख़ाने को पहुँचाया जा रहा है**

इस भीमकाय यंत्र के बाल्टे से एक बार में १४० मन कच्चा लोहा उठाकर कारख़ाने के ढेर में पहुँचा दिया जाता है !

लोहे के रूप में आधुनिक युग को एक बेजोड़ वस्तु मिल गयी है। निब, आलपीन, बिस्कुट के डब्बे से लेकर न्यूयार्क की ७५ तल्लेवाली गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं का ढाँचा, लम्बे-लम्बे पुल, सुरंगें और रेलगाड़ियाँ सभी कुछ लोहे से तैय्यार की जाने लगी हैं। लोहे की उपयोगिता विशेषकर इस बात से है कि भिन्न-भिन्न प्रकार से तैय्यार किया हुआ लोहा भिन्न-भिन्न विशेषताएँ भी रखता है। एक ओर जहाँ हम बढ़िया स्प्रिङ्ग के लिए लचकदार इस्पात तैय्यार कर सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर हम ऐसा लोहा भी बना सकते हैं, जिसमें लचक नाम-मात्र को भी न हो। लोहे की कुछ क़िस्में ऐसी भी तैय्यार की गयी हैं, जो इतनी कड़ी होती हैं कि तनिक-सी चोट से शीशे की तरह टूटकर चूर-चूर हो जायँ, तो कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो बेहद मुलायम हैं। वैज्ञानिक इच्छानुसार एक जाति के लोहे को दूसरी जाति के लोहे में परिणत भी कर सकता है। उचित रीति से सिझाने पर लोहे से ऐसे औज़ार बनाये जा सकते हैं, जो लोहे को भी काट सकें। यह विचित्र गुण किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाया जाता। इस्पात के आरे से लोहे की गर्म गर्डरें मूली की तरह आसानी से काटी जाती हैं।

यह कह सकना सम्भव नहीं कि पहले-पहल लोहे का उपयोग करना मनुष्य ने कब सीखा। यूनान देश की पौराणिक कथाओं में उल्लेख है कि टूर्नामेण्ट की प्रतियोगिता में भाग लेनेवालों को लोहे का चक्र पारितोषिक के रूप में प्रदान किया जाता था। अतः इसमें सन्देह नहीं कि हज़ारों वर्ष पूर्व भी लोग लोहे का प्रयोग करना जानते थे। किन्तु उस युग के लोहे के बने हुए हथियार या अन्य चीज़ें हमें स्मारक-चिह्न के रूप में नहीं मिलतीं, क्योंकि लोहा नमी पाते ही मोर्चा खाकर नष्ट हो जाता है। फिर भी मिस्र देश के एक पिरामिड में लोहे का एक टुकड़ा मिला है, जिसकी आयु ४००० वर्ष आँकी जाती है। दिल्ली में पृथ्वीराज के क़िले के पासवाले लोहे का खम्भा भी बहुत पुराना है।

प्राप्त न था, जो वर्त्तमान सभ्यता में लोहे को प्राप्त है। जहाँ-कहीं भी बोझा सँभालने का प्रश्न उठता है, या अत्यधिक ज़ोर पड़ने की सम्भावना रहती है, इंजीनियर का ध्यान फ़ौरन् लोहे पर जाता है। मज़बूती में लोहा अन्य सभी पदार्थों से आगे बढ़ा हुआ है। विशालकाय इंजिन, बड़े-बड़े पुल, कल-कारख़ाने सभी कुछ लोहे के ही तो बने हुए होते हैं!

पुराने ज़माने में पत्थर, लकड़ी और मिट्टी, बस ये ही तीन वस्तुएँ लोगों को लभ्य थीं। इन्हीं से अतीत काल का मनुष्य अपने उपयोग के लिए तरह-तरह की चीज़ों का निर्माण करता था। किन्तु उपयुक्त औज़ार न रहने के कारण उसे कई तरह की अड़चनों का भी सामना करना पड़ता था। पत्थर के नुकीले टुकड़े से वह काटने और खोदने का काम लेता था। मामूली-सा वृक्ष काटने में उसे हफ़्तों लग जाते थे। पेड़ के तने को खोखला बनाने के लिए वह पत्थर के गर्म टुकड़ों से महीनों उसे खुटखुटाता और तब कहीं वह एक काम-चलाऊ डोंगी बना पाता था। किन्तु आज फ़ौलाद के तेज़ औज़ारों की मदद से चुटकी बजाते ऊँचे-ऊँचे वृक्ष धराशायी किये जाते हैं, और लोहे की मोटी-मोटी चद्दरों को मशीनों के नीचे दबाकर उम्दा नावें तैयार कर ली जाती हैं!

खानों के अन्दर चाँदी या सोने की तरह लोहा शुद्ध रूप में नहीं मिलता, बल्कि आक्सिजन, कार्बन, गन्धक तथा फ़ास्फ़ोरस (स्फुर) कच्चे लोहे के साथ रासायनिक संयोग में पाए जाते हैं। आग में गर्म करके कच्चे लोहे को शुद्ध किया जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में जब लोग गुफाओं में जीवन बिताते थे, संयोगवश उन्होंने एक दिन मांस भूनने के लिए ऐसी चट्टान के पास आग जलायी, जिसमें कच्चे लोहे का अंश पर्याप्त मात्रा में मौजूद था। तीव्र आँच पाकर काले रंग का पत्थर, जो वास्तव में अशुद्ध लोहा था, पिघलकर बहने लगा। गरमी से पिघल कर वह शीरे की तरह गाढ़ा हो गया। ठण्ढा होने पर वह फिर कड़ा हो गया। यही लोहा था। इसे फिर गर्म करके इन्होंने इसे पत्थर के हथौड़ों से पीटा। इस सर्वथा नई चीज़ को पाकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही—वे लोग लोहे की मज़बूती देखकर हैरान थे। उन्होंने लोहे से नुकीले और तेज़ धार के हथियार बनाना शुरू किये।

एशिया के प्राचीन लोग भी लोहे से तरह-तरह की चीज़ें बनाते थे। पश्चिमी एशिया के असीरियन लोग लोहे के रथ और सुन्दर गहने बनाते थे। उनके पास लोहे की तलवारें भी थीं। उनका आरा आजकल के आरे ही की तरह था। वे लोग लोहे से फ़ौलाद बनाना जानते थे। पहले लोहे का पता लगाने और उसे शोधने में ज़्यादा ख़र्च पड़ता था। इसलिए आरम्भ में लोहा बहुत क़ीमती था। स्पार्टा (ग्रीस) के लोग लोहे के सिक्के ढालते थे। सिकन्दर हिन्दुस्तान से सोने के साथ-साथ लोहे को भी लूट ले गया था।

पृथ्वी पर लोहा बहुत ही प्रचुरता के साथ पाया जाता है। पृथ्वी का लगभग २० वाँ भाग लोहा है। किन्तु यह लोहा शुद्ध अवस्था में नहीं मिलता। फिर यह कच्चा अशुद्ध लोहा भी हर जगह समान रूप से नहीं पाया जाता। कच्चे लोहे की चार मुख्य जातियाँ हैं:—

### १. मैग्नेटाइट

इसकी गिनती उत्तम श्रेणी के कच्चे लोहे में होती है।
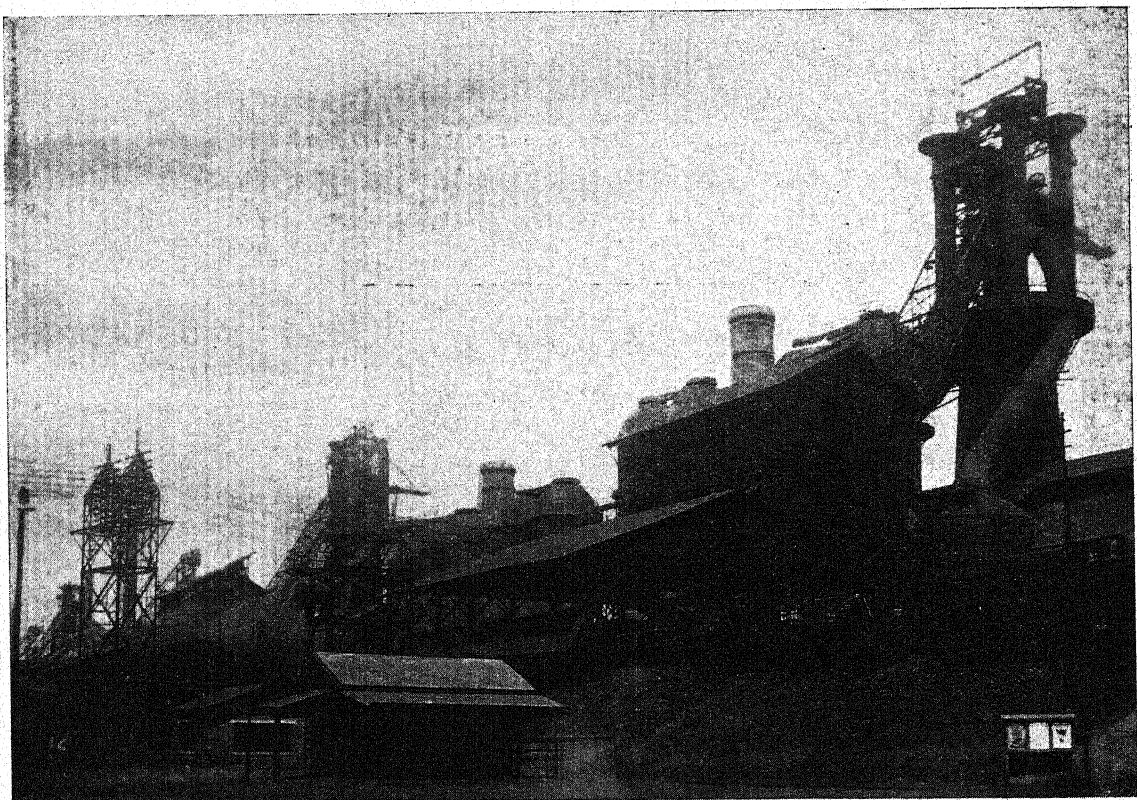
**टाटानगर, जमशेदपुर, में ब्लास्ट फर्नेसों का दृश्य**

भारत में लोहे का सबसे बड़ा कारख़ाना टाटा का कारख़ाना है। इस फ़ोटो में पाँच फर्नेसों का दृश्य है।

[ फ़ोटो—'टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि० की कृपा से प्राप्त ]
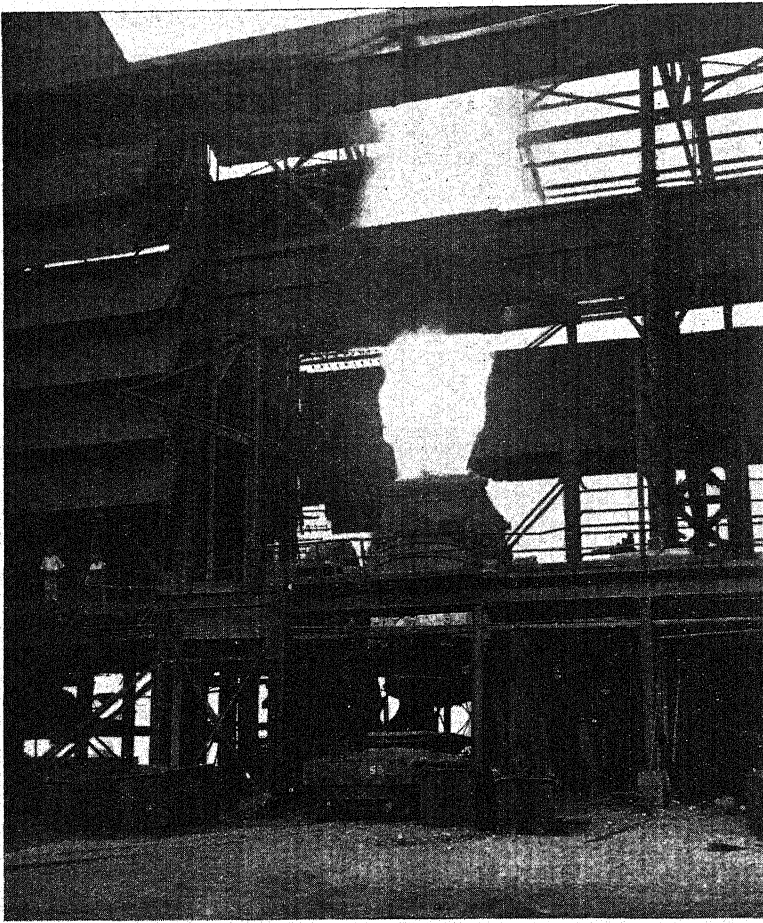
**टाटा के कारख़ाने में बेसेमर कन्वर्टर की फुफकार**

[ फ़ोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि० की कृपा से ]

स्पेन में इस क़िस्म के लोहे की खानें बहुत-सी हैं। इन खानों में दलदल तथा नमी रहती है, अतः ब्राउन हेमटाइट में पानी का अंश भी बहुत होता है।

### ४. साइडरेट

ऊपर की तीनों क़िस्म के कच्चे लोहे में आक्सिजन मिला रहता है, किन्तु साइडरेट में लोहे का कार्बोनेट होता है। शुद्ध लोहे का अंश उसमें कम पाया जाता है। किन्तु साइडरेट की खानें प्रायः कोयले की खानों के नज़दीक मिलती हैं, अतः लोहे को शोधने के लिए कारख़ानों को चलाने में भी ऐसी जगहों में आसानी पड़ती है।

पहले कच्चे लोहे को साफ़ करने का ढंग बहुत सीधा सादा था। कच्चा लोहा लकड़ी के कोयले से गर्म किया जाता था। तेज़ आँच में लोहा पिघलकर एक तरफ़ इकट्ठा हो जाता था। लोहार ने देखा कि अधिक आँच से लोहा अधिक शुद्ध उतरता है, इसलिए उसने तेज़ हवा के झोंके से फ़ायदा उठाने के लिए पहाड़ियों की चोटियों पर या बहुत ऊँचे स्थानों में भट्टियाँ बनायीं। वहाँ हवा ज़ोर की लगती थी, अतः भट्टी में आँच भी तेज़ पैदा होती थी। किन्तु हवा कभी चलती, कभी न चलती, अतः भट्टी का काम जारी रखने के लिए उसने नली द्वारा मुँह से हवा फूँकने का प्रबन्ध किया। कुछ दिनों उपरान्त भट्टी में हवा पहुँचाने के लिए धौंकनी का आविष्कार किया गया। मिस्र की प्राचीन काल की मूर्त्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि वे लोग धौंकनी का प्रयोग लोहे को शोधने के लिए करते थे।

धीरे-धीरे लोहे की माँग इतनी बढ़ी कि भट्टियों में जलाने के लिए लकड़ी का कोयला तैय्यार करने के लिए जंगल के जंगल साफ़ किये जाने लगे। इङ्गलैंड में तो वहाँ के मल्लाहों को भय होने लगा कि कहीं वहाँ के जंगल बिलकुल

इसमें शुद्ध लोहे का अंश अन्य जाति के कच्चे लोहे की अपेक्षा ज़्यादा होता है। इसमें चुम्बकीय शक्ति भी मौजूद होती है। नार्वे और स्वीडन में यह अधिक मिलता है। बढ़िया क़िस्म का लोहा तैय्यार करने के लिए मैग्नेटाइट ही काम में लाया जाता है। किन्तु मैग्नेटाइट को गलाने में ईंधन का ख़र्च ज़्यादा पड़ता है, अतः इससे तैय्यार किया गया लोहा महँगा भी पड़ता है।

### २. रेड हेमटाइट

इसमें शुद्ध लोहा ७० प्रतिशत होता है। इङ्गलैंड, कनाडा और जर्मनी में इस क़िस्म के कच्चे लोहे की खानें हैं।

### ३. ब्राउन हेमटाइट

रेड हेमटाइट और ब्राउन हेमटाइट में बहुत कम अन्तर होता है। इङ्गलैंड में ब्राउन हेमटाइट नहीं पाया जाता।

ही साफ़ न हो जायँ और किश्ती बनाने के लिए उन्हें लकड़ी ही न मिले। इसलिए उनके आन्दोलन करने पर क़ानून बना कि कोई जलाने के लिए पेड़ न काटे। तब ईंधन की तलाश में लोगों का ध्यान बरबस पत्थर के कोयले की ओर गया, और तब से भट्ठियों में पत्थर का कोयला जलाया जाने लगा।

किन्तु आधुनिक युग में खान से निकले हुए कच्चे लोहे को साफ़ करने के लिए उन्नत प्रणालियाँ काम में लाई जाती हैं। सबसे पहले खान के लोहे को साथ की मिट्टी, बालू, पत्थर आदि से अलग करना होता है। इसके बाद उसमें रासायनिक तरीक़े से घुले हुए कार्बन, गन्धक, फ़ास्फ़ोरस आदि को अलग करना होता है। अब इस पूर्णतया शुद्ध लोहे में कार्बन की नियत मात्रा अलग से मिलाकर उससे कड़ा, नरम या लचकदार इस्पात या मामूली लोहा तैय्यार करते हैं।

भट्ठियों में डालने से पहले खान के कच्चे लोहे को खुली भट्ठियों में डालकर उसे इधर-उधर ख़ूब उलटते हैं, ताकि कार्बोनिक ऐसिड, गन्धक और उसकी नमी अलग हो जाय। अब इस कच्चे लोहे में फ़ास्फ़ोरस, कार्बन और आक्सिजन तथा बालू रह जाता है। तब कच्चा लोहा 'ब्लैस्ट फर्नेस' में ले जाया जाता है। ब्लैस्ट फर्नेस पुराने ज़माने की धौंकनीदार भट्ठी का ही परिष्कृत रूप है। एक बड़े भट्ठे की तरह यह लगातार आग और चिनगारियाँ उगलती रहती है। इसकी चिमनी लगभग १०० फ़ीट ऊँची होती है। चिमनी के चारों ओर लोहे की मज़बूत चद्दरें मढ़ी रहती हैं, तथा भीतर कड़ी आँच में भी न पिघल सकनेवाली ईंटें लगी रहती हैं। यदि ऐसी एक खाली भट्ठी में आप खड़े हों तो ऐसा लगेगा मानो आप एक गहरे कुएँ में खड़े हैं, जिसका मुँह १५ फ़ीट चौड़ा है। इस चिमनी का ऊपरी भाग ज़रा बाहर की ओर इस तरह चौड़ा हो जाता है कि चिमनी के मुँह पर एक कोणदार ढक्कन ठीक तरह से बैठ जाता है। कच्चा लोहा ऊपर से इसी ढक्कन पर लाद दिया जाता है। मशीनों के ज़रिये इस ढक्कन को थोड़ा नीचे करते ही बस कच्चा लोहा भट्ठी में जा गिरता है। पत्थर का शोधा हुआ कोयला ( कोक ) और चूने का पत्थर भी लोहे के संग भट्ठी में डालते हैं। एक टन लोहे के पीछे आधा टन कोक और लभभग ७ मन चूने का पत्थर खपता है। भट्ठे के भीतर जगह-जगह सूराख़ बने रहते हैं। इन्हीं सूराख़ों के रास्ते से पाइप द्वारा गर्म हवा के तेज़ झोंके तथा 'कोल गैस' पहुँचायी जाती है। इन सब पाइपों का संबंध एक मुख्य पाइप से रहता है। ये भट्ठियाँ जब चालू होती हैं, तो वर्षों तक अनवरत रूप से इनका काम जारी रहता है—एक क्षण के लिए भी ये ठण्ढी नहीं होने पातीं, अन्यथा उन्हें फिर से गर्म करने में बहुत-सा ईंधन नष्ट हो जायगा। दिन-रात चार-चार पाँच-पाँच घण्टे पर लोहा, कोक और चूने का पत्थर उसके अन्दर डालते रहते हैं। ये चीज़ें भट्ठे के अंदर ज्यों-ज्यों नीचे पहुँचती हैं, त्यों-त्यों उतनी ही अधिक गर्मी इन्हें मिलती है। पहले ये थोड़ी-सी गर्म होती हैं, फिर इनका रंग लाल हो जाता है और नीचे पहुँचते-पहुँचते तक ये एकदम गर्म होकर उजली दिखाई देने लगती हैं। कड़ी आँच में पिघलकर बालू और लोहे का मैल चूने के पत्थर में घुल जाता है तथा पिघले हुए लोहे के ऊपर द्रव रूप में यह तैरने लगता है—इसे 'स्लैग' कहते हैं। २१२ डिग्री की गर्मी में पानी खौलने लगता है, किन्तु इस भट्ठे का तापक्रम ३००० डिग्री तक पहुँचता है। चार-पाँच घण्टे के बाद भट्ठे की तली की दो खिड़कियाँ खोल दी जाती हैं, ऊपरवाली खिड़की से स्लैग बहकर बाहर निकल आता है, और नीचेवाली खिड़की से पिघला हुआ तपता लोहा। पिघला हुआ लोहा नालियों में बहकर जमा होता है। नालियों में बालू बिछी रहती है। ठण्ढा होने पर काले लोहे के ढेर सुअर के छौने की शक्ल के दिखाई देते हैं, इसी कारण अंग्रेज़ी में उसी 'पिग आयरन' कहते हैं। बड़े आकार की ब्लैस्ट फर्नेस प्रतिदिन ६०० टन पिग आयरन तैय्यार कर लेती है।

ब्लैस्ट फर्नेस के अन्दर पहले ठण्डी हवा के झोंके पहुँचाये जाते थे, किन्तु ठण्ढी हवा को गर्म करने में भट्ठी की बहुत-सी आँच नष्ट हो जाती थी। १८२८ में स्काटलैण्ड के एक इंजीनियर नील्स ने सोचा कि यदि फर्नेस में प्रवेश करने के पहले ही हवा गर्म की जा सके, तो फर्नेस के अन्दर की आँच व्यर्थ ख़र्च न होगी। नील्स की इस सूझ ने ईंधन की बहुत बचत की। अब ब्लैस्ट फर्नेस से बाहर ही हवा को गर्म कर लेते हैं। ब्लैस्ट फर्नेस से निकली हुई गर्म गैसें पाइप द्वारा वापस ले जाई जाती हैं, तथा इनसे हवा को गर्म करने का काम लेते हैं। बॉयलर को भी उसीसे गर्मी पहुँचाते हैं। उसी बॉयलर की शक्ति से हवा के झोंके उत्पन्न करनेवाली मशीनों का परिचालन होता है। इस तरह हम देखते हैं कि हवा को फर्नेस से बाहर ही गर्म करके ख़र्च में दोहरी बचत कर ली गई है।

पिघले हुए 'पिग आयरन' को साँचे में ढालकर उससे
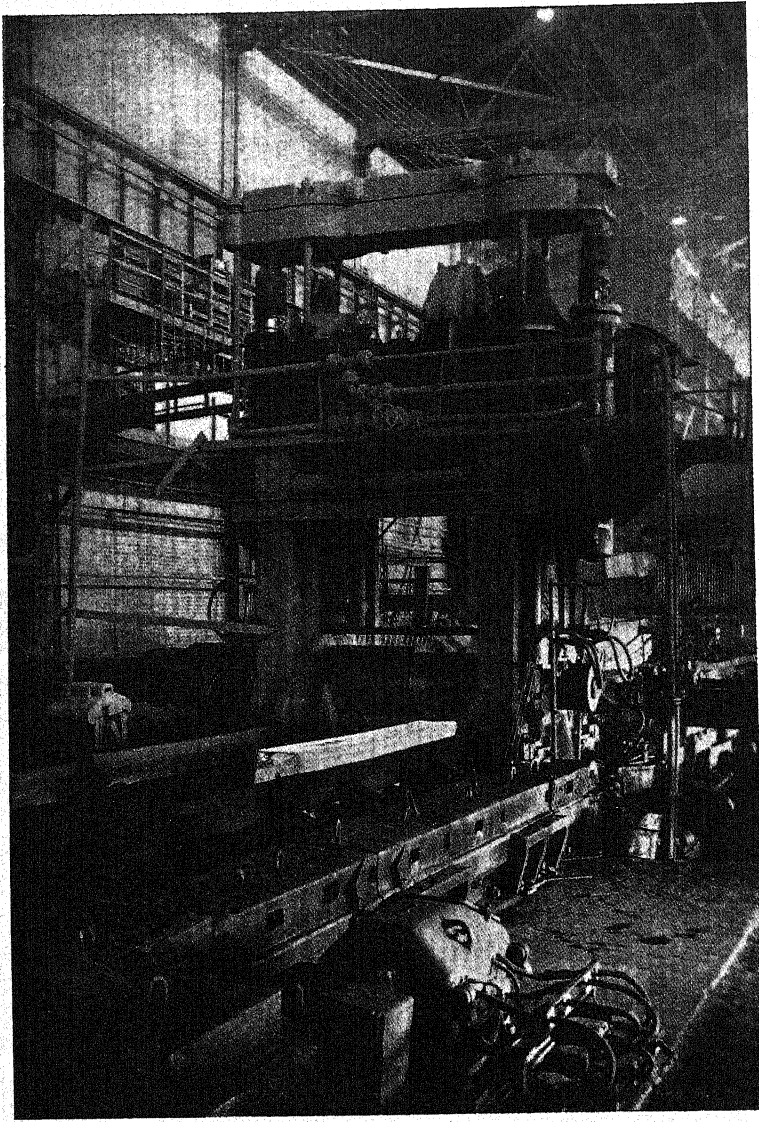
**टाटा के कारख़ाने का एक और विभाग—ब्लूमिङ्ग मिल**

इस भीमकाय यंत्र में उत्तप्त लोहे के पिण्ड को दबाकर रेल की पटरियाँ, गर्डरें आदि के रूप में बदल दिया जाता है। [ फ़ोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि० की कृपा से प्राप्त । ]

गैस की लपटें सीधी 'पिग आयरन' के ऊपर पड़ती हैं। लोहे की सलाखों से मिस्त्री 'पिग आयरन' को कई घंटे तक बराबर उलटता-पलटता रहता है—ठीक इसी तरह जैसे मैल साफ़ करने के लिए धोबी गन्दे कपड़े को लकड़ी के पाटे पर छाँटता है। इस क्रिया में पिघले हुए लोहे में से आसमानी रंग की लपटें निकलती हैं—फुफकारें भी छूटती हैं। जब फुफकारों का निकलना बन्द हो जाता है, तब मिस्त्री अपनी सलाखों के सिरे पर ३०-४० सेर का लोंदा लपेटकर भट्ठी के बाहर लोहा निकालता है। फिर इस लोंदे को मशीन से दबाते हैं, मानो धोबी कपड़े को निचोड़ रहा हो।

इस तरह फ़ास्फ़ोरस, गन्धक और कार्बन लोहे से अलग हो जाते हैं और क़रीब-क़रीब शुद्ध लोहा बच जाता है। इसे 'राट आयरन' कहते हैं। इसमें कार्बन का अंश बहुत कम रहता है, प्रायः ·१ से लेकर ·३ प्रतिशत तक। 'राट आयरन' में खिंचाव सहने की शक्ति ख़ूब होती है, यही कारण है कि बड़े-बड़े जहाज़ों के लिए लंगर और जंज़ीरें 'राट आयरन' से ही तैय्यार की जाती हैं। सुन्दर आकार की वस्तुएँ भी 'राट आयरन' से तैय्यार की जाती हैं। कब्जे, कीलें, साँकल, छड़ आदि 'राट आयरन' से बनते हैं। किन्तु 'राट आयरन' इतना नरम होता है कि इससे हमारी सभी आवश्यकताएँ पूरी नहीं की जा सकतीं। नियत मात्रा में कार्बन मिलाकर 'राट आयरन' इच्छानुसार कठोर और मज़बूत बनाया जा सकता है। ऐसे लोहे को फ़ौलाद या 'स्टील' कहते हैं। 'पिग आयरन' में ३ प्रतिशत कार्बन होता है। इससे यह कम आँच में पिघल जाता है, अतः ढलाई के काम के लिए तरह-तरह की चीज़ें बना सकते हैं, किन्तु यह बेहद कड़ा होता है। अतः इसे मोड़कर या हथौड़े से पीटकर कोई चीज़ नहीं बनायी जा सकती। इसका कारण यह है कि 'पिग आयरन' में कार्बन, गन्धक, फ़ास्फ़ोरस आदि विजातीय वस्तुएँ काफ़ी मात्रा में मौजूद रहती हैं। इस्पात तैय्यार करने के लिए इन विजातीय द्रव्यों को अलग करना ज़रूरी है। 'पिग आयरन' को एक बार फिर कोक के संग खुली भट्टियों में पिघलाते हैं। इन भट्टियों में जलते हुए
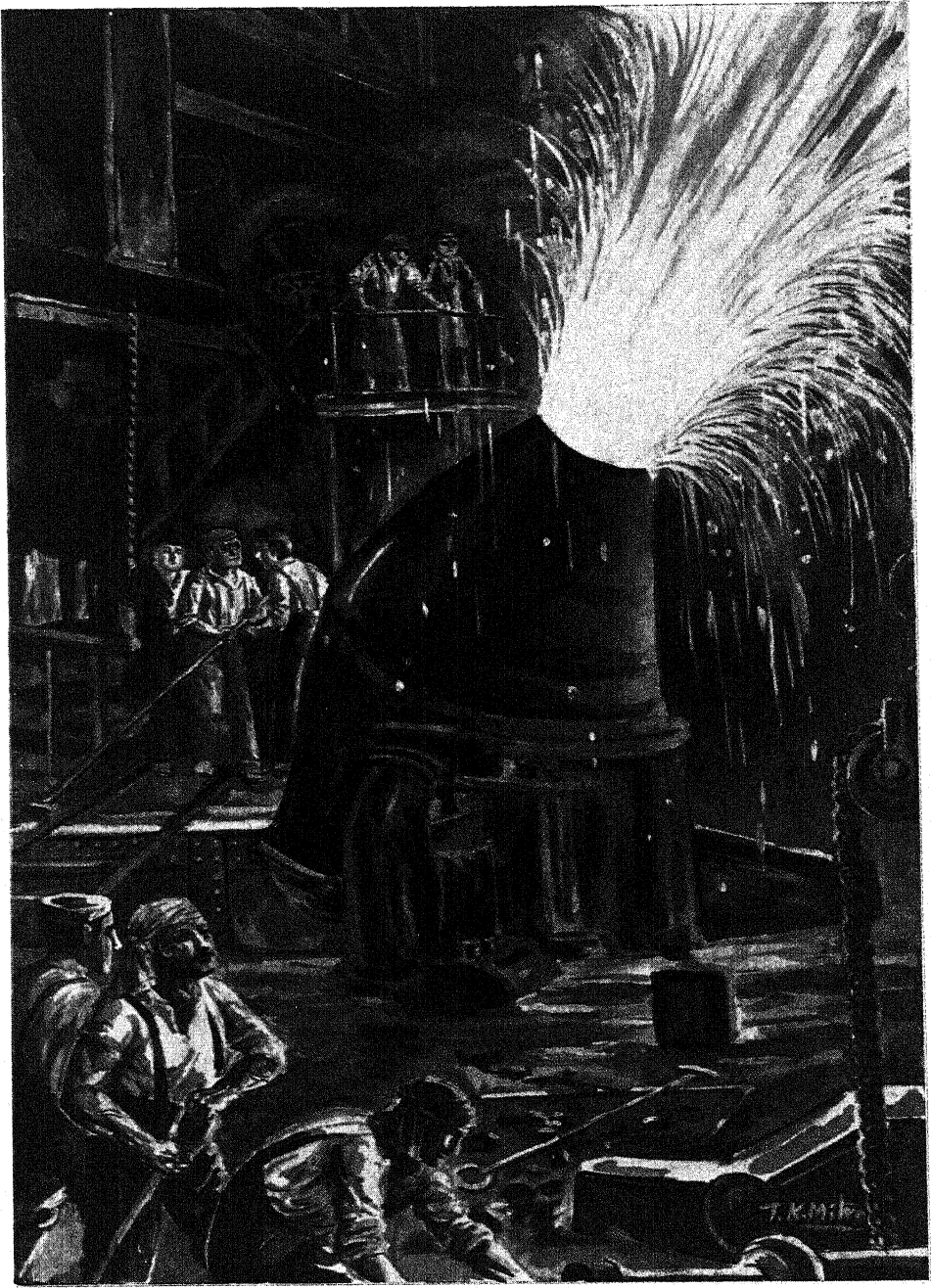
**फ़ौलाद का जन्म**

आज का युग यंत्रों का युग है, और यंत्रों के निर्माण के लिए लोहे से बढ़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। निब या आलपीन से लेकर लम्बे-लम्बे पुलों या गगनचुम्बी अट्टालिकाओं तक सभी कुछ लोहे का प्रसाद है। लोहा इस युग की शक्ति का प्रतीक है। ऊपर के चित्र में सुप्रसिद्ध आविष्कारक बेसेमर द्वारा आविष्कृत लोहे से फ़ौलाद बनाने के उस विशाल भट्टे का दृश्य है, जिसकी ईजाद ने आधुनिक यंत्र-युग में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इस भट्टे द्वारा आसानी से और सस्ते में उम्दा फ़ौलाद बनाया जाता है।
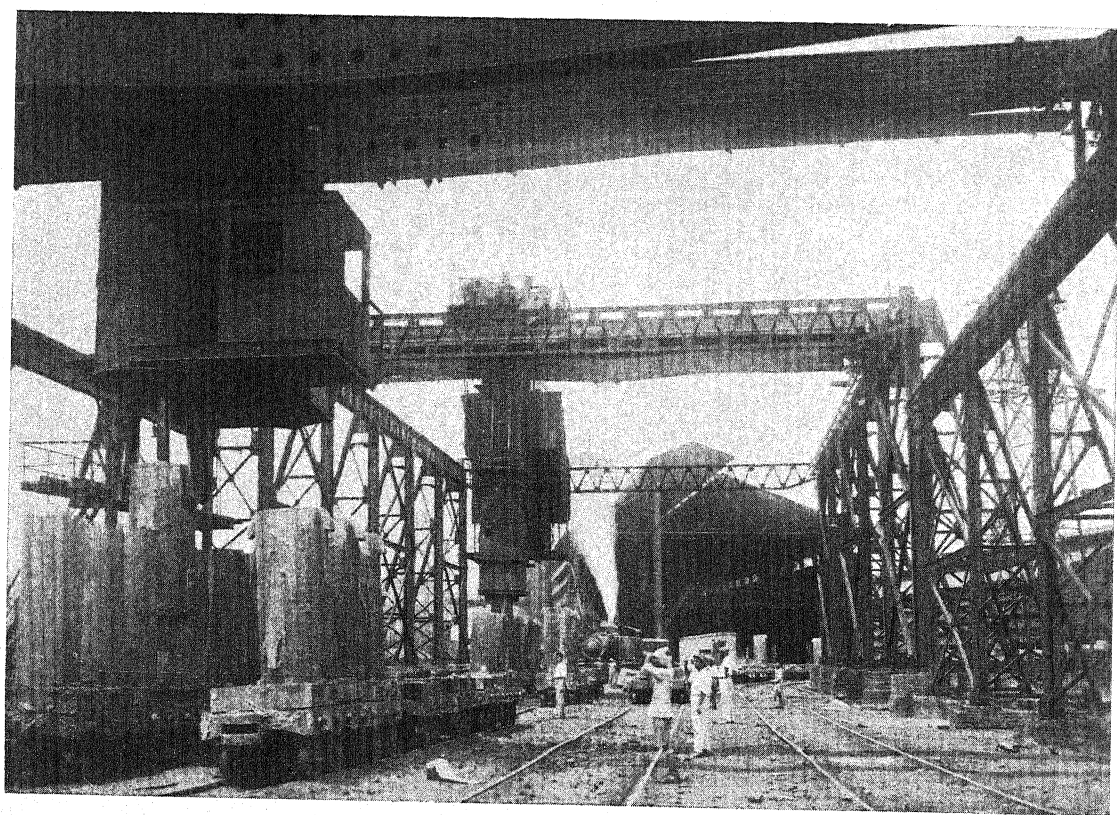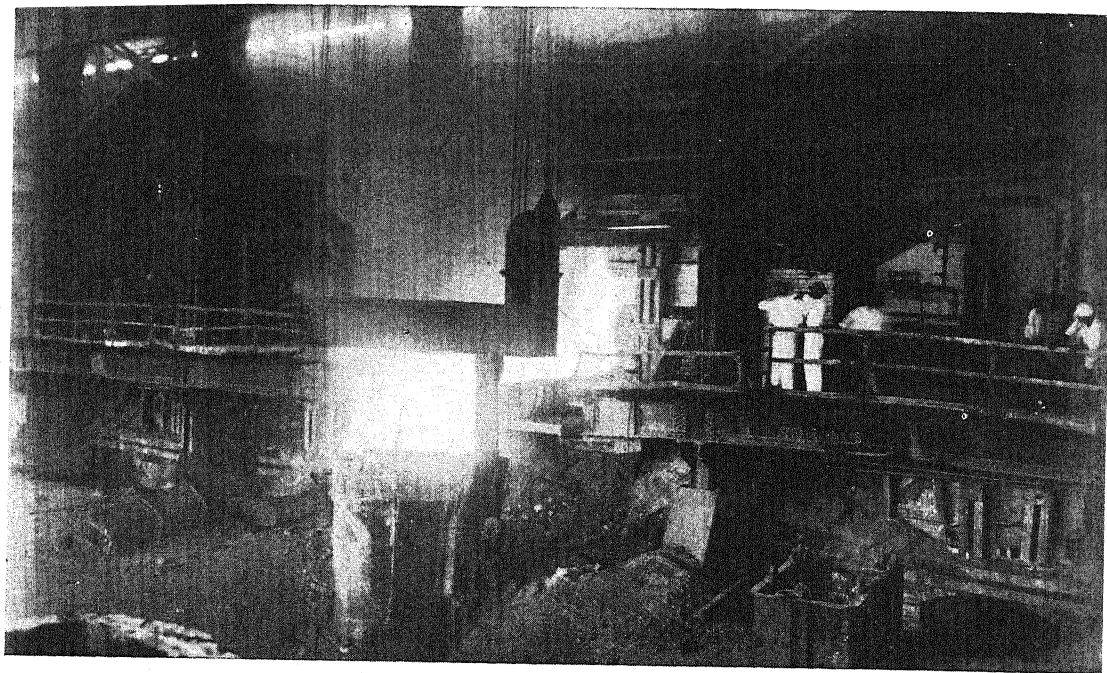
**टाटा के लोहे के कारख़ाने के दो दृश्य**

ऊपर के चित्र नें फ़ौलाद बनाने के खुले भट्टे का दृश्य है। चित्र के बीच में आँखों में चकाचौंध करनेवाला प्रकाश पिघले हुए फ़ौलाद और भट्टे की आँच के फलस्वरूप है। नीचे के चित्र में अन्य एक विभाग का दृश्य है, जहाँ बड़े-बड़े साँचों में से अंगारे की तरह चमचमाते हुए लोहे के पिण्ड निकाले जा रहे हैं! [ फ़ोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि० ]

'पिग आयरन' बहुत ही उपयुक्त है। किन्तु ठंढा होने पर 'पिग आयरन' के जल्द टूटने का डर रहता है—हथौड़े से पीटकर इससे कोई चीज़ तैय्यार करना बड़ा कठिन होता है। 'राट आयरन' में बहुत थोड़ा कार्बन रहता है, इससे मामूली आँच में यह नहीं पिघलता।

फ़ौलाद इन दोनों से अच्छा होता है—इसमें १ से लेकर ३ प्रतिशत कार्बन रहता है। कार्बन की मात्रा के अनुसार इसके गुण भी बदलते रहते हैं—ज्यों-ज्यों कार्बन की मात्रा बढ़ती है, फ़ौलाद कड़ा होता जाता है।

फ़ौलाद बनाने के लिए 'राट आयरन' के छोटे-छोटे टुकड़े काटकर लकड़ी के शुद्ध कोयले के साथ बक्सनुमा भट्ठियों में रख देते हैं। पहले लोहे के टुकड़ों की एक तह बिछाते हैं, फिर कोयले की तह। इस तरह कई तहें एक के ऊपर दूसरी बिछा दी जाती हैं। ये भट्ठी या आवें की तेज़ आँच में प्रायः एक हफ़्ते तक पड़ी रहती हैं। इस क्रिया में लोहे के भीतर कार्बन प्रवेश कर जाता है, और लोहे की पीठ पर जगह-जगह छाले उभड़ आते हैं। इसी कारण इसे 'ब्लिस्टर स्टील' कहते हैं। 'ब्लिस्टर स्टील' में सबसे बड़ी ख़राबी यह है कि लोहे में कार्बन समान रूप से मिल नहीं पाता, अतः 'ब्लिस्टर स्टील' की बनी चीज़ों पर भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका कोई भाग ज़्यादा मज़बूत हो सकता है, तो कोई कम।

शेफ़ील्ड के एक घड़ीसाज़ को कमानी के लिए प्रायः बढ़िया क़िस्म के फ़ौलाद की ज़रूरत पड़ा करती थी। अतः उसने स्वयं उत्तम फ़ौलाद तैय्यार करने की सोची। उसने ब्लिस्टर स्टील के टुकड़ों को लिया और उन्हें चीनी मिट्टी के ढक्कनदार प्यालों (क्रुसिबल) में भरकर तेज़ आँच में रख दिया। पिघलने पर क्रुसिबल के लोहे में कार्बन समान रूप से मिल गया और एक बहुत ही उत्तम जाति का फ़ौलाद मिला। यह बात सन् १७४० की है। इस फ़ौलाद को 'क्रुसिबल स्टील' कहते हैं। सेफ़्टी रेज़र की पत्तियाँ, चाकू तथा तेज़ धार के औज़ार क्रुसिबल स्टील से ही तैयार किए जाते हैं। किन्तु क्रुसिबल स्टील तैयार करने में समय भी ज़्यादा लगता है और ख़र्च भी। अतः यह महँगा बिकता है।

सस्ता फ़ौलाद तैय्यार की विधि के आविष्कार का श्रेय एक अंग्रेज़ मिस्त्री हेनरी बेसेमर को प्राप्त है। 'पिग आयरन' को पूर्णतया शुद्ध करके 'राट आयरन' तैय्यार करके उसमें कार्बन मिलाकर फ़ौलाद बनाने का तरीक़ा बड़े तूल का है। बेसेमर ने सोचा यदि पिग आयरन के विजातीय द्रव्यों को हम किसी तरह जला सकें या उसे गैस के रूप में उड़ा सकें तो बड़ी आसानी से हमें फ़ौलाद मिल सकेगा। इस तरह समय और पैसे दोनों की बचत होगी। बेसेमर ने एक गिलासनुमा भट्ठी ली। इस भट्ठी के पेंदे में ५ छेद किये। इन सूराख़ों के रास्ते से तेज़ हवा के झोंके आ रहे थे। अब पिघला हुआ पिग आयरन उसमें उँडेला गया। पिग आयरन के डालते ही उसमें से आसमानी रंग की लपटें निकलने लगीं और हवा पाकर गर्म कार्बन अपने आप जलने लगा। कार्बन के जलने से इतनी काफ़ी गर्मी पैदा होती थी कि बिना किसी ईंधन के भट्ठी का काम चलता रहा। जब लपटों का निकलना बन्द हो गया तो उसने भट्ठी से लोहे को बाहर निकाल लिया। इस तरह कुछ मिनटों के अन्दर उसने कई टन पिग आयरन को फ़ौलाद में परिणत कर दिया।

बेसेमर की बातों का कारख़ानेवालों ने पहले तो विश्वास नहीं किया—भट्ठी में बाहर से बिना गर्मी पहुँचाए केवल ठण्डी हवा के झोंके से भला फ़ौलाद कैसे तैय्यार किया जा सकता है? किन्तु लोगों ने जब स्वयं अपनी आँखों से प्रयोग देखा तो उनके आश्चर्य्य की सीमा न रही। थोड़े ही दिनों में वह गिलासनुमा भट्ठी 'बेसेमर कन्वर्टर' सभी फ़ैक्टरियों में काम में आने लगी।

बेसेमर कन्वर्टर ने लोहे के कारबार में एक नये युग का आविर्भाव किया, और फ़ौलाद का प्रयोग अब हर तरह के कामों में होने लगा।

आधुनिक बेसेमर कन्वर्टर का आकार एक टेढ़े पेंदे-वाले अंडाकार बोतल की तरह होता है। कन्वर्टर के भीतर भट्ठीवाली ईंटें जुड़ी रहती हैं, और बाहर लोहे का पत्तर मढ़ा रहता है। इसकी चौड़ाई १० फ़ीट और ऊँचाई २० फ़ीट होती है। उसमें ३० टन पिग आयरन एक बार में समा सकता है। पेंदे में सैकड़ों सूराख़ बने रहते हैं, उन्हीं में से होकर हवा कन्वर्टर में प्रवेश करती है। जब नीचे से हवा का झोंका आता है, तब बड़े ज़ोर की आवाज़ होती है, और पीली और आसमानी रंग की लपटें ऊपर को निकलती हैं। रंगीन शीशे की ऐनक लगाये एक विशेषज्ञ उन लपटों को देखता रहता है—जब सारा कार्बन जल चुकता है, तब वह इशारा करता है और हवा के झोंके बन्द कर दिये जाते हैं, और एक नियत मात्रा में कार्बन उस कन्वर्टर में डाल दिया जाता है। ठण्ढा होने पर यही लोहा फ़ौलाद बन जाता है। मशीनों के ज़रिये कन्वर्टर को टेढ़ा कर देते हैं, बस पिघला हुआ लोहा बड़े-बड़े

बालटों में गिर पड़ता है, जो 'लेडिल' कहलाते हैं। ये क्रेन की सहायता से उठाये जाते हैं।

बेसेमर के तरीक़े में एक भारी कमी यह है कि जिस पिग आयरन में फ़ास्फ़ोरस और गन्धक का अंश अधिक रहता है, उसे इस रीति से फ़ौलाद बनाने में दिक़्क़त पड़ती है। अमेरिका, जर्मनी और भारतवर्ष में, जहाँ खान से निकले हुए कच्चे लोहे में फ़ास्फ़ोरस और गन्धक अधिक मात्रा में नहीं होते, बेसेमर कन्वर्टर ही फ़ौलाद बनाने के लिए काम में लाया जाता है। किन्तु इङ्गलैण्ड की खान के कच्चे लोहे में फ़ास्फ़ोरस और गन्धक का अंश अधिक रहता है, अतः यहाँ बेसेमर कन्वर्टर की जगह अब ज़्यादातर सर विलियम सीमेन की खुली भट्टी काम में लायी जाती है। इन भट्टियों में हवा तथा जलनेवाली गैसें बग़ल से प्रवेश करती हैं, और लपटें पिग आयरन में ऊपर तथा बग़ल से लगती हैं। पिग आयरन में फ़ौलाद के छोटे-छोटे टुकड़े भी डाल दिये जाते हैं। घण्टे आध घण्टे में फ़ास्फ़ोरस, गन्धक और बालू वग़ैरह स्लैग के रूप में ऊपर आ जाते हैं, और बाहर गिर जाते हैं। समय-समय पर भट्टी में से नमूना निकालकर जाँच की जाती है कि कितना प्रतिशत कार्बन उसमें मौजूद है। इतमीनान होने पर पिघला हुआ फ़ौलाद लेडिल में गिराया जाता है।

खुली हुई भट्टी में बेसेमर कन्वर्टर की अपेक्षा देर लगती है। बेसेमर कन्वर्टर में सब काम १५ मिनट में ख़त्म हो जाता है, किन्तु खुली भट्टी में आठ-दस घण्टे लग जाते हैं। लेकिन खुली भट्टी में निकासी अच्छी होती है, एक बार में २५० टन फ़ौलाद तैय्यार किया जा सकता है।

लेडिल से फ़ौलाद के बृहताकार टुकड़े क्रेन की मदद से रोलिंग मिल में लाये जाते हैं। दानव की तरह टन-टन करता हुआ एक क्रेन अपने पंजे में रक्तवर्ण का गर्म लोहा दबोचे हुए रोलिंग मिल की ओर बढ़ता है। रोलरों के बीच से जब गर्म लोहा गुज़रता है, तो चारों ओर लाल चिनगारियाँ छूटती हैं। देखते-देखते लोहे का मोटा लोंदा लम्बी-चौड़ी चद्दरों में परिवर्तित हो जाता है, मानो किसी कुम्हार ने मिट्टी के लोंदे को हाथ से थाप-थाप कर पतला बना दिया हो! वहीं बगल में कुछ मशीनें लगी रहती हैं, जो गर्म लोहे की चद्दरों और गर्डरों को आसानी से काट देती हैं, मानो लोहे की न होकर वे लकड़ी की बनी हों! इस प्रकार लोहा हमारे बाज़ारों में जाने योग्य होता है।
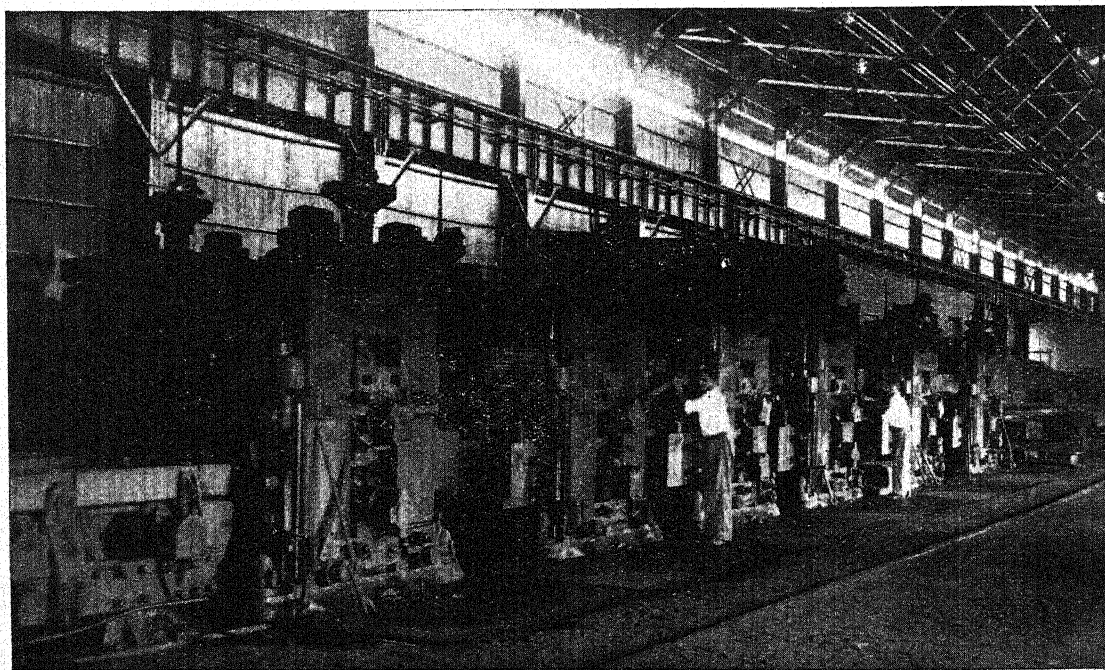
**गर्म लोहे के पिण्ड को दबाकर चद्दरें, सलाखें, आदि बनाये जा रहे हैं।**

[ फ़ोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि० की कृपा से प्राप्त। ]
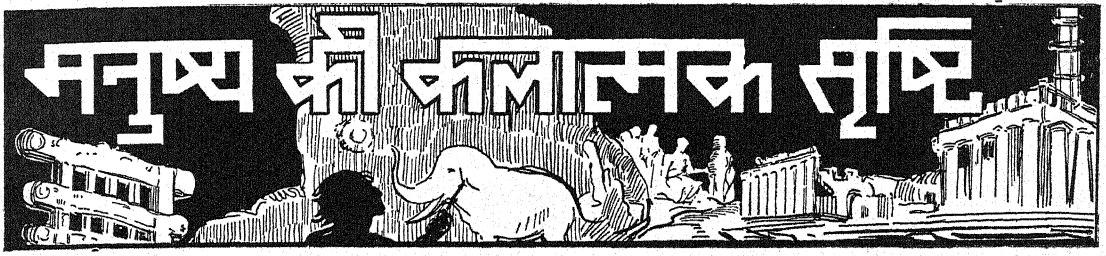
# प्रस्तर-युग में कला

**पिछले प्रकरण में हमने देखा, किस प्रकार पहले-पहल मनुष्य के हृदय में कला की भूख जगी होगी और उसकी प्राथमिक अभिव्यक्ति का रूप कैसा रहा होगा। इस लेख में हमें मनुष्य की उन आरम्भिक कला-कृतियों का दिग्दर्शन करना है, जिनके भग्नावशेष पृथ्वी पर मानव की कला के सबसे प्राचीन स्मारक हैं।**

किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्र उसकी छाया की सहायता से बनाने के संबंध में तरह-तरह की गाथाएँ सभी देशों की आदिकाल की दन्तकथाओं में आम तौर पर प्रचलित हैं। तिब्बत के बौद्धों में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि एक बार रोरुक के सम्राट् ने उस युग के प्रसिद्ध कलाकारों से भगवान् बुद्ध की दिव्य प्रतिछवि का चित्रण करने को कहा। एक कलाकार के पश्चात् दूसरे कलाकार ने भगवान् बुद्ध के करुणामय मनोहर मुखमण्डल को चित्र में अंकित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उनमें से कोई भी उनकी सच्ची आकृति उतारने में सफल न हो सका। निराश होकर अपने संरक्षक सम्राट् रोरुक के साथ वे कलाकार स्वयं तथागत (बुद्ध) की शरण में गये, और उनसे कोई उपाय बतलाने की प्रार्थना की। तथागत ने उन घबड़ाये हुए कलाकारों को एक दीपक लाने को कहा और यह आदेश दिया कि दीपक सामने रखकर दीवाल पर पड़नेवाली उनकी छाया की ठीक-ठीक रूपरेखा उतार ली जाय, इससे उनके मुख और शरीर की रूप-रेखा ठीक उतर आयेगी।

परन्तु मनुष्य की आकृति के चित्रण के पूर्ण विकास के मार्ग में आदिम मनुष्य का जादू-टोना तथा भूत-प्रेत की विद्याओं में विश्वास होना एक बड़ी बाधा रही है। आज भी पिछड़ी जातियों के लोग अपना प्रतिरूप उतरवाने से घबड़ाते हैं—इस डर से कि कहीं उनके चित्र की सहायता से उन पर किसी प्रकार का वशीकरण या मारण प्रयोग न किया जाय, या उनको हानि पहुँचाने के लिए कोई अशुभ जादू-टोना न कर दिया जाय! अब भी अनेक देशों में लोगों का यह विश्वास है कि यदि आप किसी व्यक्ति के, जो आपका शत्रु हो, चित्र या मूर्ति में उचित मंत्रविधि के साथ सुई या पिन गाड़ दें तो उस व्यक्ति की निश्चय ही शीघ्र कष्टपूर्वक मृत्यु हो जायगी। अपने चित्र या मूर्ति द्वारा हानि पहुँचाये जाने के इस अन्ध भय के कारण आदिम मनुष्य अपना या अपने साथियों का चित्र बनाने से हमेशा ठिठकता रहा और इसीलिए इस संबंध में उसका ध्यान उन पशुओं की ओर गया, जिन्हें वह मारना चाहता था।

प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य को, जिसका जीवन ख़ानाबदोशों जैसा था और जिसे कृषि का तनिक भी ज्ञान न था, अपने दैनिक आहार के लिए शिकार पर निर्भर रहना पड़ता था। अगर किसी दिन वह कोई हरिण, सुअर या भालू मारकर लाने में असफल रहता तो उसे परिवार-सहित उस दिन भूखा ही रहना पड़ता था। इस कारण शिकार में निश्चित रूप से सफल होने के लिए वह जिन जानवरों को मारना चाहता था उनके चित्र बनाया करता, और उनमें सुई या काँटे गाड़कर इसके फलस्वरूप शिकार में उस जंतु को मारने की सुखद घटना के पूर्वस्वप्न देखते हुए प्रसन्न होने लगता था। इस प्रकार आदिम मानव का सारा जीवन ही हम उन वन्य पशुओं से अविच्छिन्न रूप से संबद्ध पाते हैं, जिनके पत्थर पर खुदे हुए या गुफाओं की दीवालों पर अंकित अनेक चित्र वह छोड़ गया है।

आज से सौ ही वर्ष पहले कला के इतिहास के आरम्भिक परिच्छेद निश्चित रूप से और बड़ी सरलतापूर्वक लिखे जा सकते थे, क्योंकि उस समय बड़े-बड़े गण्यमान्य पंडितगण धर्म-ग्रन्थों के आधार पर गणना करके यह घोषित करते थे कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण ईसा के

**प्रस्तर युग के कलाकार**

इस चित्र में पत्थर के युग में अँधेरी गुफाओं में मशाल की सहायता से दीवारों पर जानवरों के चित्र अंकित करते हुए आदिम मनुष्यों की कल्पना की गई है।

पूर्व ४००४वें वर्ष में शुक्रवार ता० २८ अक्तूबर को किया था! किसी में भी यह साहस नहीं था कि वह बिना नास्तिकता का अपराधी बने इन धर्माधिकारियों के वक्तव्यों का विरोध करे। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' (बाइबिल का एक भाग) की सूक्तियों ही का सर्वोपरि आधिपत्य और शासन था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में मिस्र देश के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हुए, उन्होंने सृष्टि के आरम्भ की तिथि को और भी पीछे ढकेल दिया और बाद को असीरियन, कैल्डियन तथा सुमेरियन सभ्यताओं का पता चलने पर इतिहासज्ञ इस बात का अनुभव करने लगे कि दुनिया और उसका इतिहास धर्म के आचार्य लोग जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक प्राचीन है। भूगर्भ-विद्या की हाल की खोजों ने तो संसार के इतिहास के और भी कई अप्रत्याशित और भयोत्पादक पृष्ठ खोल डाले हैं, साथ ही नवनिर्मित मानव-विज्ञान (Anthropology) और मानुषमिति (Anthropometry) नामक विद्याओं ने भी प्रागैतिहासिक मानव के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को बढ़ाने में कुछ कम मदद नहीं की है। अब हमें मोटे तौर पर इस बात का पता मिल गया है कि आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व पृथ्वी पर मनुष्य-जैसे कुछ प्राणी विचरण करते थे, जो अपने काम के औज़ार बनाने के उद्देश्य से समझबूझकर चकमक पत्थर या साधारण पत्थर को हथौड़े की चोटों से तोड़कर या खुरचकर गढ़ते थे। ये थे आरम्भिक प्रस्तर युग के मनुष्य (Eolithic or Dawn-Stones Men) जिनकी अस्थियाँ जावा में पायी गयी हैं। इनके बाद हाइडेलबर्ग (Heidelderg Men) नामक मनुष्य-प्राणी आए, जिनके युग में पृथ्वी पर ऐसे चीते होते थे, जिनके कटारी के आकार के लम्बे दाँत थे, तथा ऐसे गैंडे पाए जाते थे, जिनका शरीर ऊन-जैसे बालों से ढका रहता था। इसके बाद आए पिल्टडाउन-नामक मनुष्य (Piltdown Men), जिनके द्वारा छेद किया गया बल्ले की शक्ल का एक हाथीदाँत का टुकड़ा मिला है। इस (पिल्टडाउन) मानव को वैज्ञानिक लोग इयनथ्रॉपस (Eoanthropus) या आदि-मानव भी कहते हैं। तब लगभग ५०००० वर्ष पूर्व, जब पृथ्वी का चतुर्थ हिम-युग अभी पराकाष्ठा को नहीं पहुँच पाया था, नीएन्डरथेल मनुष्य (Neanderthal Men) उत्पन्न हुए, जिन्हें अग्नि के प्रयोग का ज्ञान था। ये लोग कन्दराओं में निवास करते, चमड़े के वस्त्र धारण करते और हम लोगों की तरह दाहिने हाथ से अधिकतर काम लेते थे। कालान्तर में आज से लगभग ३५००० वर्ष पहले इनका स्थान ऐसे लोगों ने आकर लिया जो सर्वप्रथम वास्तविक मानव कहे जाते हैं। इन वास्तविक मनुष्यों की अस्थियाँ क्रोमेगनान (Cro-magnon) और ग्रिमैल्डी (Grimaldi) की कन्दराओं में पायी गयी हैं, अतः इन जातियों के मनुष्य को "क्रोमेगनानीय" या "ग्रिमैल्डीय" कहते हैं। ये मनुष्य जंगली थे, परन्तु थे बड़े ऊँचे दर्जे के जंगली। वे कंठहार बनाने के लिए कौड़ियों या सीपियों में छेद कर लेते थे; सजावट के लिए अपने शरीर को रँगा करते थे, हड्डियों और पत्थरों पर चित्रकारी भी करते थे, तथा कन्दराओं की दीवालों और आकर्षक शिला-खण्डों पर पशुओं इत्यादि के टेढ़े-मेढ़े परन्तु कभी-कभी बहुत ही बढ़िया चित्र भी बनाते थे। वे तरह-तरह के औज़ार बनाते थे और घोड़ों (उस युग के टट्टू, जिनके थोड़ी-सी दाढ़ी भी होती थी),

बिसन-नामक जंगली बैलों तथा मैमथ-नामक विशाल हाथी जैसे जन्तुओं का ख़ूब शिकार करते थे। किन्तु यह पता नहीं चलता कि उन्होंने कोई मकान भी बनाए हों, या कोई बर्तन गढ़ा हो। खेती या बुनाई के सम्बन्ध में वे बिल्कुल अनभिज्ञ थे। जानवरों के चमड़े और रोओं के बने उनके वस्त्र को छोड़कर वे हर पहलू से पूरे जंगली थे। उनका सबसे महत्वपूर्ण पशु एक प्रकार का बारहसिंघा था, जो उनके लिए वैसा ही उपयोगी था जिस प्रकार कि आज-कल के युग में हमारे लिए गाय है।

जब हम वैज्ञानिकों को भूमध्यसागर के परिवर्त्ती प्रदेशों के सिलसिले में रेन्डीयर-नामक बारहसिंघे या मैमथ की बात करते सुनते हैं तो हम लोगों को स्वभावतः आश्चर्य होता है; क्योंकि आजकल उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के दक्षिण में रेन्डीयर कहीं भी नहीं पाया जाता और मैमथ का तो अब पृथ्वी से अस्तित्व ही उठ गया है। परन्तु भूगर्भ-विद्या के विद्वान् यह बतलाते हैं कि ५०००० वर्ष पहले, जिस समय यूरोप महान् हिमयुगों में से अन्तिम युग से शनैः-शनैः छुटकारा पा रहा था, भूमध्यसागर इतना छिछला था कि उसको पार करने के लिए छोटी-छोटी पुलों या अन्य साधनों का बनाना संभव था और अफ्रीका और एशिया से मनुष्य और जानवर यूरोप पैदल आते-जाते थे। इन दिनों यूरोप के दक्षिणी भाग में आज-कल जहाँ भूमध्यसागर है वहाँ तक बारहसिंघा पाया जाता था। यहाँ कुछ ऐसे लोगों द्वारा, जो हाल ही में कहीं से वहाँ आए थे, यह पशु पकड़कर पालतू और घरेलू बना लिया गया था। इन आदिम शिकारी लोगों के जीवन में बारहसिंघे का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। बारहसिंघा अपने इन स्वामियों के लिए कितना मूल्यवान और महत्वपूर्ण रहा होगा, इसका अनुभव तब हमें होता है जब हम इस पर ध्यान देते हैं कि कितना मन लगाकर वे गुफ़ाओं की दीवालों पर या पाषाण-खण्डों पर इसका चित्र बनाते तथा कितने चाव के साथ उसके सींग की हड्डियों से निर्मित आभूषणों से अपना शृंगार करते थे! इस लेख के साथ के चित्रों से यह पता चलेगा कि आदिम मानव ने अपने विविध समकालीन पशुओं का कितनी बारीक़ी और गहराई से अध्ययन किया था, और कितनी सुन्दरता के साथ उसने आत्माभिव्यंजन के उस समय के अपने एकमात्र साधन चकमक पत्थर से बनाये भौंड़े चाकू से अपने सीधे-सादे दैनिक जीवन की सभी छोटी-छोटी व्यवहार की वस्तुओं अर्थात् अस्थियों, हाथी-दाँत अथवा मारे गए अन्य पशुओं के सींगों और दाँत-पर खोद-खोदकर या खुरचकर उनके चित्र बनाए थे। शताब्दियों के अवसान तथा बुद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ-साथ शनैः-शनैः आदिमानव ने हाथ से फेंके जानेवाले अपने पाषाण के अस्त्रों का त्याग कर दिया तथा सींग के ऐसे छोटे-छोटे छुरे बनाना प्रारम्भ कर दिया, जिनके हत्थों पर बढ़िया कारीगरी रहती थी। ऐसे छुरे तथा कुछ बारीक़ नक़्क़ाशी के सींग और हड्डी के रहस्यपूर्ण छोटे डंडे कभी-कभी इन आदिम मानवों के कन्दरा-गृहों में पाए गए हैं। ये छड़ीनुमा डंडे, जो केवल शोभा की वस्तु थे, आज-
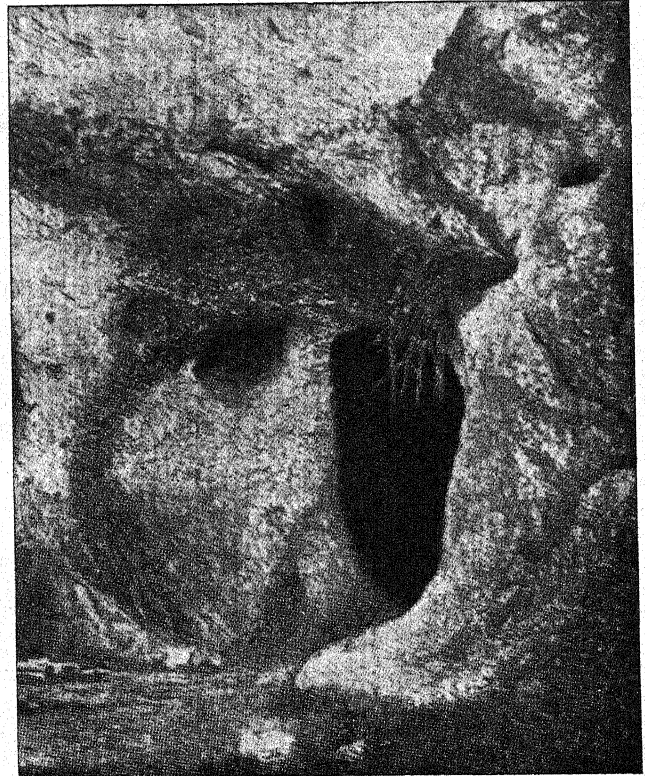
**संसार की एक सबसे पुरानी कंदरा-चित्रशाला का द्वार**

यह फ्रांस में दोरदोन की घाटी में फाँत-द-गावँ (Font-de-Gaume) की सुप्रसिद्ध गुफ़ा का द्वार है। इसमें अल्टामीरा की गुफ़ा के चित्रों जैसे ही प्राचीन रेखाचित्र मिले हैं। [फ़ोटो—'ला केवर्न द-फाँत-गावँ' से]
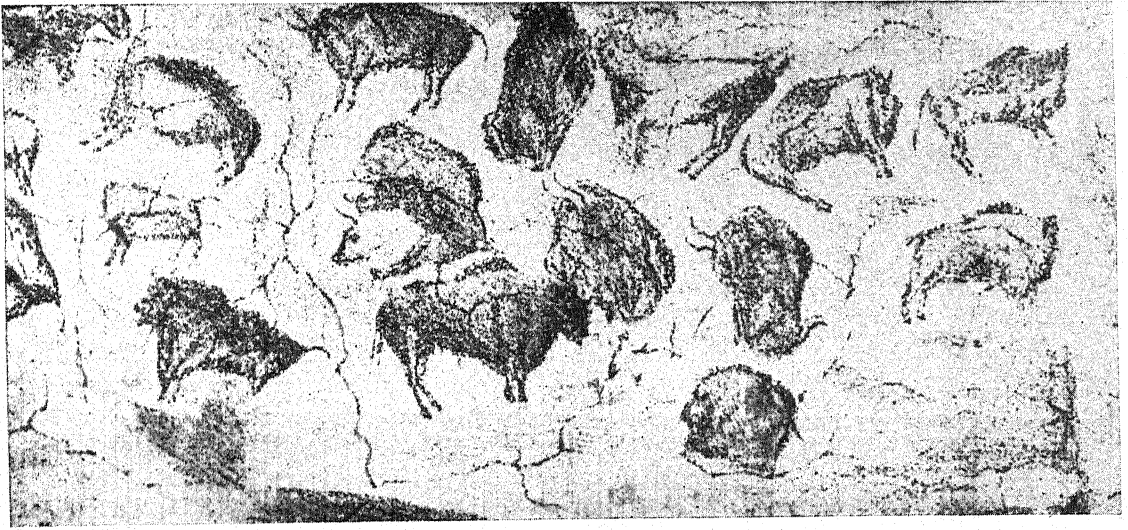
**३५००० वर्ष पूर्व के कलाकारों की महान् कलाकृतियों का एक नमूना**

यह अल्टामीरा की गुफा की उस सुप्रसिद्ध दीवाल का चित्र है जिस पर पत्थर-युग के मनुष्यों द्वारा चित्रित जानवरों के चित्र पाये गये हैं, जिनमें से दो रंगीन चित्र इसी पृष्ठ के सामने अलग से दिये जा रहे हैं।

कल की छड़ियों से बिल्कुल भिन्न थे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनसे औरों पर आक्रमण करने अथवा आत्म-रक्षा करने का काम लिया जाता होगा। पुरातत्व-वेत्ताओं का अनुमान है कि वे या तो उस समय के जादूगरों की छड़ियाँ रही होंगी, या संभवतः 'राजदंड' के रूप में काम में लायी जाती होंगी। इसीलिए इन लोगों ने इन्हें राजदंड (batons de commandement) का नाम दिया है।

उपर्युक्त छुरे के हत्थों तथा 'राजदंडों' पर चित्रकारी करने के अलावा उस समय का कन्दरा-निवासी मनुष्य मैमथ-नामक हाथी के दाँत के टुकड़ों तथा बारहसिंघे के अनेक शाखाओंवाले सींगों पर मनुष्य या पशु-पक्षियों के सुन्दर चित्र अथवा बढ़िया बेल-बूटों की नक्काशी भी करता था। उस समय सींग या हड्डी के टुकड़े की सब सतह चित्रों से भर देना ही चित्रकला की पूर्णता समझी जाती थी। कभी-कभी एक चित्र दूसरे के ऊपर बना दिया जाता था, और प्रायः ऐसा होता था कि किसी बड़े चित्र की रूप-रेखा के भीतर एक दूसरा छोटा चित्र या किसी जानवर का केवल सिर बना दिया जाता था। इस तरह उस युग के चित्रों में अधिकतर हमें यह देखने को मिलता है कि किसी बारह-सिंघे के चित्र की रूप-रेखा के अन्दर मछली, सर्प या घोड़े का सिर बना हुआ है। वास्तव में जब तक कोई स्वयं अपनी आँखों से इन प्रागैतिहासिक कृतियों को देख न ले तब तक वह यह अनुमान नहीं कर सकता कि ये कन्दरा-वासी मनुष्य चित्रों की रूप-रेखा खींचने में, मूर्ति-निर्माण में अथवा सामान्य रूप से प्रस्तर-खण्डों को केवल छीलने में कितने आगे बढ़े हुए थे! वास्तव में वे पूर्ण रूप से विकसित मूर्तिकार नहीं थे। वे विकास की ऐसी अवस्था में थे, जिसके लिए यह कहना सही होगा कि वे केवल लकड़ी या पत्थर को छीलना-छालना जानते थे। यह बात हमें स्वाभाविक ही मालूम पड़ेगी, यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि धातुओं का प्रयोग इस समय तक बिल्कुल अज्ञात था, तथा पदार्थों को गढ़कर उन्हें कोई रूप देने का सारा कार्य चकमक पत्थर के तेज़ टुकड़ों द्वारा ही होता था। परन्तु सच्चे कलाकार के कुशल करों में आकर चकमक पत्थर के नुकीले टुकड़े भी चमत्कार पैदा कर सकते हैं। लगभग सौ वर्ष पहले ही अब तक इस पृथ्वी पर ऐसे स्थल पाये जाते थे, जैसे न्यूज़ीलैण्ड या आस्ट्रेलिया में, जहाँ के आदि-निवासी, धातुओं का कोई ज्ञान न होने पर भी, लकड़ी और पत्थर दोनों से गढ़कर ऐसे आभूषणों का निर्माण करते थे, जिनकी सुन्दरता और कारीगरी कहीं बढ़ी-चढ़ी होती थी।

कला का यह तथाकथित 'बारहसिंघा युग' बहुत दिनों तक नहीं रहा। कालान्तर में उपस्थित होनेवाले जलवायु के रहस्यपूर्ण परिवर्त्तनों ने पृथ्वी के हिमप्रदेशों की रेखा और
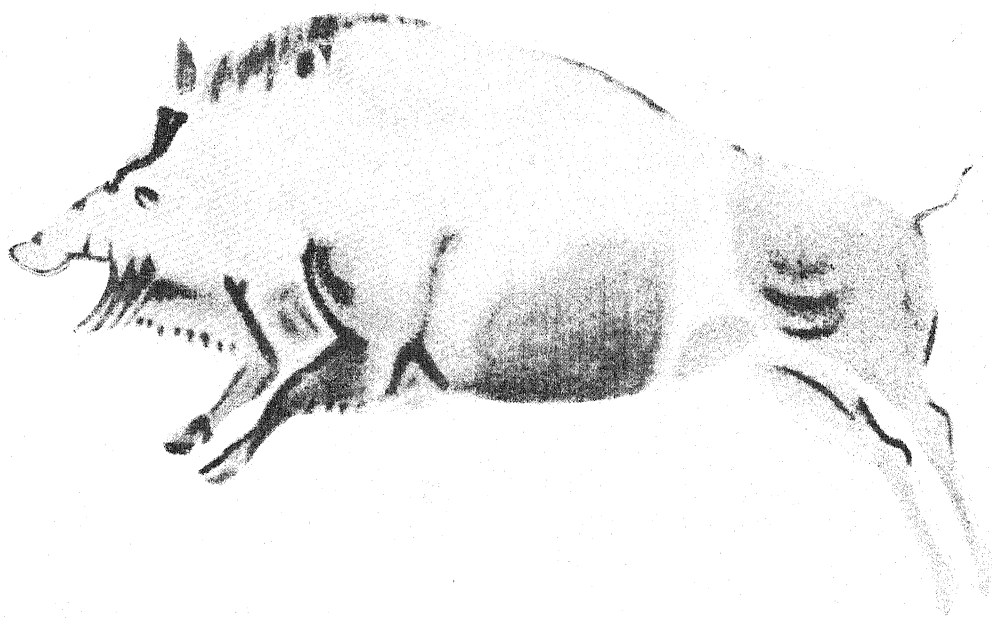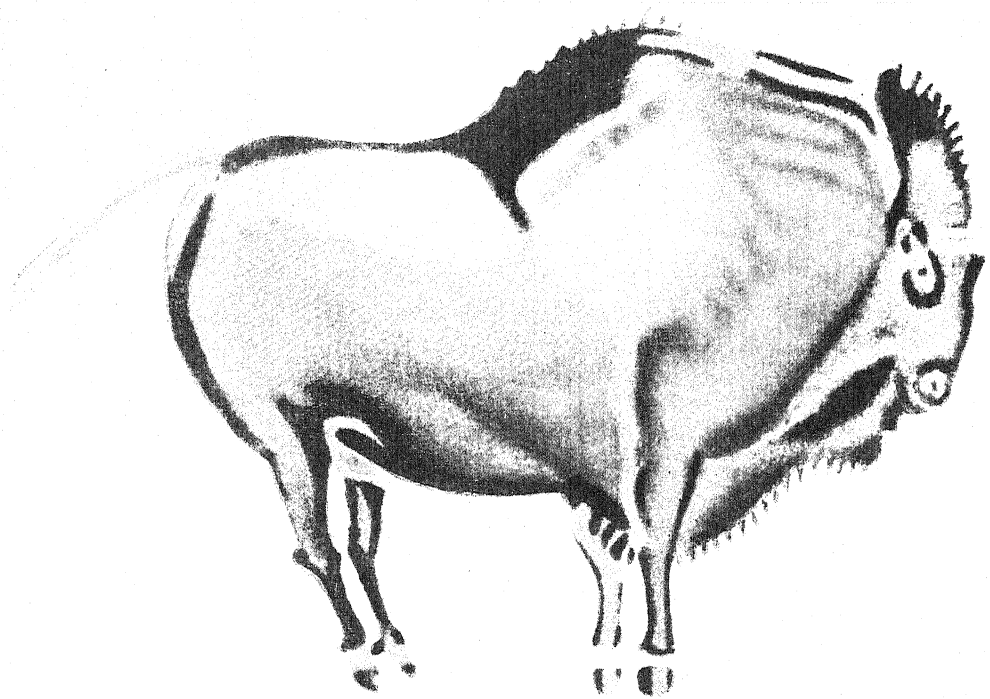
पत्थर के युग की सुंदर कला के नमूने

ये चित्र अल्टामीरा की गुफ़ा की एक दीवाल पर अंकित हैं। इनकी सुडौल रचना को देखकर हज़ारों वर्ष पूर्व के उन आदिम कलाकारों की प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। [ चित्र—'ला केवर्न द अल्तामीरा' से ]
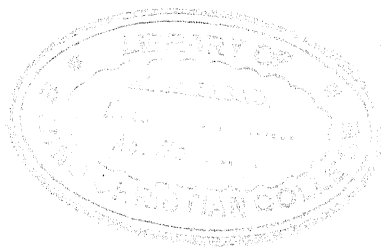
उत्तर की ओर ऊपर हटा दी, और बारहसिंघा अपने आपको इस नये गर्म वातावरण के उपयुक्त न बना सकने के कारण उत्तर के अधिक ठंढे प्रदेशों की शरण लेने लगा। इधर आदिमानव को धूप की गर्मी लेने ही में आनन्द आने लगा। अतएव उसने बारहसिंघे के पीछे-पीछे उत्तर की ओर जाने की झंझट नहीं की, क्योंकि बारहसिंघा के चले जाने के बाद ही उसकी जगह इस प्रदेश में एक जाति का लाल हिरण आ गया, जिससे आदिमानव को भोजन तथा आच्छादन ही नहीं बल्कि मछली पकड़ने और शिकार मारने के लिए हथियार का भी सामान मिलने लगा। इस रक्तवर्ण हिरण के शिकारी मनुष्य ने न केवल बारहसिंघे के शिकारियों की कलात्मक परम्परा को ही जारी रखा, बल्कि आत्माभिव्यंजन के दो और नये साधन भी प्राप्त कर लिये। अब वह चित्रकार तथा मूर्तिकार दोनों बन गया।

उन गुफ़ाओं की खोज, जिनमें आदिम मनुष्य अपनी इस कलात्मक विरासत को छोड़ गये हैं, कला के इतिहास की एक सबसे विचित्र घटना है। १८७६ में पुरातत्त्व-विद्या के प्रेमी एक स्पेन-निवासी रईस के मस्तिष्क में अल्टामीरा (Altemira) की गुफ़ा का निरीक्षण करने की सनक सवार हुई। यह गुफ़ा उत्तरी स्पेन की कैन्टेब्रियन पर्वतमाला (Cantabrian Mountains) में स्थित है। स्पेन के इन श्रीमान् का नाम था मारक्विस डि० सन्तोला (Marquis de Santuola) पुरातत्त्वविद्या के सौभाग्य से यह अपनी छोटी लड़की को भी इस खोज की यात्रा में अपने साथ लेते गये थे। जब कि पिता पुराने शिलीभूत अस्थि-पंजरों को ढूँढ निकालने में जुटे पड़े थे, लड़की ने स्वयं भी कुछ अनुसन्धान करने का निश्चय किया। हाथ में मोमबत्ती लेकर रेंगते-रेंगते वह गुफ़ा के एक ऐसे हिस्से में जा पहुँची, जो इतना अधिक संकीर्ण था कि इस कारण कभी किसी ने उसकी जाँच करने की परवाह नहीं की थी। लड़की ने अन्दर पहुँचकर जो ऊपर की ओर देखा तो ठीक अपने सामने ही एक बड़े बैल को अपनी ओर घूरते पाया! इस दृश्य से वह इतनी डरी कि उसने पिता का नाम लेते हुए ज़ोर की चीख़ मारी। लड़की की आवाज़ सुनकर मारक्विस महोदय ने दौड़कर गुफ़ा के भीतर प्रवेश किया और इस प्रकार अनायास ही अपने युग की सबसे बड़ी खोज करने में वह सफल हुए!

प्रागैतिहासिक काल की इस प्रथम चित्रकारी का समाचार दूर-दूर तक फैल गया, किन्तु चित्रकला के क्षेत्र के धुरंधर पंडितों ने इस सम्बन्ध में गहरा सन्देह प्रकट किया कि इस प्रकार का भव्य चित्राङ्कन भूतकाल के आदिम कलाकारों की कृति था। कुछ ने तो आगे बढ़कर बेचारे मारक्विस पर यह आरोप भी लगाया कि उन्होंने एक महान् पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए मैड्रिड (स्पेन की राजधानी) के किसी कलाकार को किराये पर रखकर गुफ़ा की दीवालों पर स्वयं ही मूर्तियाँ चित्रित और अंकित कराई हैं। पर अन्त में जाकर सत्य ने असत्य पर विजय पायी। जिस माध्यम द्वारा ये चित्र अंकित किये गये थे उसकी तथा चित्रों की कौशल-सम्बन्धी विशेषताओं की परीक्षा से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि इस प्रकार का चित्राङ्कन आज के युग के किसी कलाकार द्वारा संभव न था।

ये चित्र क्या थे, चट्टानों की सतह पर खींची हुई आकृतियों की रूप-रेखायें मात्र थे। परन्तु स्वयं उस चट्टान की सतह पर एक विचित्र प्रकार का अपरिचित लाल रंग चढ़ा हुआ था, जो परीक्षा करने पर एक प्रकार का लोहे का मोर्चा (Iron Oxide) निकला। इस लाल पदार्थ के साथ गहरा नीला रंग भी मिला था। यह भी एक प्रकार का मोर्चा था, जो संभवतः 'मैङ्गनीज़ आक्साइड था'। इनके अलावा और भी अनेक प्रकार के पीले तथा रंगीन रंग के द्रव्य इस माध्यम में मिश्रित थे, जो जाँचने पर 'आयरन कार्बोनेट' (Iron Carbonate) नामक द्रव्य साबित हुए। इन रंगों में चर्बी मिला दी गई थी, ताकि चट्टान की सतह पर ये चिपट जायँ। इन रंगों के बीच-बीच उन आदिम कलाकारों ने (जो खुरचने के लिए एक तरह का पत्थर का औज़ार काम में लाते थे; कालान्तर में ऐसे औज़ार उनके कार्यस्थलों पर पाये गये हैं) जली हुई हड्डी से बनाये गये कुछ काले रंग का भी प्रयोग किया था। खोखली हड्डियों से रंग के बर्तन का काम लिया जाता था — मानो ये हड्डियाँ रंग से भरी शीशियाँ थीं—और छिछले पत्थर के टुकड़ों पर रंग मिलाया जाता था। कोई आधुनिक चित्रकार शायद ही अपने काम के लिए ऐसे साधनों का उपयोग करता।

सौभाग्य से उक्त सत्यान्वेषी मारक्विस के अन्वेषण के कुछ समय बाद ही दक्षिण-पश्चिमीय फ़्रान्स में दोरदों (Dordogne) की घाटी में और भी इसी तरह की गुफ़ा की दीवालों में की गई चित्रकारी का पता लगा। तब से कई प्रागैतिहासिक कन्दराओं की चित्रकारियों का दक्षिणी फ़्रान्स और उत्तरी स्पेन के प्रदेशों में पता लगा है। कुछ तो पैर की तरह बढ़ते चले गये इटली के एढ़ी के प्रदेश में भी पाई गई हैं। परन्तु उत्तरी योरप या इंगलैण्ड में ऐसी गुफ़ाओं का सर्वथा अभाव है।

इन कन्दरा-चित्रशालाओं की एक सामान्य विचित्रता यह है कि उनके चित्र सूर्य के प्रकाश से इतने अधिक दूर या आड़ में रक्खे गये हैं कि उधर से होकर निकलनेवाले किसी भी दर्शक की निगाह उन पर पड़ना असंभव था। ये चित्रकारियाँ प्रायः कन्दरा के उस भाग में की गई हैं, जहाँ सबसे घना अँधियारा छाया रहता है और जहाँ तक सूर्य की किरणों की कभी भी पहुँच न हो पाई होगी। इससे हम यह अनुमान करते हैं कि इन चित्रकारों ने मशाल की रोशनी में काम किया होगा। सूर्य की किरणों के पूर्ण अभाव ने इन अत्यन्त मूल्यवान चित्रों की रक्षा करने में एक प्रकार के प्राकृतिक बचाव का काम दिया। अन्यथा बनने के कुछ ही वर्षों के अन्दर ही सूर्य की किरणों की रासायनिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनका रंग सदा के लिए उड़ जाता।

प्रागैतिहासिक कलाकार क्यों हमेशा ऐसे अंधकारपूर्ण अगम्य स्थानों ही में चित्राङ्कन करता था, तथा क्यों उसके कलात्मक प्रयत्न पशुओं तक ही सीमित थे, इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये गये हैं। यह कहा जाता है कि धर्म ही प्रत्येक प्रकार की कला का उद्‌गम रहा है, अतएव ये प्रागैतिहासिक चित्र संभवतः मनुष्य के प्रारम्भिक धार्मिक कृत्यों का ही एक भाग रहे हों। ये चित्रित गुफाएँ संभवतः उन लोगों के पूजा के प्राचीन स्थल रही हों, जहाँ जाति के बड़े-बूढ़े मंत्र-तंत्र की साधना करके चित्रों पर जादू करने के लिए जुटते थे, ताकि शिकारी अपने भोजन की प्राप्ति के प्रयत्न में आखेट करते समय और भी अधिक निश्चित रूप से सफल हो सके।

प्रागैतिहासिक काल की चित्राङ्कन-शैली का उत्थान जिस आकस्मिक वेग से हुआ था, उसका ह्रास भी उतनी ही तेज़ी के साथ हुआ। थोड़े दिनों तक तेज़ी के साथ पर्याप्त रूप से बढ़ने और अपनी मनोहर छटा दिखलाने के बाद वह धरातल से एकदम लुप्त हो गया। अब न यथार्थ पर्यवेक्षण की वह अद्‌भुत देन रही, न भाव-व्यंजक चित्राङ्कन की वह जादू-भरी अलौकिक-सी रहस्यपूर्ण शक्ति ही! और सुघड़ गढ़न की वह भावना भी जाती रही।

इन विशेषताओं का लोप होने पर कला को फिर से अपना रूप और स्थान प्राप्त करने में हज़ारों वर्ष लग गए। इन हज़ारों वर्षों की अवधि में ऐसी बहुत-सी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, जिनका कला के विकास के लिए अत्यन्त महत्व था। क्योंकि इन्हीं दिनों में मानव-समाज ने क्रमशः भिन्न-भिन्न धातुओं का उपयोग करना और सूखी मिट्टी के बर्तनों को आग में तपाकर टिकाऊ बर्तन बनाना सीखा।

इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते पत्थर के युग का अवसान हो गया था और पृथ्वी पर तथाकथित 'ताम्रयुग' या 'काँसे के युग' (Bronze Age) के उदयकाल की किरणें फूटने लगी थीं।

**पत्थर-युग की मूर्त्ति-निर्माण-कला का एक अद्‌भुत नमूना**

यह तक-द-आदोवर्त नामक स्थान की गुफा में पायी गयी दो बिसन या साँडों की मिट्टी की बनायी हुई मूर्त्तियों का चित्र है। इन मूर्तियों की सुडौल रूपरेखा देखकर आज भी लोग हजारों वर्ष पूर्व के अपने पूर्वजों की अद्‌भुत कला-प्रवीणता के सम्बन्ध में आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबाने लगते हैं!

# भाषा का विकास

**भाषा की भित्ति पर ही साहित्य का निर्माण हुआ है, अतएव साहित्य के विकास का अध्ययन करने के पहले भाषा के जन्म और विकास का पर्यावलोकन करना उपयोगी होगा।**

आदिम मनुष्य ने कैसे बोलना सीखा, इसकी विद्वानों ने खोज की है और अनेक मतों का प्रतिपादन किया है, पर निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा मत सच है और कौन-सा झूठ। एक मत है कि भाषा मनुष्य को ईश्वर से मिली है। इस मत को सच्चा माननेवाले अंध-विश्वासी धार्मिक मनुष्य हैं। सभी देशों और जातियों के धर्मानुयायी अपनी-अपनी धार्मिक पुस्तकों को ईश्वरीय बतलाते हैं। बौद्ध लोग पाली को ईश्वर की प्रथम भाषा मानते हैं, तो मुसलमान अरबी को, ईसाई हिब्रू को और वैदिक धर्मानुयायी वेद-भाषा संस्कृत को। यह मत कितना सदोष है, कहने की आवश्यकता नहीं। धर्म के पचड़े में न पड़कर इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा का प्रथम और अन्तिम अधिकारी मनुष्य है। भाषा मनुष्य की अपनी ही कमाई हुई संपत्ति है, ईश्वर का इससे कोई संबंध नहीं।

दूसरा मत है कि भाषा का जन्म संकेतों द्वारा हुआ और मनुष्य की आधुनिक विकासावस्था उन्हीं संकेतों के परिणाम-स्वरूप है। इस मत में कुछ सत्य अवश्य है और वह इतना ही कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोकेच्छा पर निर्भर होता है, केवल संकेतों द्वारा मनुष्य अपने मस्तिष्क का विकास नहीं कर सकता। अतः भाषा की आवश्यकता स्पष्ट है।

तीसरा मत है कि प्रथम शब्द अनुकरणात्मक थे। मनुष्य ने पशु-पक्षियों की बोलियों का अनुकरण कर अपने शब्द-भंडार को बढ़ाया है। बिल्ली की 'म्याऊँ', कुत्ते का 'भों-भों', घोड़े का 'हिनहिनाना', कौए की 'काँव-काँव' आदि सुनकर मनुष्य ने शब्द गढ़े। इस मत के माननेवाले भूल जाते हैं कि मनुष्य ने अपने साथियों की बोलियों का भी तो अनुकरण किया होगा। इतना अवश्य है कि कुछ शब्द अवश्य अनुकरणमूलक होते हैं और उनके द्वारा कुछ शब्दों की सृष्टि भी हो सकती है, पर यह कहना कि सारा-का-सारा शब्द-भंडार इन्हीं की कृपा का फल है, भ्रमात्मक है। इस मत को 'बाउ-वाउवाद' ( Bow-wow Theory ) कहते हैं।

चौथा मत है कि प्रथम शब्द मनोभावों के द्योतक थे। विस्मय, भय, घृणा आदि मनोभावों को प्रकाश में लाने के लिए मनुष्य के मुख से स्वतः ही शब्द निकल पड़ते हैं। उदाहरणार्थ ओह, आह, हा, छि, पूह् शब्दों की व्युत्पत्ति का एकमात्र कारण मनुष्य के मनोभाव ही हैं। और इन मनोभावों की उत्पत्ति के कारण शारीरिक हैं। प्रायः देखा गया है कि मनोभावों के द्योतक शब्दों का प्रयोग तभी होता है, जब भावाधिक्य के कारण मनुष्य के मुख से कोई शब्द निकलता ही नहीं, अतएव ऐसे शब्दों को भाषा के अन्तर्गत मानना सरासर भूल है। अपरंच ओह, आह, छि, पूह् आदि ध्वनियाँ सांकेतिक हैं। समस्त देशों और ज़ातियों में इनका थोड़ा-बहुत उसी रूप में प्रचार है। दर्द के मारे हिन्दुस्तानी 'ऊह' कहकर चिल्लाता है, तो अंग्रेज़ 'ओह' और जर्मन 'औ' कहकर। अन्तर अधिक नहीं है।

पाँचवाँ मत कहता है कि आदिम मनुष्य के प्रथम शब्द वे थे, जिनकी सृष्टि बाह्य जगत् के संसर्ग में आकर स्वभावतः ही हो गई। जैसे लोहा, पत्थर आदि बजाने से विभिन्न स्वर निकलते हैं, वैसे ही मनुष्य को जैसा भी अनुभव हुआ, उसके लिए शब्द बन गया। जैसे-जैसे भाषा विकसित होती गई, यह स्वाभाविक शक्ति घटती गई। इस मत का नाम मैक्समूलर ने 'डिंग-डांग-वाद' ( Ding-Dong Theory ) रक्खा है।

छठवाँ मत कहता है कि जब मनुष्य ख़ूब परिश्रम करता है, तो उसकी साँस वेग से चलने लगती है, जिससे स्वर-तंत्रियों में कम्पन होने लगता है। यही कम्पन आदिम मनुष्य के प्रथम शब्दों का कारण है। 'हेइया', 'आहो' आदि ध्वनियाँ परिश्रमपूर्वक किये गये कार्य के ही परिणामस्वरूप हैं। इस मत को 'यो-हे-हो-वाद' (Yo-He-Ho Theory) के नाम से पुकारते हैं।

मनोयोगपूर्वक देखने से उपर्युक्त मतों में तथ्यांश अवश्य है, पर यह कहना कि ये पृथक्-पृथक् स्वतःसिद्ध हैं भूल है। विद्वानों के मतानुसार तो इन सबका समन्वय ही सन्तोषजनक हो सकता है।

इन मतों को ध्यान में रखते हुए हम उस आदि काल के शब्द-भंडार की कल्पना कर सकते हैं। अनेक शब्द बने, पर उनमें से केवल वही जीवित रहे, जो सर्वाधिक उपादेय समझे गये—जो आसानी से बोले जा सके और कानों को पूर्णतया स्पष्ट सुन पड़े। इन शब्दों के विकास में उपचार का बहुत बड़ा भाग है। 'उपचार' का अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात को समझाना। जहाँ पहले अँग्रेज़ी के 'पाइप' शब्द का अर्थ 'गड़रिये के बाजे' का होता था, उसीका आधुनिक अर्थ 'नल' भी है। ऋग्वेद-काल में यदि 'रम' धातु का अर्थ 'स्थिर होना' था, तो आज उसका अर्थ 'आनन्द देना' है।

उस सुदूर काल में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवश्य ही उतना स्पष्ट नहीं रहा होगा, जितना कि वह आज है। लोग समझने में अनेक भूलें करते होंगे। जो इच्छा हुई, वही अर्थ लगा लेते होंगे। शब्दों का ठीक-ठीक बोध तो कदाचित सहस्रों वर्ष बीतने पर ही होना सम्भव हुआ होगा। आज भी अधिकांश मनुष्यों के लिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अस्पष्ट ही रहता है।

आदिमानव ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम साङ्केतिक भाषा का ही प्रयोग किया होगा, यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं। आज भी दो विभिन्न भाषाभाषी एक-दूसरे को समझने के प्रयत्न में संकेतों का ही प्रयोग करते हैं। संकेत के साथ-साथ ध्वनि का भी प्रयोग करते हैं। अमेरिका के आदिमनिवासी रैडइंडियन तथा अफ़्रीक़ा और प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों के निवासियों में आज दिन भी सांकेतिक भाषा द्वारा ही विचारों का आदान-प्रदान होते देखा गया है।

आदिमानव ने प्रारम्भिक अवस्था में परिस्थितियों से बाध्य होकर आवश्यकता-निवारण के लिए जो प्रथम संकेत किया होगा, उसके द्वारा अवश्य ही उसने पूर्ण विचार का आभास दिया होगा। वह संकेत एक पूर्ण वाक्य का द्योतक होगा। यदि ध्वनि-संकेत किया होगा, तो उसमें भी पूर्ण वाक्य निहित रहा होगा। मानव का संकेत-प्रयोग अथवा शब्दप्रयोग पूर्ण वाक्य का ही काम देता है। क्योंकि केवल संकेत अथवा शब्द, जब तक ध्यान आकर्षित न करे, व्यर्थ ही है, और ध्यान आकर्षित करना ही भाषा है।

जैसे-जैसे शब्द-भण्डार बढ़ता गया, सामाजिक परिवर्त्तन होने लगे। शब्दों के आदिम प्रयोगों तथा अर्थों में भी यथेष्ट परिवर्त्तन होने लगे और मानव ने सांकेतिक (Conventional) अर्थों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेज़ी शब्द 'ब्रोकर' (Broker) का आदिम अर्थ है 'वह आदमी जो मद्य के पीपों में सूराख़ करता है'। आज इसी शब्द का अर्थ है 'दलाल'। 'सैलेरी' (Salary) का मूल अर्थ है 'नमक का पैसा'। आज उसका अर्थ है 'वेतन'। ग्रीक शब्द 'पोलिस' (Polis) का अर्थ है 'नगर'। वही शब्द अंग्रेज़ी में हुआ 'पोलिस' (Police)। इसी से अनेक शब्द बने यथा 'पौलिटिक्स' (Politics) (राजनीतिशास्त्र), 'पालिसी' (Policy) (नीति), (Politician) 'पौलीटीशियन' (राजनीति विशारद)। एक शब्द है 'इन्डिगो' (Indigo)। इस शब्द का मूल अर्थ है 'भारतीय'। पहले नील का उत्पादन भारतवर्ष में होता था। ग्रीक लोगों ने इसका नाम रक्खा 'इंडिकौन' (Indikon); लैटिन भाषाभाषियों ने 'इन्डिकम' (Indicum) और इटली-स्पेन-निवासियों ने इसको नाम दिया 'इंडिगो'। अंग्रेज़ों ने इसको इसी रूप में अपनाया। अंग्रेज़ी शब्द 'फ़ौरेन' का (Foreign), जिसका आज 'विदेशी' के अर्थ में प्रयोग होता है, आदिम अर्थ है 'घर के बाहर'। 'बार्गेन' (Bargain) जो आज 'सौदा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है अंग्रेज़ी में लैटिन शब्द 'बार्का' (Barca) द्वारा आया, जिसका अर्थ होता है 'नाव का'।

ऐसा क्यों होता है, इसका एक कारण है। किसी भी शब्द का आदिम अर्थ कुछ भी रहा हो, पर सामाजिक परिस्थिति और आवश्यकता के आगे 'शब्द' को सिर झुकाना ही पड़ता है। सदैव ही भाषा की उन्नति सामाजिक उन्नति की आश्रित रही है। क्योंकि भाषा कोरे शब्दों का समूह ही नहीं है, वह मानव समाज के पारस्परिक व्यवहार का साधन है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया है, भाषा भी अधिक व्यवहारक्षम तथा शक्तिमती होती गई है। इसी से कहा जाता है कि भाषा का विकास होता है।

भाषा के पूर्व रूप का अध्ययन विद्वानों ने कई प्रकार से किया है। अंग्रेज़ी भाषा के प्रकाण्ड वैयाकरण

जैस्पर्सन ने असभ्य जातियों की भाषा, बच्चों की भाषा और विविध भाषाओं के इतिहास—इन तीन विचित्र क्षेत्रों का विशेष अध्ययन कर आदिम मानव भाषा को खोज निकालने का प्रयत्न किया है। इन तीनों क्षेत्रों में सबसे अधिक सफलता विविध भाषाओं के इतिहास के अध्ययन द्वारा ही मिली है। उदाहरणार्थ आधुनिक हिन्दी की पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी से तुलना की जाय; फिर पश्चिमी हिन्दी की बाँगड़ू भाषा से, पंजाबी से और डिंगल से तुलना की जाय; फिर इनकी नागर अपभ्रंश से, नागर अपभ्रंश की शौरसेनी से, शौरसेनी की दूसरी प्राकृत अथवा पाली से, फिर दूसरी प्राकृत की पहली प्राकृत से, फिर पहली प्राकृत की संस्कृत से, फिर संस्कृत की वैदिक संस्कृत से, फिर वैदिक संस्कृत की अवेस्ता अथवा मीडिक भाषा से तुलना करके तत्पश्चात् इण्डो-योरोपियन परिवार की लैटिन, ग्रीक, हिट्टाइट, तोख़ारी आदि भाषाओं के साथ तुलना करने से बहुत सन्तोषजनक परिणाम निकाला गया है। निम्नलिखित तालिका से हम भली प्रकार यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये सब भाषाएँ किसी आदिम भाषा की ही संतान हैं:—

| **(संस्कृत)** | **(लैटिन)** | **(फ़ारसी)** | **(हिन्दी)** | **(अंग्रेज़ी)** |
|---|---|---|---|---|
| पितृ | पेटर | पिदर | पिता | फ़ादर |
| मातृ | मेटर | मादर | माता | मदर |

कौन-सी भाषा कौन बोलेगा, यह परिस्थिति या शिक्षा पर निर्भर है, जन्म पर नहीं। भाषा मानव की अर्जित संपत्ति है। मानव प्रत्येक भाषा को सीख सकता है। अंग्रेज़ी भाषा को आज संसार भर के देशों और जातियों के स्त्री-पुरुष पढ़ते, लिखते और बोलते हैं। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि समस्त भाषायें एक हैं और आरंभ में उन सबका बोलनेवाला एक ही मूल परिवार रहा होगा। इस प्रकार आज तक की खोज के परिणामस्वरूप कोई तेरह परिवारों का पता लगा है। पर इन सबके एक मूल का पता नहीं लग सका है। इन परिवारों में से इण्डो-योरोपियन अथवा इण्डो-जर्मैनिक, सैमेटिक, हैमेटिक, यूराल-अल्ताई, चीनी, द्रविड़, मलय-पोलिनैशियन, दक्षिण अफ़्रीकन, अमरीकन और काकेशियन मुख्य हैं।

भौगोलिक दृष्टि से विश्व भर की भाषाएँ चार विभागों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) यूरेशिया, (२) अफ़्रीक़ा, (३) दोनों (दक्षिणी और उत्तरी) अमरीका, और (४) प्रशांत महासागर।

यूरेशिया विभाग की भाषा, संस्कृति और सभ्यता के दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्व की है। सभी में सर्वश्रेष्ठ साहित्य-सृजन हुआ है। इसके मुख्य परिवार हैं—(१) इण्डो-योरोपियन, (२) काकेशन, (३) चीनी अथवा एकाक्षर, (४) यूराल-अल्ताई, (५) सैमेटिक, (६) द्रविड़, और (७) (अ) बास्क और (आ) सुमेरियन।

इण्डो-योरोपियन परिवार में दस उप-परिवार हैं—(१) केल्टिक, (२) ट्यूटानिक, (३) लैटिन, (४) हैलेनिक, (५) हित्ती (हिट्टाइट), (६) तोख़ारी, (७) अल्बेनियन, (८) आर्मेनियन, (९) लैटो-स्लाविक, और (१०) आर्य (इण्डो-ईरानी)। भारत की संस्कृत, पाली, फ़ारसी, हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी आदि से लेकर योरप की ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज़ी, इटैलियन, रूसी, स्पैनिश, स्वीडिश, आदि भाषाएँ इसी महत्व-पूर्ण परिवार में हैं।

काकेशन परिवार में छः भाषाएँ हैं—(१) किरकासिअन, (२) किस्तिअन, (३) लैस्घिअन, (४) मिंग्रेलिअन, (५) जार्जिअन और (६) सुआनिअन। इन भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य होता है।

चीनी अथवा एकाक्षर-परिवार में चार भेद मुख्य हैं—(१) चीनी, (२) स्यामी, (३) अनामी और (४) तिब्बती-बर्मी। एकाक्षर-परिवार के बोलनेवालों की संख्या इण्डो-योरोपियन परिवार की तुलना में दूसरी ठहरती है। इस परिवार का धार्मिक एकता बनाए रखने में बहुत बड़ा भाग है। इसमें चीनी भाषा ही मुख्य है और अन्य भाषाओं पर इसी का सर्वाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द के लिए एक चित्र होता है। स्वर-भेद और स्थान-भेद से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव प्रकट करने की इसमें क्षमता है।

यूराल-अल्ताई परिवार में पाँच उपपरिवार हैं—(१) मंगोलियन, (२) टर्को-टार्टार, (३) टुंगूज़, (४) फिनो-अग्रिक और (५) सैमोयेद।

मंगोलियन भाषा मंचूरिया और मंगोलिया में बोली जाती है, टुंगूज़ ओखोटस्क सागर के निकटवर्ती भागों में और मंचूरिया के कुछ भागों में बोली जाती है। सैमोयेद आर्कटिक सागर के तटवर्ती पश्चिमी भागों में बोली जाती है। फिनो-अग्रिक उपपरिवार में अनेक भाषाएँ हैं। ये सब हंगरी, बल्गेरिया, यूराल पर्वत और साइबीरिया में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य है और स्वरों में पूर्ण अनुरूपता है।

सैमेटिक-परिवार में नौ भाषाएँ हैं—(१) असीरिअन, (२) बैबीलोनिअन, (३) परवर्ती अर्माइक, (४) हिब्रू, (५)

मोबाइट, (६) प्यूनिक, (७) अरबी, (८) हिम्यार्टिक और (६) अबीसीनीअन। इण्डो-योरोपियन परिवार को छोड़कर सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवार यही है। इस परिवार ने संसार को लिपि-कला सिखलाई। केवल चीन और भारत की लिपियाँ ही शुद्ध स्वदेशी हैं। इस भाषा में सर्वनाम क्रिया के अन्त में प्रयुक्त होते हैं, जैसे कतब-इ (मेरी किताब)। धातुएँ तीन व्यंजनों से बनती हैं, जैसे क्त्ब् (लिखना)। स्वर एक भी नहीं होता। रूप चलते हैं— नाक्तूब् (हम लिखते हैं)? कतबत् (उसने लिखा) आदि।

द्रविड़-परिवार में बारह भाषाएँ हैं—(१) तामिल, (२) मलयालम, (३) कनारी, (४) तुलु, (५) टोडा, (६) कोडगू, (७) कूई, (८) कुरुख, (६) गोंडी, (१०) कोलामी, (११) तैलगू, और (१२) ब्राहुई।

इस परिवार की भाषाओं की एक विशेषता है कि उत्तम-पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं, जिनमें से एक में श्रोता भी शामिल रहता है। बास्क भाषा स्पेन और फ्रांस की सीमा की बोली है। इसमें लिंग-भेद क्रियाओं में होता है और क्रिया वाक्य के अन्त में प्रयुक्त होती है। सुमेरिअन भाषा प्रत्यय-प्रधान है और यह बेबीलान में बोली जाती थी। इनकी श्रेष्ठ संस्कृति और सभ्यता का पता अब भी उनके सुरक्षित साहित्य के अवलोकन से लगता है।

अफ्रीक़ा-विभाग में चार मुख्य भाषा-परिवार हैं—(१) बाँतू, (२) हैमेटिक, (३) सैमेटिक, और (४) सूडान। इनमें सर्वाधिक महत्व के केवल हैमेटिक और सैमेटिक परिवार हैं। हैमेटिक परिवार की 'काप्टिक' भाषा में लिखा धार्मिक साहित्य अब भी महत्वपूर्ण है। सैमेटिक परिवार की प्रसिद्ध भाषा अरबी है, जो मिस्र, एल्जीअर्स, मोरोक्को, आदि देशों में राजकाज की भाषा है।

अमरीका-विभाग की भाषाओं में एस्किमो, मोदेरू, अज़्तेक, मय, कारिब, अरबाक, गुआर्नी-तूपी, अरौकन, चाको मुख्य हैं। इन भाषाओं का कोई विशेष अध्ययन नहीं हुआ है। अज़्तेक और मय सभ्यतायें बहुत प्राचीन हैं।

प्रशांत महासागर विभाग के परिवार में पाँच उप-परिवार माने जाते हैं।—(१) मलयन, (२) मैलानेशिअन, (३) पौलीनेशिअन, (४) पापुअन, और (५) ऑस्ट्रेलिअन। मलयन भाषायें मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्निओ, फिलिपाइन्स आदि द्वीपों में बोली जाती हैं। मैलानेशिअन न्यूगिनी और फ़ीज़ी द्वीपों में, पौलीनेशिअन न्यूज़ीलैण्ड में, और आस्ट्रेलिअन आस्ट्रेलिया महाद्वीप में बोली जाती हैं। इन भाषाओं में कोई साहित्य-सृष्टि नहीं हुई है और विद्वानों ने इनका कोई विशेष अध्ययन भी नहीं किया है। इतना बतलाकर हम कुछ भाषाओं की आकृतियों का संक्षेप में विवेचन कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि आदिम मानव ने सर्वप्रथम वाक्य का ही प्रयोग किया था, अतएव वाक्य ही भाषा का मूल है। संसार की भाषाओं में वाक्य का कैसा रूप है, उसकी कैसी रचना है, इसका भाषाविज्ञों ने अनुसन्धान किया है और अपने अनुसन्धान के बल पर वाक्यों के चार भेद बतलाये हैं—(१) समास-प्रधान (Incorporating), (२) व्यास-प्रधान (Isolating), (३) प्रत्यय-प्रधान (Agglutinating), और (४) विभक्ति-प्रधान (Inflecting)। समास-प्रधान वाक्य वह है, जिसमें उद्देश्य, विधेय, विशेषणादि सम्मिलित होकर समास के रूप में पूर्ण वाक्य बनाते हैं। ऐसे वाक्य पूर्ण शब्द के तुल्य प्रयुक्त होते हैं। जैसे मैक्सीकन भाषा में 'मैं उसे खाता हूँ' के लिए कहेंगे 'निक', जो एक पूर्ण वाक्य है।

व्यास-प्रधान वाक्य में शब्द स्वतंत्र रहते हैं। उद्देश्य, विधेय, विशेषणादि का पारस्परिक सम्बन्ध, स्वर (Tone), स्थान, निपात (Particle) आदि पर निर्भर होता है। चीनी, बर्मी भाषाएँ व्यास-प्रधान ही होती हैं। चीनी भाषा के केवल ५०० साहित्यिक शब्दों से लगभग १५०० शब्दों का निर्माण हो जाता है। उदाहरणार्थ 'न्गो ता नी' का अर्थ होता है, 'मैं तुम्हें मारता हूँ'। यदि इसको 'नी ता न्गो' कर दें, तो अर्थ होगा 'तुम मुझे मारते हो'। उच्चारण करने में 'क्चे इ क्वोक' में यदि 'इ' पर उदात्त (Acute) स्वर रहे, तो अर्थ होगा 'दुष्ट देश'। और यदि 'इ' पर अनुदात्त (Grave) स्वर रहे, तो अर्थ होगा 'श्रेष्ठ देश'।

प्रत्यय-प्रधान वाक्य में कारक, लिंग, वचनादि के भेद प्रत्ययों द्वारा बतलाये जाते हैं। तुर्की भाषा में 'एव' का अर्थ 'घर' है। बहुवचन के लिए 'लेर' जोड़ देने से अर्थ हो जायगा 'बहुत-से घर'। इसी में 'मेरा' अर्थवाला प्रत्यय जोड़ देने से हो जाता है 'एवलेरिम' (मेरे बहुत-से घर)।

विभक्ति-प्रधान वाक्य में शब्दों का सम्बन्ध विभक्तियों द्वारा सूचित किया जाता है। संस्कृत भाषा विभक्ति-प्रधान है। इसमें कारक, लिंगादि के भेद को प्रदर्शित करनेवाले प्रत्यय प्रकृति-शब्द से अलग नहीं किये जा सकते।

आदि काल में अधिकांश शब्द विस्मयादिबोधक और मूर्त पदार्थों के रहे होंगे। जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती गई, शब्दों में भी वृद्धि हुई और अमूर्त पदार्थों के लिए भी शब्द गढ़े गये।

# सभ्यता से परे की दुनिया

## दानाकील प्रदेश और उसके निवासी

**पृथ्वी पर निवास करनेवाली विविध मनुष्य-जातियों के जीवन-क्रम का अध्ययन करने की ओर क़दम बढ़ाते समय यह उचित ही है कि हम उन्हीं जातियों से शुरू करें जो विकास की बिल्कुल निम्न श्रेणी या तले पर हैं। अबीसीनिया के उपप्रदेश दानाकील के निवासी ऐसी ही एक जाति के लोग हैं।**

इस बीसवीं शताब्दी में भी दुनिया में ऐसे भूभाग वर्तमान हैं, जहाँ सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं पाया जाता। इन हिस्सों से तुलना करने पर रेगिस्तान भी 'विकसित' की श्रेणी में गिने जा सकेंगे। रेगिस्तान में भी कारवान के रास्ते मिलते हैं—और नहीं तो ऊँटों के पाँव की छाप तो बालू पर उगी रहती ही है, पर जिन हिस्सों की चर्चा हम करने जा रहे हैं, वहाँ इस निशान का भी पता नहीं चलता। यहाँ मनुष्य की कीर्ति अथवा उससे सम्बन्ध रखता हुआ कोई भी चिह्न कहीं नहीं दिखाई देता।

दानाकील प्रदेश दुनिया का एक विचित्र हिस्सा है। इस प्रदेश से हमारा मतलब इटालियन उपनिवेश एरित्रिया (या इरीट्रिया) के दानाकील से नहीं, जो लगभग ४० मील चौड़ा है और लाल सागर के किनारे-किनारे मसावा से लेकर असब तक बसा है। वास्तविक दानाकील प्रदेश उससे भिन्न है। इस प्रदेश की बाबत बाहरी दुनिया को अब तक बहुत कम पता है। यह हिस्सा सभ्य संसार से अब तक बिलकुल ही अछूता है। यहाँ के कितने ही भाग अब भी ऐसे हैं, जहाँ सभ्य संसार के किसी व्यक्ति ने आज तक पाँव नहीं रखा।

यह वास्तविक दानाकील प्रदेश एरित्रियन दानाकील से और भी पश्चिम अबीसीनिया की सीमा के भीतर है। इसका आकार टेढ़े-मेढ़े चौखूँट के क़िस्म का है। इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण तक लगभग चार सौ मील और चौड़ाई लगभग सवा सौ मील है। यात्रा करने की दृष्टि से यह संसार का सबसे अधिक ख़तरनाक हिस्सा है। अब तक बाहर के बहुत कम व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस दानाकील प्रदेश में प्रवेश किया है और जीवित वापस आ गये हैं।

इसकी सीमा तक ही बहुत कम आदमी पहुँच पाते हैं। सीमा के आस-पास कुछ निश्चित स्थान है, जहाँ तक सिर्फ़ अबीसीनियन लोगों की पहुँच है। यहाँ पर थोड़ी-बहुत नमक की तिजारत चलती है। इस सिलसिले में यदि कोई काम दानाकील की सीमा के भीतर पड़ता है, अथवा वहाँ से होकर जाने की ज़रूरत पड़ती है तो भी अबीसीनियन या किसी बाहरी व्यक्ति को इसकी सुविधाएँ नहीं मिलतीं। दनकाली (दानाकील प्रदेश के निवासी) स्वयं नमक के बोरे ढोकर अपनी सीमा के एक हिस्से से दूसरे तक पहुँचा दिया करते हैं।

इस दानाकील प्रदेश का दक्षिणी तथा बीच का हिस्सा ज्वालामुखी पहाड़ तथा पहाड़ियों से भरा है। इन पर्वतों का दृश्य बड़ा ही भयानक रहता है। समतल बालुकामय प्रदेश से ये भयानक पहाड़ सैकड़ों फ़ीट ऊँचे बर्छे की नोक की तरह सीधे खड़े हो जाते हैं। हाड़-हाड़ निकले, दुबले-पतले, लंबे, काले, नंग-धड़ंग शक्ल के होने के कारण इन्हें देखकर ही डर लगता है। पगडंडियों से चलते समय ये पहाड़ दोनों किनारे 'ऐटेन्शन' की हालत में खड़े संतरियों-से पहरा देते हुए दिखाई देते हैं। इनकी नुकीली चोटियाँ राक्षसों के दाँत-सा विकराल रूप धारण किये सदा काट खाने के लिए तैयार खड़ी दीखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों अपनी लम्बी निद्रा से ये किसी भी क्षण जाग जा सकते हैं और अपने चारों तरफ़ बहुत दूर तक सत्यानाश फैला दे सकते हैं! इन पर्वतों को पार करते समय मालूम

दानाकील प्रदेश

यह अखाड़ा बन गया है! विजय अवश्य ही ध्वंस-शक्ति की हुई होगी इसमें संदेह नहीं।

चलते समय पाँवों तले स्लेट-जैसे दीखनेवाले पत्थर मिलते हैं, जिन पर पाँव रखते ही 'खन··· खन······' की आवाज़ होती है। इन पर चलते समय टट्टू और ऊँट तक तलमलाने लगते हैं। कितनों की तो इस रास्ते के पार करने ही में मौत हो जाती है!

इस दानाकील प्रदेश में हम ज्यों-ज्यों उत्तर की ओर बढ़ते जायँ, त्यों-त्यों रास्ता अधिकाधिक भयंकर होता जाता है। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर और भी भयानक दीखता है। सबसे बड़ी मुसीबत यह होती है कि इस रेगिस्तानी इलाक़े में पानी की बड़ी क़िल्लत रहती है। कई स्थान यहाँ ऐसे हैं, जहाँ ऊँट पर सात-सात दिन का रास्ता पार करने पर पानी मिलता है!

धूप और गरमी का तो कुछ कहना ही नहीं। इसकी तुलना में तो जेठ-बैसाख में लखनऊ की लू के दिन सर्दी की मौसिम में गिने जायँगे! तापमान का पारा दिन में साये में मापने पर १३० और १६० डिग्री (फारेनहाइट) के बीच निकलता है!!

इसी धूप के कारण यहाँ कुछ भी उपजता नहीं है। एक भी हरे पत्ते का कहीं नामोनिशान नहीं दिखाई देता है। पौधों की शक्ल के बबूल जैसे काँटोंवाले सूखे ठूँठे दरख्त यदि कहीं-कहीं मिलते भी हैं तो काटने से उनके मर्मस्थल तक सूखा हुआ ही मिलता है। शायद ग़ुस्से में आकर प्रकृति ने इस प्रदेश की सृष्टि की थी!

खेती करने का एक तो प्रश्न ही बहुत सीमित रूप में इस प्रदेश के लिए उठता है, दूसरी बात यह है कि यहाँ के

पड़ता है, मानो पाँवों के नीचे की धरती काँप रही हो। अँधेरे की तो बात ही दूर रही—दिन-दोपहर को ही इस प्रदेश में भय लगता है!

जहाँ तक दृष्टि जाती है हरियाली का कहीं भी नामोनिशान नहीं। जीव-जन्तु का पता नहीं। आकाश में एक पक्षी तक नहीं। शायद वे कभी भूलते-भटकते इधर उड़कर आते भी होंगे, तो नुकीले पत्थरों पर से पाँव फिसल जाने के भय से यहाँ विश्राम न ले आगे उड़ते चले जाते होंगे।

थोड़ा आगे बढ़ने पर दृश्य और भी भयानक बन जाता है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक राख के रंग की भूमि कहीं घुटने, कहीं कमर, कहीं मनुष्य के और कहीं-कहीं हाथियों के पोरसा भर कुरेदी हुई दीखती है। आदमियों में वैसी ताक़त नहीं कि वे ज्वालामुखी के पत्थरों को इस भाँति कुरेद सकते। शायद स्वयं प्रकृति की ही ध्वंस-शक्ति के साथ कभी कुश्ती हुई थी और उसी के चिह्नस्वरूप

लोग भी इस कला से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। इसे देखकर सबसे पहली बात कल्पना में यही आती है कि यहाँ भूत भी आकर शायद भूखा-प्यासा ही मर जायगा!

फिर भी यहाँ पर कुछ लोग रहते हैं। इस प्रदेश के ख़ाके को देखकर ही यह अनुमान लगा सकना कठिन नहीं होगा कि जो प्राकृतिक ध्वंसशक्ति के इतने कोप का सामना करते हुए यहाँ टिकने की हिम्मत करते हैं वे कितने भयानक लोग होते होंगे! ऐसे लोग सिवा दनकालियों के और दूसरे कोई हो भी नहीं सकते।

ये दनकाली भी विचित्र जीव होते हैं! पहली बार इन पर निगाह पड़ने पर तुरंत ही इन्हें आदमी की गिनती में शुमार कर लेना कठिन होता है! इनके अंग सूखकर काँटे हुए रहते हैं। बिना किसी प्रकार की भूल की आशंका किये इनकी देह के प्रत्येक अंग की हड्डियाँ गिन ली जा सकती हैं। कम उम्रवालों के चमड़ों में भी सिकुड़न आ जाती है और किसी-किसी के तो झूलने तक लग जाते हैं।

इनके अंग पर प्रायः वस्त्र का एक चिथड़ा भी नहीं रहता। हड्डी, दाँत, सितुहे और कौड़ियों में छेदकर सूखी लताओं से उन्हें गूँथकर अपने कमर में पहने रहते हैं। इसीसे जितनी दूर तक लज्जा-निवारण होने का अनुमान किया जा सकता है, उनका हुआ करता है! इसी प्रकार की मालाएँ उनके गले में भी झूला करती हैं। इनकी तुलना साक्षात् भूतों से की जा सकती है, इसीलिए इन्हें देखकर भयभीत होना स्वाभाविक ही है।

प्रकृति के कठोरतम आघात सहते-सहते इनके चेहरे अत्यन्त निष्ठुर बन जाते हैं 'दया' अथवा 'कोमल हृदय' नाम की कोई चीज़ इनके भीतर पाया जाना आश्चर्य की बात होगी। ये भूख और दरिद्रता के मारे वास्तव ही ख़ूँख़ार बन जाते हैं।

दनकालियों के स्थायी घर-द्वार कहीं भी नहीं होते। स्थायी तरीक़े से टिकने के लिए ये कहीं-कहीं पत्थर-मिट्टी जोड़कर कमर भर ऊँची वीरान दिखनेवाली दीवारें उठा लेते

**दनकाली स्त्रियाँ**

ये प्रायः अर्द्धनग्न ही रहती हैं, पर इस चित्र में खाल पहने हुए हैं। पीछे क्षितिज तक फैला लंबा-चौड़ा वृक्षहीन रेगिस्तान दिखाई दे रहा है। [ फ़ोटो—लेखक द्वारा। ]

**जानवरों की खाल पहने कापालिक-जैसा एक दनकाली पुरुष**
अधिकतर ये अर्द्धनग्न ही रहते हैं। [ फ़ोटो—लेखक द्वारा ]

लिए सम्पत्ति हैं। इन्हीं चुगने के दाने और अपने जानवरों के लिए घास की तलाश में ये दनकाली सदा घूमते रहते हैं और मौक़ा मिलने पर उपजाऊ इलाक़ों पर धावा बोल दिया करते हैं।

दनकाली आपस में भी कई जातियों में बँटे रहते हैं। इन जातियों की भी आपस में एक-दूसरे से हमेशा लड़ाई चलती है। इन्हीं लड़ाइयों में इनकी सारी शक्ति ख़र्च होती है और उसी के कारण ये कमज़ोर भी बने रहते हैं।

जो इनके इलाक़े का न हो ऐसे प्रत्येक आदमी को वे अपना शत्रु समझते हैं। बाहरी लोगों की तो बात ही दूर हैं, नहीं तो साधारणतया हमेशा अपने रेगिस्तानी इलाक़े में ही इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। ये अपना निर्वाह आस-पास के इलाक़ों में लूटमार मचाकर या अपने प्रदेश से गुज़रनेवाले लोगों को लूटपाटकर चलाया करते हैं। जो इनमें धनी होते हैं, उनके पास किसी कारवान या 'गाला' ( अबीसीनिया की एक और जाति ) से लूटकर लाया गया एक-आध ऊँट या टट्टू रहता है। पर ये जानवर भी दनकालियों की ही तरह के और उनकी ही हालत में रहते हैं। इनके जीवन की मियाद भी लम्बी नहीं हुआ करती।

जो दाने भारतवर्ष में जानवरों को दिये जाते हैं, उनकी एक मुट्ठी भी किसी दनकाली को रोज़ाना मिल जाती है, तो वह अपने को बड़ा भाग्यशाली मानता है। उन दानों से रोटी पका लेने का भी ज्ञान इन्हें नहीं होता। ये दानों को बायें हाथ में ले दायें हाथ से एक-एक दाना उठा पक्षियों की तरह चुगते हैं। जो दाने हम अपने यहाँ मुर्ग़ियों को देते हैं और जिन्हें यहाँ का कोई भी आदमी अपने खाने योग्य नहीं मानता वे ही दाने दनकालियों के देश के

रही, वे आपस की भिन्न जातियों को भी अपने इलाक़े में नहीं घुसने देते। एक-एक जाति का दायरा साधारणतया पानी पाये जानेवाले तीन चार इलाक़ों के घेरे में रहता है। इनकी आपस की लड़ाइयाँ पानी पाये जानेवाले स्थानों पर क़ब्ज़ा करने के लिए हुआ करती हैं। इन लड़ाइयों में एक गाँव का दूसरे गाँव के साथ, अथवा यदि पानी की और भी क़िल्लत हुई तो कई गाँवों का दूसरे गाँवों के गुट्ट के साथ, युद्ध हुआ करता है, जिसमें बहुतेरे आदमी मारे जाते हैं।

भूख और दरिद्रता से विवश हो जो कुछ भी इनकी आँखों के सामने आता है, उसे ये लूट लेने के लिए विवश होते हैं। जिन चीज़ों के लिए हमारे देश में कुत्ते भी नहीं झगड़ेंगे, उनके लिए ही दनकालियों के देश में आदमियों की जान चली जाती है! उपभोग की सामान्य से भी सामान्य वस्तुओं के लिए दनकाली लालायित रहते हैं। कितनी बार तो ये किसी अरब से उसकी बिना चीनी की काफ़ी का एक प्याला छीन लेने के लिए ही उसको जान से

मार डालते हैं ! पर ज़्यादातर ये पानी, दाने और घास की ही फ़िराक़ में रहते हैं। उसी पर और उसी के लिए ये जीते हैं, इसीलिए इन चीज़ों के लिए ही इनकी अधिकतर लड़ाइयाँ होती हैं।

आदमी को नुकीले पत्थर या बर्छे से मार डालना इस प्रदेश में कोई अपराध नहीं। उल्टे दनकालियों के बीच यह बहुत बड़ी इज़्ज़त की बात समझी जाती है। वे गले में जो तावीज़ पहनते हैं, उसमें अक्सर उनके द्वारा मारे गये आदमियों के अंग से काट ली गई निशानी रहती है। प्रत्येक हत्या की एक-एक निशानी रहती है। दनकालियों के लिए यह निशानी बहुत कुछ 'इज़्ज़त का तमग़ा' सा है।

युवा दनकाली हमेशा इस प्रकार के तमग़ों की फ़िराक़ में रहते हैं। यदि उन्हें कोई अजनबी भटकता हुआ मिल जाता है, तो वे उसे पानी का स्थान दिखाने के बहाने भटका देते हैं। वास्तव में वे उसे रेगिस्तान में हैरान करते हैं और पानी के स्थान से दूर लेते चले जाते हैं। आदमी जब थककर बेहोश होने लगता है, तब वे उसे मार डालते हैं और उसके अंग का एक विशेष हिस्सा काटकर उसका तावीज़ बना पहन लेते हैं !

दानाकील प्रदेश और वहाँ के लोगों के इस वर्णन से अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि ये दुनिया के और हिस्सों से बिल्कुल ही भिन्न हैं। सभ्य संसार से इनका किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं है। सदियों से ये ऊपर वर्णन किये गये देश में और अपने निजी ढंग से रहते चले आ रहे हैं। न तो उनकी कोई ख़बर कभी दुनिया के पास पहुँच पाती है और न कभी दुनिया की ही कोई ख़बर उनके पास तक पहुँचती है।

अबीसीनिया के बहुत-से हिस्सों पर दख़ल हो जाने पर भी दनकालियों के प्रदेश पर अब तक इटालियन लोगों का आधिपत्य नहीं जमा है। इटालियनों का अबीसीनिया पर हमला हुआ है, यही बात अब तक दनकालियों की बहुत कम जातियों के कानों तक पहुँच पाई है। जिन लोगों ने सुना है वे भी उसका कोई मतलब नहीं निकाल सके हैं। जितना उन्होंने समझा है वह यही है कि उनकी ही तरह और भी दो जातियाँ लड़ रही हैं, पर उसमें उनके लिए कोई विशेषता नहीं। उन्हें यही सुनकर आश्चर्य हुआ है कि दो जातियों ने कुछ अरसे तक लड़ना बन्द कर दिया था ! वे इस अनहोनी बात पर विश्वास ही जमा पाने में असमर्थ हैं।

दनकालियों में जो सबसे अधिक बूढ़े हैं और जो बहुत-से इलाक़ों में 'होशियार' गिने जाते हैं, उन्होंने इटालियन आक्रमण का सबसे अधिक समझदारी का अर्थ लगाया है। उन्हें याद है कि अपनी जवानी में उन्होंने कई 'फिरंगियों' को मार डाला था, अब उनकी बुद्धि के अनुसार उन्हीं फिरंगियों के जात-भाई बदला लेने के लिए आये हैं। इससे अधिक दूर तक सारे दानाकील प्रदेश में किसी भी व्यक्ति की अक़्ल या उसकी अनुमान करने की शक्ति का पहुँच पाना असम्भव है।

इस उदाहरण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि सभ्य जगत् से दनकाली और उनका प्रदेश कितना दूर है ! लेकिन एक बात और इस सिलसिले में स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है। बहुत-से लोगों की यह धारणा रहती है कि जो समाज जितनी दूर तक सभ्य होने का दावा रखता उसमें चालाकी और धूर्तता की मात्रा भी उतनी ही अधिक रहती है। इसी विचार के आधार पर इस धारणा के पोषक यह भी अंदाज़ लगाते हैं कि जो समाज सभ्यता से जितनी ही दूर रहेगा, उसमें धूर्तता और चालाकी की मात्रा उतनी ही कम होगी। आइए, इस कसौटी पर हम एक बार दनकाली लोगों को कसकर देखें।

लड़ाई में ही इनका समय सबसे अधिक ख़र्च होता है और यही इनके जीवन की मुख्य समस्या रहती है इसलिए उनके मानसिक क्षेत्र की हलचल की हम इसी क्षेत्र में जाँच करें तो इस विषय में सही नतीजे पर पहुँचने की अधिक संभावना रहेगी।

अपने शत्रुओं से लड़ते समय दनकालियों की लड़ाई में यह नीति रहती है कि जिस समय शत्रु बीच रेगिस्तान में पानी के स्थान से अधिक दूर रहता है, उसी समय वे उस पर हमला करते हैं। इसमें इन्हें सहूलियत होती है। और कुछ नहीं तो इन्होंने यदि शत्रु का पानी से भरा हुआ मशक ही छीन लिया या नष्ट कर दिया तो फिर उसके लिए पानी बिना छटपटाकर मर जाने के सिवा दूसरा चारा नहीं रह जाता। इसी आसानी के ख़याल से दनकाली कल, बल, छल तीनों ही प्रकार से अपने शत्रु को बीच रेगिस्तान में खींच लाने की कोशिश करते हैं। ये दिन में बजाय आक्रमण करने के पीछे हटते जाते हैं और रात होने पर छिपकर हमला कर देते हैं।

यदि इनके प्रतिद्वंद्वी भी दनकाली ही हुए तो वे एक ख़ास तरह की चालाकी से काम लेते हैं। इनके लिए सब से ज़रूरी रहता है अपने शत्रुओं का पता लगाते हुए आगे बढ़ना, जिसमें अनजान में घेर लिए जाने के ख़तरे से ये

बचते जा सकें। ऐसे मौक़ों पर ये नक़ल करते हुए ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर कहते हैं:—

'हम बड़े ही बेवक़ूफ़ हैं कि इतनी दूर बढ़ते चले आए। अब हमारे पास एक बूँद भी पानी नहीं बचा? हमारे ऊँट मर गये। हम अब एक क़दम भी नहीं चल सकते। अब मौत! हाय मौत!'

ये रोने का बहाना करते हैं, जिसमें इनकी इस मज़बूती की ही हालत में इन्हें कमज़ोर समझकर छिपे हुए शत्रु शीघ्र हमला कर दें और उनके आक्रमण से ये अपने को आसानी से बचा ले सकें। कभी-कभी ये जिस इलाक़े में होते हैं, उनके मित्र जाति के होने का ऐसे मौक़ों पर बहाना करते हैं जिसमें छिपे हुए शत्रु उन्हें मारने न आवें।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे साबित होता है कि हम जिसे साधारणतया सभ्यता कहते हैं उससे दूर रहते हुए भी दनकालियों में धूर्तता और चालाकी कम नहीं; वे कम मिथ्यावादी नहीं। चालाकी से किसी को रेगिस्तान में बहकाकर ले जाने और वहाँ पर उसका सामान लूट लेने तथा अंधेरे में उसकी जान ले लेने की कला ये भलीभाँति जानते हैं।

कम से कम दनकालियों का उदाहरण देखते हुए हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि सभ्यता से दूर रहने का मतलब धूर्तता या चालाकी से दूर रहना नहीं हुआ करता। इन विशेषताओं का ख़ास कारण रोटी का सवाल दीखता है। यह सवाल हल करना जिस समाज के लिए जितना ही कठिन होता है वह उतनी ही दूर तक अपनी परिस्थिति विशेष के हिसाब से मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का उपयोग करता है।

मानसिक क्षेत्र में दनकाली अधिक विकसित नहीं हैं, इसीलिए भोजन की समस्या हल करते समय ठीक पशुओं के समान ख़ूँख़ार बन जाते हैं। इसी आधार पर हम इनकी गिनती सभ्य संसार से सबसे अधिक दूर रहनेवालों में करने का साहस करते हैं।

**दनकालियों का एक गिरोह**

इस चित्र में दनकाली स्त्री-पुरुष ख़रीद-फ़रोख़्त कर रहे हैं। यही उनका बाज़ार है! बीच में इस लेख के लेखक डा० शास्त्री खड़े हैं, जो पिछले अबीसीनिया युद्ध में युद्ध-संवाददाता के रूप में अबीसीनिया में महीनों रह चुके हैं और दानाकील जैसे भयंकर प्रदेश की भी सैर कर चुके हैं! [ फ़ोटो—लेखक द्वारा ]

# वर्त्तमान भारत की आदिम जातियों के जीवन की एक झलक

**इस लेख में भारत की उन जातियों की वर्त्तमान अवस्था का सामान्य रूप से दिग्दर्शन कराया गया है जो यहाँ सभ्यता की सबसे निचली श्रेणी में हैं। सुसंस्कृत जातियों के बारे में आगे लिखा जायगा।**

भारतवर्ष में अनेकों नस्ल (races) के लोग रहते हैं, जिनके स्वच्छन्दतापूर्वक मिलने से कई मिश्रित प्रकार की नस्लें बन गयी हैं। इन नस्लों पर जो अनेक प्रभाव पड़े हैं, उनके निश्चित करने में कुछ अंशों में यहाँ की जलवायु का भी हाथ रहा है। उदाहरण के लिए, अगर हम उत्तरी नदियों की घाटीवाले भाग, जो 'गंगा और सिन्धु का मैदान' (Indo-Gangetic Plain) कहलाता है, मध्यवर्ती पठार और दक्षिण के वन्य और पहाड़ी प्रदेशों के निवासियों का आपस में मिलान करें, तो इनमें बड़ी विभिन्नता पायेंगे। इन भौगोलिक क्षेत्रों में प्रत्येक की खाद्य सामग्री विशिष्ट प्रकार की है। दक्षिण के पठार में खाद्य पदार्थ की मुख्य वस्तु बाजरा है, पंजाब के मुख्य अनाज गेहूँ और जौ हैं, और गंगा की नम और गर्म घाटी के लोगों का मुख्य आहार चावल है। भारतवर्ष में मनुष्य को जलवायु-सम्बन्धी कई प्रकार की परिस्थितियों में रहना पड़ता है। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ चिरकाल से मनुष्य को बाहरी संसार से अलग-सा उन्हीं प्रदेशों में बन्द होकर रहना पड़ा है, जिनको लाँघकर बाहर जाना उसके लिए सरल न था। दूसरे कुछ क्षेत्रों में वह लगातार की छेड़छाड़ से तंग होता रहा और बाहरी प्रभाव तथा विदेशियों के सम्पर्क में आता रहा। बाहरी जगत् के प्रभावों से मुक्त एक समुचित दायरे में घिरे होने या लगातार बाहरी सम्पर्क में आने की परिस्थितियों ने न सिर्फ़ हमारे देश की नस्लों की विभिन्नता को ही जन्म दिया है, बल्कि इसका प्रभाव उस सांस्कृतिक विविधता पर भी कम नहीं पड़ा है जो कि भारतवर्ष में इतने स्पष्ट रूप में देखने में आती है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भारतवर्ष दो मुख्य समूहों अथवा श्रेणियों 'जन' (Tribe)* और 'जाति' (Caste) में बँटा हुआ है। 'जन' श्रेणी की अवस्था 'जाति' की अपेक्षा निचले दर्जे के सांस्कृतिक विकास को सूचित करती है और धीरे-धीरे 'जाति' की अवस्था उसका स्थान लेती जा रही है। प्रायः सभी आदिम लोगों के संगठन का आधार 'जन' (Tribe) है। प्रत्येक 'जन' बहुत-से क़बीलों (Clans) में बँटा हुआ होता है। इन क़बीलों का नाम प्रायः किसी जन्तु, वृक्ष या अन्य किसी पदार्थ के नाम पर रखा हुआ होता है, और कभी-कभी जिस जगह कोई 'जन' (Tribe) रहता है, उसी जगह के नाम से ही उसे पुकारा जाता है। क़बीले में विवाह वर्जित है; क़बीले के लोग क़बीले के अन्दर ही शादी न करके क़बीले के बाहर शादी करते हैं। इसके विपरीत 'जन' वर्ग में उसकी सीमा के भीतर ही विवाह प्रचलित हैं, जन से बाहर विवाह करना वर्जित है। इस प्रकार विवाह-संस्कार जन के भीतर सीमित रखा जाता है। ज्यों-ज्यों ये जन वर्ण-व्यवस्था द्वारा निर्धारित जातियों के सम्पर्क में आते जाते हैं, त्यों-त्यों वे अपने रस्म-रिवाजों को छोड़कर

* 'जन' से मानव-समुदाय की उस आरंभिक अवस्था का बोध होता है जबकि समाज में श्रम-विभाग का इस सीमा तक विस्तार नहीं हो पाता कि आर्थिक और सांस्कृतिक आधार पर 'जाति' बन सके। भाषा की सुविधा की दृष्टि से इस लेख में आगे चल कर आदिम 'जनों' के स्थान पर कहीं-कहीं आदिम 'जातियों' का भी प्रयोग हुआ है। हमें आशा है पाठक 'जन' और 'जाति' के इस भेद का ध्यान रखेंगे।—सम्पादक।

कोरवा जाति के लोग
[ फ़ोटो—रिज़ले की 'पीपल्स ऑफ़ इण्डिया' से ]

अनुसार भारतवर्ष की आदिम जातियों की संख्या में पहले से वृद्धि हुई है। १९२१ में जहाँ इनकी तादाद १ करोड़ ६० लाख थी, वहाँ १९३१ में वह २ करोड़ ५० लाख हो गयी है। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि आदिम जातियों की संख्या वास्तव में ही हर स्थान पर बढ़ी है। देश के सभी भागों की अवस्था उनकी वृद्धि के लिए अनुकूल नहीं है, अतएव जहाँ कुछ जातियों की आबादी बढ़ी है, वहाँ बहुत-सी जातियों की जन-संख्या घट भी गयी है अथवा

अपने पड़ोसियों के रस्म-रिवाजों को अपनाते जाते हैं। धीरे-धीरे अज्ञात रूप से 'जनों' का जाति-समुदाय में घुल-मिल जाना बहुत प्रारम्भिक काल से चला आता है।

भारतवर्ष में 'जन' की अवस्था में रहनेवालों की संख्या १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार २ करोड़ ५० लाख है। मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में ये लोग 'आदिम जनों या जातियों' ( Primitive tribes ) के नाम से पुकारे गये हैं। इनमें २ करोड़ तो ब्रिटिश भारत के रहनेवाले हैं और शेष ५० लाख रियासतों की प्रजा हैं। किन्तु यह बात सही है कि पहाड़ियों और जंगलों में रहनेवाली इन आदिम जातियों की संख्या का ठीक-ठीक अन्दाज़ लगाना मुश्किल है और इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में दी हुई संख्या को एकदम अक्षरशः सत्य नहीं मान लेना चाहिए। ज्यों-ज्यों जंगली और ख़ानाबदोश जातियाँ स्थान-विशेष में बसती जाती हैं, और व्यवस्थित जीवन बिताने लगती हैं, त्यों-त्यों उनकी तादाद का सही अन्दाज़ा लगाना आसान होता जाता है। इस दृष्टि से १९३१ की मनुष्य-गणना इससे पहले की मनुष्य-गणनाओं की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। १९३१ की मनुष्य-गणना के उसकी प्रवृत्ति घटने की ओर है। कुछ जातियों की संख्या निस्सन्देह इस कारण घटी है कि उस जाति के लोगों ने ईसाई या किसी अन्य धर्म को स्वीकार कर लिया है, किन्तु 'जनों' के रूप में तो उनकी शक्ति पहले से बढ़ ही गयी है। बिहार में छोटा नागपुर के रहनेवाले मुण्डा ( Mundas ) लोगों की तादाद जो सन् १८९१ में ३,३३,४६४ थी, सन् १९३१ में बढ़कर ६,५८,४५४ हो गयी है। उसी प्रकार इसी प्रदेश में रहनेवाले हो (Hos), और संथाल (Santhals) लोगों की तादाद भी बढ़ी है। छोटा नागपुर की इन आदिम जातियों को बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त हैं। इनमें से कुछ तो एक प्रकार की ऐसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत रहते हैं, जिसमें उनकी रक्षा का प्रबन्ध किया जाता है, पर ज़्यादातर लोग अपने मुखियों के अप्रत्यक्ष शासन में हैं और बहुत-से ऐसे क़ानूनों की पाबन्दियों से बरी हैं जो कि उनके हित में घातक हैं।

देश के दूसरे भागों में विविध प्रकार से सभ्यता के सम्पर्क में आने का इन आदिम जातियों की जन-संख्या पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। नीलगिरि की पहाड़ियों में बसनेवाली टोडा जाति ( Todas ) की संख्या उत्तरोत्तर

घटती ही गई है। सन् १८९१ में जहाँ इनकी संख्या १,७०१ थी, वहाँ सन् १९०१ में ८०७, सन् १९११ में ७४८ और सन् १९३१ में ६४० ही रह गयी। बिहार और उड़ीसा के हिन्दू 'असुरों' (Asurs) की संख्या १९११ में ३,७१६ के स्थान पर १९३१ में २,०२४ ही रह गयी। मूल असुर जाति की तादाद, जो १९११ में ३,०९९ थी, १९३१ में घटकर सिर्फ़ ६३९ रह गयी। इसी प्रकार युक्तप्रान्त के कोरवों (Korwas) की संख्या १९०१ में ९०७ के स्थान पर १९३१ में ४९७ ही रह गयी। बिहार और उड़ीसा के हिन्दू कोरवों की संख्या भी सन् १९११ के ६,७६५ से घटकर १९२१ में १,४९२ और १९३१ में १,१२१ ही रह गयी। मध्यप्रान्त और बरार में उनकी तादाद १९११ में ८७६ की जगह १९३१ में ३८४ ही रह गयी। इससे यह स्पष्ट है कि अन्दमान द्वीप के आदिम निवासियों की तरह ये लोग भी कुछ दिनों बाद लुप्त हो जानेवाले हैं।

मद्रास के 'कोटो' (Kotas), ट्रावंकोर के हिन्दू 'मलायों' (Malaryans), मूल और हिन्दू 'मावलियों' ( Mavillians ), मद्रास इलाक़े के 'जतापू खोंधो' ( Jatapu Khondhs ) आदि आदिम जातियों की संख्या में भी ह्रास हुआ है। मध्यप्रान्त की रियासतों में रहनेवाले खोंध लोगों की संख्या १९०१ में ३३,१२४ थी, १९३१ में वह घटकर २६,१९२ रह गयी। मध्यप्रान्त और बरार के 'गोंड' **(Gonds)** लोगों की भी यही हालत है। आसाम के 'नागा' ( Nagas ), 'कूकी' ( Kuki ) 'लुशेई' (Lushei) और 'कोनयक' (Konyak) जातियों की संख्या भी लगातार घटती गयी है। कुछ आदिम जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें अभी वास्तविक ह्रास नहीं हुआ है, किन्तु उनकी भी वृद्धि रुक गयी है और संख्या घटने की ओर ही प्रवृत्ति हो रही है।

कोरवा लोग युक्तप्रान्त के मिर्ज़ापुर ज़िले के दूधी नामक पहाड़ी परगने में पाए जाते हैं। यह एक शक्तिशाली जाति थी, जिसकी आजकल बुरी हालत है। कोरवा लोग देखने में क़द के छोटे और बदन के चुस्त और गठीले होते हैं, इनके सीने गहरे और कंधे चौड़े होते हैं। ये बड़े फ़ुर्तीले होते हैं। ये लोग इस प्रान्त में सबसे आदिम निवासियों के प्रतिनिधि हैं। ये दरख़्तों की शाखों का एक गोल छप्पर-सा बनाकर रहते हैं। ये लोग जंगलों में ही रहते और अपनी खुरपियों से खाने योग्य कंद-मूल को ज़मीन में से खोद निकालते हैं। जंगली वृक्षों के फल और जंगली कंद-मूल ही इनका आहार हैं। पहाड़ियों में रहनेवाले कोरवा धनुष-बाण से भी काम लेते हैं, पर उनको शिकार का मौक़ा अब कम मिलता है। इसकी वजह यह है कि जंगली जानवर पहले की तरह स्वच्छन्द विचरण नहीं करते और उनकी तादाद भी बहुत कम हो चली है। इसके अलावा जंगल-क़ानून की पाबन्दियों के कारण इन लोगों के आर्थिक कार्य-क्षेत्र का दायरा सीमित हो गया है और आजकल उन्हें जंगल के कन्दमूल और पथरीली ज़मीन की हलकी पैदावार पर ही गुज़र करना पड़ता है। परिणाम-स्वरूप कोरवों की संख्या-वृद्धि पर भारी रोक लग गयी है। दूधी परगने के कुन्दपान (Kundpan) और विसरामपुर नामक स्थानों की कोरवों की बस्तियों में जाकर जाँच करने से पता चला है कि किस प्रकार इस जाति की संतानोत्पादन की गति एकदम रुक-सी गई है। जाँच के परिणामस्वरूप मालूम हुआ कि १९ फ़ी सदी विवाहित लोग ऐसे थे, जो निःसन्तान थे या जिनकी कोई भी सन्तान जीती न रही थी, और लगभग ३१.१ फ़ी सदी के सिर्फ़ एक ही बच्चा था, तथा बच्चों की ज़्यादा से ज़्यादा तादादवाले परिवार के भी अधिकाधिक ५ बच्चे थे।
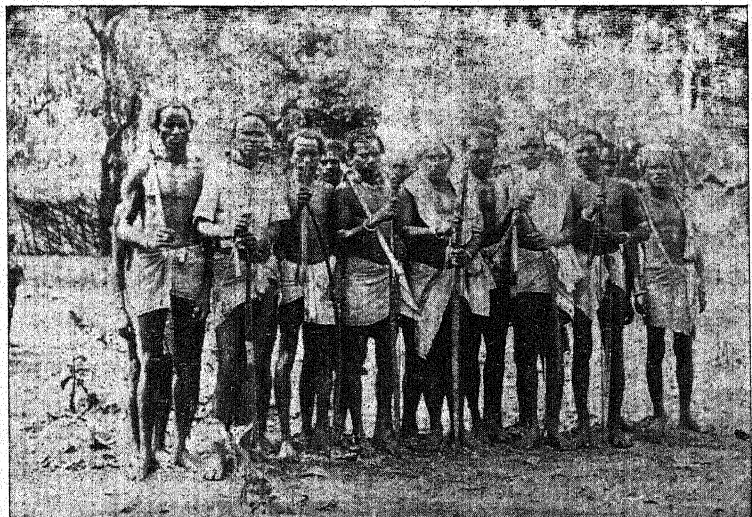
**मध्यप्रांत के माड़िया गोंड**

इस चित्र में सब पुरुष हैं। [ फ़ोटो—लेखक द्वारा ]

समाज-शास्त्रियों ने हाल में जो विस्तृत छान-बीन की है, उससे यह सिद्ध हो गया है कि आदिम जातियों में नैसर्गिक उर्वराशक्ति सभ्यता की उन्नतावस्था में रहनेवाले लोगों की अपेक्षा कम ही पायी जाती है। इससे जन-साधारण में प्रचलित इस विश्वास का खंडन होता है कि आदिम जातियों की संतानोत्पादक शक्ति अबाध ही नहीं बल्कि बहुत अधिक प्रबल होती है। परन्तु इस बात को स्वीकार कर लेना बड़ा कठिन है, क्योंकि जंगली जातियों में पैदाइश और मौत के जो आँकड़े मिलते हैं, वे अक्सर बड़े अधूरे होते हैं। तीन स्थानों में स्वयं मैंने जो जाँच की, उससे यही पता चला कि आदिम जातियों की सन्तानोत्पादन-शक्ति सभ्यता की उन्नतावस्था में रहनेवाली जातियों की अपेक्षा किसी प्रकार घटकर नहीं है। इन जातियों में प्रचलित भ्रूण-हत्या, गर्भपात और शिशुओं की उचित देख-रेख के अभाव के कारण बहुत-सी जातियों की संतान-वृद्धि में कड़ी रुकावट ज़रूर पड़ गयी है, पर जिन जगहों पर पैदाइश और मौत के आँकड़े ठीक-ठीक संग्रह किए गए हैं, उन्हें देखने से हमें यही पता चलता है कि सन्तानोत्पादन में ये जातियाँ उन्नत जातियों से पिछड़ी नहीं हैं।

यदि आदिम जातियों के ह्रास का कारण उन्नत जातियों की अपेक्षा उनमें सन्तानोत्पादन-शक्ति का कम मात्रा में होना नहीं है तो फिर आइए देखें कि इस सम्बन्ध में उन जातियों में स्त्री-पुरुषों के अनुपात, तथा जीनेवाले और जल्द मर जानेवाले बालकों के सम्बन्ध के आँकड़े हमारे सामने दूसरा कौन-सा प्रमाण रखते हैं। आदिम जातियों में पुरुष की संख्या ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण-जातियों के अनुपात में कम ही पायी जाती है। किसी जनसंख्या में औरतों के मुक़ाबले में मर्दों का ज़्यादा होना कमज़ोरी का चिह्न समझा जाता है, अतः इस कसौटी पर कसने पर आदिम जातियों पर इस संबंध में अयोग्यता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। आदिम जातियों में विभिन्न आयु की मृत्यु के जो आँकड़े मिलते हैं, वे विश्वसनीय नहीं हैं। इन आँकड़ों के भरोसे सही नतीजे पर नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु विशेष स्थानों में खोज करने से यह अद्भुत बात प्रकाश में आई है कि आदिम जातियों के गिरोहों में वृद्ध पुरुष शायद ही मिलते हैं! आदिम जातियों की अपेक्षा आजकल के हिन्दू और मुसलमानों में ४४ वर्ष के तथा इससे अधिक उम्र के आदमियों की औसत ज़्यादा होगी। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की कुल जनसंख्या में पाँच वर्ष के अन्दर की उम्र के १५ प्रतिशत लोग रहते हैं, परन्तु आदिम जातियों में ऐसे २० प्रतिशत व्यक्ति पाये जाते हैं। अतः यह अनुमान करना शायद सही होगा कि आदिम जातियाँ उन्नत जातियों की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति तो अधिक करती हैं पर आत्मरक्षा के उचित साधनों के अभाव में वे अपनी ठीक-ठीक रक्षा नहीं कर पातीं, और चूँकि भौतिक तथा सामाजिक वातावरण से संघर्ष करते हुए अपने को उसके अनुकूल बनाने के उपकरण वे नहीं ढूँढ़ पायी हैं, इसलिए उन्नत जातियों की अपेक्षा वे कम दिन ही जी पाती हैं।

मध्य प्रान्त और बरार के 'गोंड' लोग, जिनकी भी संख्या अब कम होती जा रही है, एक बड़ी दिलचस्प जाति है। ये गोंड सभ्यता और संस्कृति के अनेक रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इतिहास में इस प्रदेश में उनके राजनीतिक प्रभाव का भी उल्लेख पाया जाता है। बस्तर (मध्य प्रान्त) के 'माड़िया' (Maria) नामक गोंड, जो उक्त प्रदेश की सबसे जंगली जाति है, अब भी घने जंगलों में राज्य की ओर से बिना किसी रोक-टोक या छेड़छाड़ के अपना आहार खोजते हुए विचरते हैं। राज्य के सामाजिक और आर्थिक संगठन में अभी तक उनका प्रवेश नहीं हुआ है। इन गोंडों में से कुछ लोगों ने, जो घूम-घामकर मैदानों में चले आये हैं और स्थायी या अर्द्धस्थायी रूप से कृषकों का जीवन व्यतीत करते हैं, अपने पड़ोसी हिन्दुओं की आदतों और प्रथाओं का अनुकरण कर लिया है और वे अब 'डंडामी माड़िया' (Dandami Maria) के नाम से पुकारे जाते हैं। माड़िया लोग कमर में गुरियों की करधनी के अलावा अपने शरीर पर नहीं के बराबर कपड़े पहनते हैं। पुरुष अपने गुप्तांगों को छिपाने भर के लिए एक कपड़े का टुकड़ा पहनकर प्रायः नंगे ही घूमा करते हैं। परन्तु उनके शरीर के अंगों की सुन्दर सुडौल गठन का सामञ्जस्य तथा उनका प्रसन्न बदन उनके नंगेपन से उत्पन्न जुगुप्सा को दूर कर देते हैं। स्त्रियाँ किनारीदार या बिना किनारी का कपड़ा कमर में लपेटती हैं, परन्तु कमर से ऊपर के हिस्से को नहीं ढँकतीं। इन लोगों की गर्दन में गुरियों की कई मालाएँ तथा धातुओं के हार रहते हैं, जिनमें से अधिकतर जहाँ वे रहते हैं उसी जगह के बने होते हैं, या सप्ताह में लगनेवाले बाज़ार से ख़रीदे जाते हैं। आज भी ये लोग अपनी ही जाति के लोगों को मार डालने के लिए बदनाम हैं। माड़िया प्रदेश में ज़रा-ज़रा-सी बात पर हो जानेवाली हत्याओं ने इन्हें काफ़ी बदनाम कर रक्खा है। इन हत्याओं तथा उनके मन्त्र-तन्त्र एवं धर्म-सम्बन्धी विश्वासों और प्रथाओं में कोई सम्बन्ध है या नहीं यह अभी निश्चित

नहीं हो सका है। लेकिन बलिदान किए गए नर-पशु के शव का उपभोग करने के उनके तरीक़े तथा पास-पड़ौस में इस संबंध में प्रचलित किंवदंतियों से यह पता चलता है कि उनकी जाति-हत्या की प्रवृत्ति एवं इस विश्वास में कि खेती की उपज या शिकार की सफलता के लिए बलिदान किये गये मनुष्य का सिर और उससे निकलनेवाले ख़ून का बड़ा महत्व है, कोई सम्बन्ध ज़रूर है। उनकी खेती एक जगह से दूसरी जगह बदलती रहती है। वे जंगल के पेड़ों को काटते हैं और उनको जलाने से जो राख बनती है, उस पर बीज बोते हैं। अनन्तर वे बलिदान देते हैं, अपने नाच नाचते हैं और भारी उपज होने की प्रतीक्षा करते हैं। किन्हीं-किन्हीं वर्षों में उनकी उपज दुगनी या पँचगुनी होती है। पर किन्हीं-किन्हीं वर्षों में कुछ भी नहीं होता, ऐसी दशा में वे अपने को तथा अपने देवताओं को बुरा-भला कहकर कोसते हैं। मालूम होता है इस शक्तिशाली जाति के बुरे दिन आ गये हैं, और सम्भव है कि जल्दी ही यह एकदम लुप्त हो जाय।

आज दिन आदिम जातियों की आबादी में जो कमी हो रही है, उसका कारण उनके सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में होनेवाले वे महान् परिवर्तन हैं, जो सभ्यता के संस्पर्श में आने से हो रहे हैं। स्थानाभाव के कारण इस छोटे से लेख में आदिम जातियों की असुविधाओं के कारणों का विस्तृत वर्णन नहीं किया जा सकता, लेकिन यह जान लेना चाहिए कि भारतवर्ष की कई आदिम जातियों के जीवन-मरण का संघर्ष स्वयं उन्हीं से पैदा हुआ है। इसी कारण उनका नैतिक पतन हो चला है, और इसका प्रभाव उनके जातीय जीवन के लिए घातक सिद्ध हुआ है। उन्हें जीने या मरने की परवाह नहीं रहती। वे मृत्यु के वातावरण में रहते हैं। वे ज़िन्दगी को जकड़कर पकड़े नहीं रहते और मृत्यु का भय उनके लिए एक शारीरिक भय मात्र रह गया है। यदि कोई कोरवा या गोंड तनिक भी किसी घातक रोग से पीड़ित हो जाय, तो वह शायद ही अपनी ज़िन्दगी बचाने के लिए कोई प्रयत्न करेगा!

आदिम जातियों की जितनी ज़्यादा पैदाइश होती है उतनी ही ज़्यादा मौत होने के कारण जाति की वृद्धि के बहुत कम अवसर रहते हैं। सामाजिक विघटन और नैतिक पतन का स्त्रियों की सन्तानोत्पादन-शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अन्दाज़ लगाना कठिन है, लेकिन इतना निश्चय है कि बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों ने निराशा का एक वातावरण पैदा कर दिया है और आदिम जातियों में जीवन के प्रति एक उदासीनता छा गयी है। यह उदा-
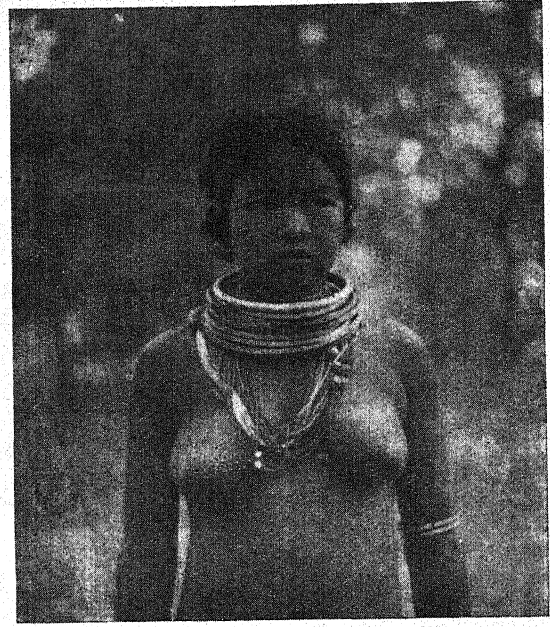
**माड़िया गोंड जाति की स्त्री** (फ़ोटो— लेखक द्वारा)

सीनता, जो जीवन के साथ ठीक-ठीक सामञ्जस्य न बैठा सकने के ही परिणाम-स्वरूप पैदा हो गई है, दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। बच्चों की देख-रेख के सम्बन्ध में इनकी उपेक्षा से भी इसी उदासीनता का भाव टपकता है, और उनमें पायी जानेवाली विरक्ति की भावना भी, जिसका कि और कोई कारण नहीं जान पड़ता, इसी का परिणाम है।

आदिम जातियाँ भारतवर्ष की कुल जनसंख्या का लगभग ८ प्रतिशत भाग हैं। अगर सावधानतापूर्वक इनकी देख-रेख की जाय तो आज भी ये हट्टे-कट्टे और तगड़े लोग अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल बना सकते हैं। क्या यह भारतवर्ष के हित में नहीं है कि अपने अस्तित्व को बनाए रखने और अपने को धीरे-धीरे बदलते हुए आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल बनाने में इन आदिम निवासियों की सहायता की जाय, ताकि दूसरे देशों का अनुभव भारतवर्ष में भी चरितार्थ न हो? आज दिन ये जातियाँ अपने सामाजिक जीवन में जिन असुविधाओं से पीड़ित हैं और राज्य के अधिकारियों द्वारा उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और नैतिक तथा भौतिक उन्नति की ओर जो उपेक्षा दिखलायी जाती है, उसकी ओर हमारा ध्यान जाना ज़रूरी है। समय आ गया है कि उनकी दशा को सुधारने और उनकी रक्षा करने के ऐसे कुछ उपाय किए जायँ, जिससे उन्हें अपने आपको नयी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में मदद मिले।
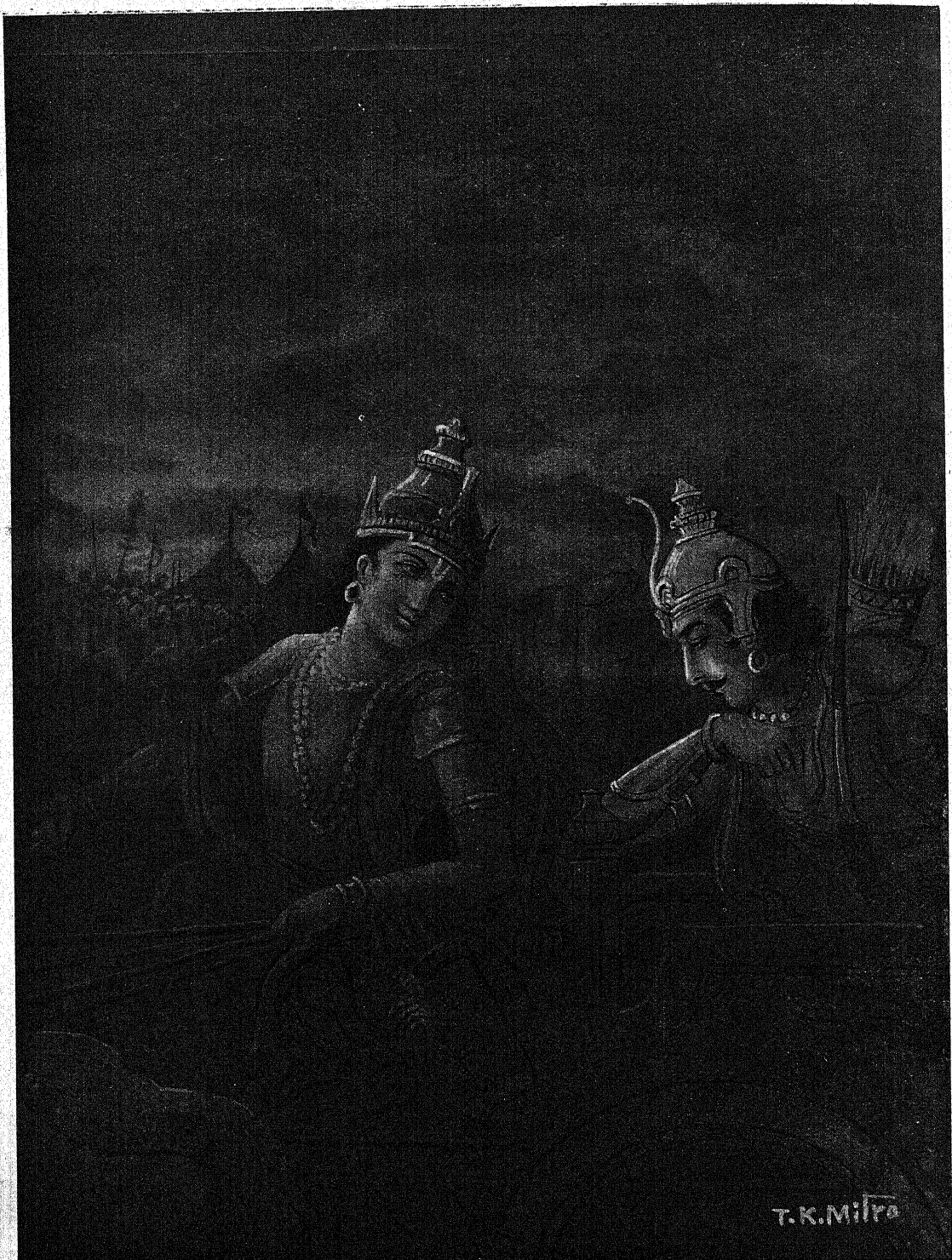
**गीता के प्रवक्ता श्रीकृष्ण**

महाभारत के युद्धक्षेत्र में गीता के रूप में कर्मयोग का जो पाठ श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पढ़ाया था, वह युग-युग तक समस्त मानव-जाति को अंधकार में राह दिखाता रहेगा।
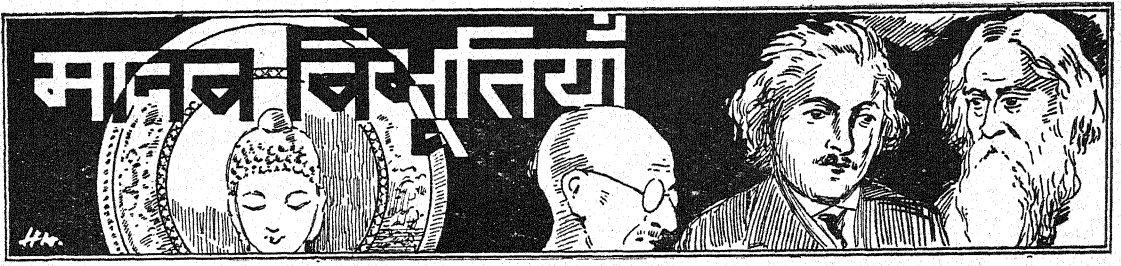
# महापुरुष श्रीकृष्ण

**इतिहास की शोध के जितने सीमित साधन हमें आज दिन उपलब्ध हैं, वे जहाँ की बात हम कहना चाहते हैं संभवतः वहाँ तक हमारे देश के इतिहास को ठीक-ठीक ले जाने में समर्थ न होंगे। इतिहास तो हमें मोहेंजोदड़ो के युग की कुछ धुँधली तस्वीरें दिखाकर ही रह जाता है। परन्तु कृष्ण अथवा राम की कहानी इतिहास की सीमाबद्ध लकीरों में न समाकर भी भारत के लिए सदा से एक चिरन्तन सत्य रही है और रहेगी।**

भारतवर्ष के जिन महापुरुषों का मानव जाति के विचारों पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, उनमें श्रीकृष्ण का स्थान प्रमुख है। आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक ही समय में दो ऐसे व्यक्तियों का जन्म हुआ, जिनके उदात्त मस्तिष्क की छाप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर बहुत गहरी पड़ी है। संयोग से उन दोनों का नाम 'कृष्ण' था। समकालीन इतिहास-लेखकों ने दोनों में भेद करने के लिए एक को 'द्वैपायन कृष्ण' कहा है जिन्हें आज सारा देश महर्षि वेदव्यास के नाम से जानता है, और जिनके मस्तिष्क की अप्रतिहत प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन और विश्वासों का प्रत्येक अंग प्रभावित है। दूसरे देवकी-पुत्र वासुदेव कृष्ण थे, जिन्हें हम अब वास्तव में केवल 'कृष्ण' के नाम से पुकारते हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं के मनोरम आख्यान, उनके गीताशास्त्र के महान् उपदेश तथा महाभारत के युद्ध में उनके विविध आर्योचित कर्मों की कथाएँ आज घर-घर में प्रचलित हैं। असंख्य मनुष्यों का जीवन आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। वस्तुतः हमारे साहित्य का एक बड़ा भाग कृष्णचरित्र से अनुप्राणित हुआ है। कृष्ण के जीवन की घटनाएँ केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहल का विषय नहीं हैं, वरन् वे धार्मिक जीवन की गति-विधि को नियंत्रित करने के लिए आज भी भारतीय आकाश में चमकते हुए आकाश-दीप की तरह सुशोभित और जीवित हैं।

### जन्म और बाल-जीवन

अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, इस प्रकार के तिथि-वार-नक्षत्र योग में आधी रात के समय अपने मामा औग्रसेनि कंस के बन्दीगृह में कृष्ण का जन्म हुआ। इसी एक बात से उस काल के राजनीतिक चक्र का आभास मिल जाता है। जिस व्यक्ति के जन्म के भय से ही उसके माता-पिता की स्वतंत्रता छिन गई हो, क्या आश्चर्य है यदि उसके जीवन का अधिकांश समय देश के राजनीतिक वातावरण को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्त करने में व्यतीत हुआ हो! उस काल के जो भी उच्छृंखल, लोकपीड़क सत्ताधारी थे, उन सबसे ही एक-एक करके कृष्ण की टक्कर हुई। जिस महापुरुष ने योगसमाधि के आदर्श को लेकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का उपदेश दिया हो, जिसका अपना जीवन अविचल ज्ञान-निष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण हो, उसके ही जीवन में कंस-निपात से लेकर यादवों के विनाश तक की कथा एक अत्यन्त करुण कहानी के रूप में पिरोयी हुई है।

कृष्ण का बालजीवन तो एक काव्य ही है। जन्म से लेकर, अथवा उससे पूर्व ही, उनके सम्बन्ध के अतिमानवी चरित्रों का क्रम आरम्भ हो गया था, और उनके वृन्दावन छोड़कर मथुरा आने के समय तक ये बाललीलाएँ आकाश में एकत्रित होनेवाली सुन्दर सुखद मेघमालाओं की भाँति नाना वर्ण और रूपों में संचित होती रहीं। बिना [illegible] हे ही उन्हें हम जानते हैं। हमारे देश के बालवर्ग के [illegible] उन कथाओं की रसमय सामग्री एक अत्यन्त [illegible] है। यमुना नदी और उसके समीप के पीलु के [illegible] लहलहाती हुई लताओं के कुञ्जों में कृष्ण के [illegible] की प्रतिध्वनि आज भी जीवित काव्य-कथाएं हैं। [illegible] उन्होंने उस मल्लविद्या का अभ्यास किया, जिसके [illegible] आगे चलकर मुष्टिक और चाणूर-जैसे पहलवान [illegible] गये। यमुना के कछारों में ही उस संगीत और [illegible] जन्म हुआ, जो हमारी संस्कृति की एक प्रिय वस्[illegible]

गोवंश की वृद्धि और प्रतिपालन के वे प्रयत्न किये गये, जिनका पुनरुद्धार हमारे कृषिप्रधान देश के लिए आज भी एक प्राप्तव्य आदर्श के रूप में हमारे सामने है।

## राजनीतिक चरित्र

इन रमणीय बालचरित्रों की सुखदायी भूमिका तैयार करने के बाद श्रीकृष्ण ने एक दूसरे ही प्रकार के जगत् में प्रवेश किया। उनका वृन्दावन छोड़कर मथुरा को आना उस जगत् का देहली द्वार है। यहाँ जीवन के कठोर सत्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके द्वारा सबसे पहला परिवर्त्तन शूरसेन जनपद की राजनीति में हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीड़क कंस को राज्यच्युत करके कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस समय वह और उनके बड़े भाई बलराम दोनों किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना के तट पर प्रकृति के विश्वविद्यालय में स्वच्छन्द वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वालबालों के बीच में उन्होंने जीवन की एक बड़ी तैयारी कर ली थी, परन्तु मस्तिष्क की साधना का अवसर अभी तक उन्हें नहीं मिल सका था। इस कमी को पूरी करने के लिए वे सान्दीपिनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। कुल-पुरोहित गर्गाचार्य और काशी के विद्याचार्य सान्दीपिनि इन दो नामों का भगवान् कृष्ण के साथ बड़ा मधुर सम्बन्ध है। अवश्य ही गीता के प्रवक्ता को अपने ज्ञान का प्रथम बीज आर्ष ज्ञान-परम्परा की रक्षा करनेवाले तपस्वी ब्राह्मणों से ही प्राप्त हुआ था।

जैसे ही सान्दीपिनि मुनि ने विद्या समाप्त करके कृष्ण को 'सत्यं वद धर्मं चर' वाला अपना अन्तिम उपदेश देकर विदा किया, वैसे ही परिस्थिति ने उनका सम्बन्ध हस्तिनापुर की राजनीति से मिला दिया। वसुदेव और उग्रसेन कृष्ण-बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गये हुए थे। यहीं कुन्ती भी पाण्डवों के साथ आई थीं। बस यहीं कृष्ण और पाण्डवों के बीच उस घनिष्ट सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ का एक साथ स्मरण करते हैं। कंस-वध के समय ही कृष्ण अपनी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिचय दे चुके थे। हस्तिनापुर की राजनीति के साथ सम्पर्क होने के बाद उस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना मिली। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस समय देश में एक बड़ा प्रबल संगठन उन राजाओं का है, जो भारतीय राजनीति की प्राचीन लोकपक्षीय परम्पराओं के विरुद्ध निरंकुश होकर राजशक्ति का प्रयोग करते हैं और जिनके कारण प्रजा में क्षोभ और कष्ट है। कृष्ण का बाल-जीवन लोक की गोद में पला था। वे स्वयं यादव जाति की अन्धक-वृष्णि शाखा के,जो एक गणराज्य (Requblic) था, सदस्य थे। इसी कारण उनकी सहानुभूति स्वभावतः लोक के साथ थी। जैसे-जैसे कारण उपस्थित होते गये, एक-एक अत्याचारी शासक से उनका संघर्ष हुआ। मगध की राजधानी गिरिव्रज में बली जरासंध का वध कराकर उन्होंने उसके पुत्र जारासंधि सहदेव का अभिषेक किया। महाभारतकार ने लिखा है कि उस समय पृथ्वी पर जरासंध का आतंक था, केवल अन्धक-वृष्णि और कुरुवंशी क्षत्रियों ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। इन्हीं दोनों घरानों ने मिलकर उसका अन्त किया। चेदि जनपद में शिशुपाल का एकछत्र शासन था। शिशुपाल दुर्योधन की राजनीति का समर्थक था। दुर्योधन की शक्ति को निर्बल बनाने के लिए जरासंध और शिशुपाल का कंटक निकालना आवश्यक था। तदनुसार शिशुपाल का वध करके माहिष्मती की गद्दी पर उसके पुत्र धृष्टकेतु को बैठाया। नग्नजित् के पुत्रों को हराकर गांधार देश को अनुकूल किया। बलिष्ठ पांड्यराज को मल्लयुद्ध में अपने वक्षःस्थल की टक्कर से चूर कर डाला। सौभ नगर में शाल्वराज को वशीभूत किया। सुदूर पूर्व के प्राग्ज्योतिष दुर्ग में भौम नरक का निरंकुश शासन था, जिसने एक सहस्र कन्याओं को अपने बन्दीगृह में डाल रक्खा था। उसकी निर्मोचन नामक राजधानी में सेना सहित मुर और नरक का वध करके कामरूप प्रदेश को स्वतंत्र किया। बाणासुर, कलिंगराज और काशिराज इन सबको कृष्ण से लोहा लेना पड़ा और सब ही उनके बुद्धि-कौशल के आगे परास्त हुए।

कृष्ण की राजनीतिक बुद्धि अद्भुत थी। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनन्दन करें वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा। 'यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण में से एक को लेना पड़े, तो मैं कृष्ण को लूँगा।' आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य को भी अपनी बुद्धि पर ऐसा ही विश्वास था। उनका मंत्र अमोघ था। जहाँ कोई युक्ति न हो, वहाँ कृष्ण की युक्ति काम आती थी। धृतराष्ट्र की धारणा थी कि जब तक एक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और अधिज्य गाण्डीव धनुष—ये तीन तेज एक साथ हैं, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी भारतीय सेना होने पर भी कौरवों की विजय असम्भव है।

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक बहुत दारुण घटना है। इस प्रलयकारी युद्ध में दुर्योधन की
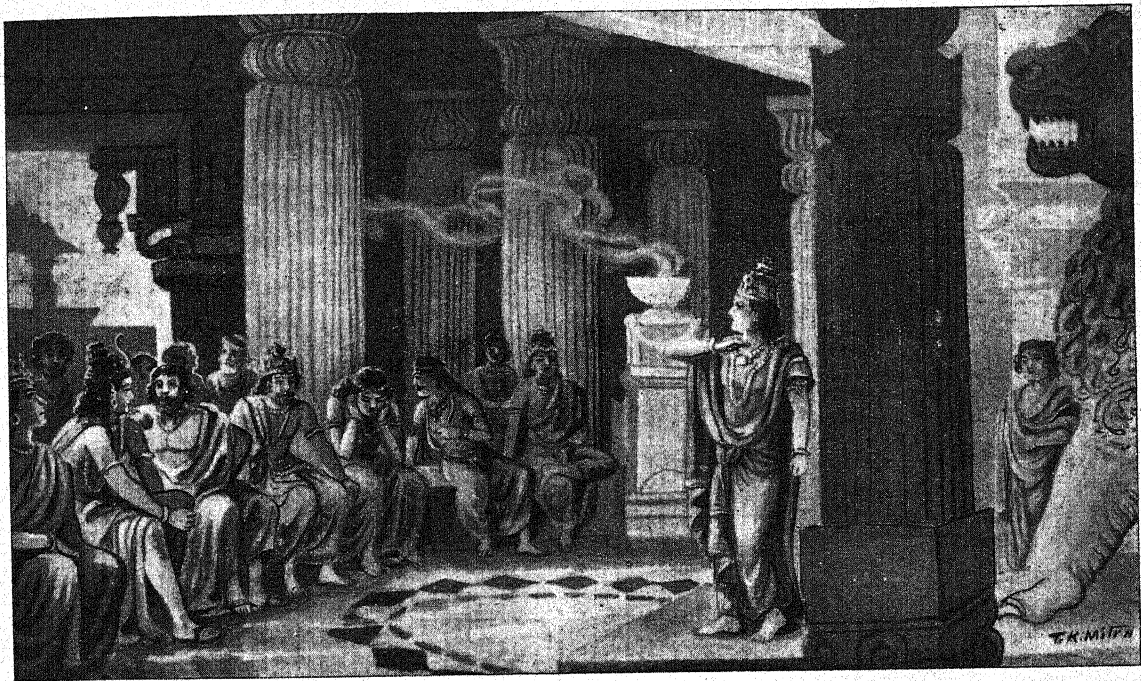
**अंधक-वृष्णि गणराज्य के प्रधान के रूप में श्रीकृष्ण**

महाभारत से हमें ज्ञात होता है कि यादवों की अंधक और वृष्णि शाखाओं का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसमें वृष्णियों के दल की ओर से श्रीकृष्ण प्रधान चुने गये थे। इस संघराज्य की प्रधान संघ-सभा या 'पार्लामेंट' में भिन्न-भिन्न दलों की ओर से बड़े प्रभावशाली भाषण और वाद-विवाद होते थे।

ओर से गान्धार, वाल्हीक, काम्बोज, केकय, सिन्धु, मद्र, त्रिगर्त (काँगड़ा), सारस्वतगण, मालव, और अंग आदि देशों के क्षत्रिय प्रवृत्त हुए। युधिष्ठिर की ओर से विराट्, पंचाल, काशि, चेदि, सृञ्जय, वृष्णि आदि वंशों के क्षत्रिय युद्ध के लिए आये। ऐसे भयंकर विनाश को रोकने के लिए कृष्ण से जो प्रयत्न हो सकता था, उन्होंने किया। वे पाण्डवों की ओर से समस्त अधिकारों को लेकर संधि करने के लिए हस्तिनापुर गये।* वहाँ उन्होंने धृतराष्ट्र की सभा में जो तेजस्वी भाषण दिया, उसकी प्रतिध्वनि आज भी इतिहास में गुंजायमान है—

*कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।*
*अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः॥*

अर्थात् कौरवों और पाण्डवों में बिना वीरों का नाश हुए ही शान्ति हो जाय, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा—हे कृष्ण, मैं सब समझता हूँ, पर तुम दुर्योधन को समझा सको तो प्रयत्न करो।

कृष्ण ने दुर्योधन से कहा—हे तात, शान्ति से ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण होगा ('शमे शर्म भवेत्तात' —उद्योगपर्व १२४।१६)

दुर्योधन ने सब कुछ सुनकर कहा—

*यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।*
*तावदप्य परित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥*

—उद्योग० १२७।२५

अर्थात् 'हे कृष्ण, सुई की नोक के बराबर भी भूमि पाण्डवों के लिए मैं नहीं छोड़ सकता।' बस यही युद्ध का अपरिहार्य आह्वान था। दैव की इच्छा के सामने भीष्म और द्रोण-जैसे नररत्नों की भी रक्षा न हो सकी।

* 'भारतीय राजनीति की परिभाषा के अनुसार दूत तीन तरह के होते हैं, एक 'निसृष्टार्थ' जो देशकाल की आवश्यकता के अनुसार अपने उत्तरदायित्व पर राजकार्य को बनाने का सब अधिकार रखते हैं, दूसरे 'संदिष्टार्थ' जो संदेश या उक्त वचन को ले जाकर कहते हैं, और तीसरे 'शासनहर' जो लिखित पत्र या 'शासन' ले जाते हैं। पाण्डवों ने कृष्ण को प्रथम कोटि का अर्थात् निसृष्टार्थ दूत बना कर भेजा था, जिन्हें उनकी तरफ़ से अपने ही उत्तरदायित्व पर चाहे जिस प्रकार की संधि या निर्णय करने के सब अधिकार प्राप्त थे।

**कौरवों की सभा में राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण**

श्रीकृष्ण ने महाभारत के विनाशकारी युद्ध को रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किया था। इसी उद्देश्य से वह पाण्डवों की ओर से दूत ( दे० पृष्ठ २४७ ) के रूप में कौरवों के पास हस्तिनापुर गये थे, ताकि संधि हो जाय और व्यर्थ का रक्तपात न हो। किन्तु स्वेच्छाचारी निरंकुश दुर्योधन ने आज के 'डिक्टेटरों' की तरह उनके शांति के संदेश को ठुकरा दिया। इस चित्र में बाईं ओर सिंहासन पर श्रीकृष्ण हैं, दाहिनी ओर नीचा सिर किये अंधे राजा धृतराष्ट्र हैं और उनके पास बैठा हुआ दुर्योधन अपना क्रोध प्रदर्शित कर रहा है।

**अन्धक-वृष्णि गणराज्य के प्रधान** ( President of the Andhaka-Vrishni Republic )

महाभारत में हमें कृष्ण का परिचय एक विशिष्ट रूप में मिलता है। यादव क्षत्रियों की दो प्रधान शाखाएँ अन्धक और वृष्णिसंज्ञक थीं। कृष्ण वृष्णि वंश के थे। अक्रूर अन्धक थे। वृष्णि गणराज्य की ऐतिहासिक सत्ता का प्रमाण कुछ प्राचीन सिक्कों से प्राप्त होता है, जिन पर 'वृष्णि राजन्यगणस्य त्रातारस्य' इस प्रकार का लेख है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भ तक वृष्णि लोगों का शासन एक गण या संघ ( Republic ) के रूप में था। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध साहित्य में भी अन्धक-वृष्णियों का उल्लेख है! महाभारत सभापर्व ( अ० ८१ ) से मालूम होता है कि अन्धक और वृष्णियों का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसे श्रीयुत जायसवाल ने उनकी 'फेडरल पार्लामेण्ट' ( Federal Parliament ) के नाम से पुकारा है। इस सम्मिलित संघ में वृष्णियों की ओर से कृष्ण और अन्धकों की ओर से बभ्रु उग्रसेन संघ-प्रधान चुने गये थे। इसीलिए महाभारत की राजनीतिक परिभाषा में कृष्ण को ऐश्वर्य का अर्धभोक्ता राजन्य (entitled to half the executive powers ) कहा गया है। संघसभा में राजनीति के चक्र भी चलते रहते थे। वृष्णियों की ओर से संघसभा में आहुक और अन्धकों की ओर से अक्रूर सदस्यों का नेतृत्व करते थे। कभी-कभी दोनों पक्षों से बहुत उग्र भाषण दिये जाते थे। पारस्परिक कलह से खिन्न होकर एक बार कृष्ण भीष्म से परामर्श करने हस्तिनापुर पधारे थे। तब भीष्म ने उनसे यही कहा कि 'हे कृष्ण, मधुर वचन-रूपी एक 'अनायस' शस्त्र है, तुम उसी के प्रयोग से जातियों को वश में करो। समभूमि पर सब चल सकते हैं, पर विषम भूमि पर बोझा ढोना आसान नहीं। हे कृष्ण, तुम्हारे-जैसे प्रधान को पाकर यह गणराज्य नष्ट न हो जाना चाहिए।' हम जानते हैं कि कृष्ण के प्रयत्न करने पर भी अन्त में तीक्ष्ण भाषण के कारण ही यादवों का आपस में लड़कर विनाश हो गया!

## सोलह कला का अवतार

कृष्ण को हमारे देश के जीवन-चरित्र-लेखकों ने 'सोलह कला का अवतार' कहा है। इनका तात्पर्य क्या है? यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को नापने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाणों का प्रयोग किया जाता है। दूरी के नापने के लिए और नाप है, काल के लिए और है, तथा बोझे के लिए और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिए कला की नाप है। सोलह कलाओं से चन्द्रमा का स्वरूप सम्पूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहों कलाओं के द्वारा प्रकट किया जाता है। कृष्ण में सोलह कला की अभिव्यक्ति थी, अर्थात् मनुष्य का मस्तिष्क मानवी विकास का जो पूर्णतम आदर्श बना सकता है, वह हमें कृष्ण में मिलता है। नृत्य, गीत, वादित्र, सौन्दर्य, वाग्मि, राजनीति, योग, अध्यात्म, ज्ञान, सबका एकत्र समवाय कृष्ण में पाया जाता है। गोदोहन से लेकर राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने तक तथा सुदामा की मैत्री से लेकर युद्धभूमि में गीता के उपदेश तक उनकी ऊँचाई का एक पैमाना है, जिस पर सूर्य की किरणों की रंगबिरंगी पेटी ( Spectrum ) की तरह हमें आत्मिक विकास के हरएक स्वरूप का दर्शन होता है।

## गीता

कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए गीता में है। 'सब उपनिषद् यदि गौएँ हैं, तो गीता उनका दूध है'—इस देश के विद्वान् किसी ग्रन्थ की प्रशंसा में इससे अधिक और क्या कह सकते थे? गीता विश्व का शास्त्र है, उसका प्रभाव मानवजाति के मस्तिष्क पर हमेशा तक रहेगा। संसार में जन्म लेकर हममें से हरएक के सामने कर्म का गम्भीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन कर्ममय है, संसार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्रतिपाद्य शास्त्र है। कर्म के वैज्ञानिक विवेचन के लिए और जीवन के साथ उसका अध्यात्म सम्बन्ध क्या है और किस प्रकार उस सम्बन्ध का निपटारा करने से मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय और शान्ति को प्राप्त कर सकता है, इन प्रश्नों की सर्वोत्तम मीमांसा काव्य के ढंग से गीताकार ने की है। अतएव यह ग्रन्थ न केवल भारतवर्ष बल्कि विश्व-साहित्य की चीज़ है।

कृष्ण भारतवर्ष के लिए एक अमूल्य निधि हैं। उनका हरएक स्वरूप यहाँ के जीवन को अनुप्राणित करता है। जिस युग में इन्द्रप्रस्थ और द्वारका के बीच उनका किंकिणीक रथ बलाहक, मेघपुष्प, शैव्य और सुग्रीव-नामक अश्वों के साथ झनझनाता रहता था, न केवल उस समय कृष्ण भारतवर्ष के शिरोमणि महापुरुष थे, बल्कि आज तक वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि बने हुए हैं। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिमी समुद्रों के बीच के प्रदेश को व्याप्त करके गिरिराज हिमालय पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित है, उसी प्रकार ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म इन दो मर्यादाओं के बीच की उच्चता को व्याप्त करके श्रीकृष्ण-चरित्र पूर्ण मानवी विकास के मानदण्ड की तरह स्थित है।

# दक्षिणी ध्रुव के अमर विजेता

सर डगलस मावसन
( जन्म १८८२ )

सर ह्यूबर्ट विल्किंस
( जन्म १८८८ )

सर अर्नेस्ट शेकल्टन
( जन्म १८७४; मृत्यु १९२२ )

कैप्टेन राबर्ट स्कॉट
( जन्म १८६८; मृत्यु १९१२ )

रोल्ड एमंडसन
( जन्म १८७२; मृत्यु १९२८ )

कैप्टेन रिचर्ड बर्ड
( जन्म १८८८ )

ध्रुव से लौटते समय पड़ाव से ११ मील दूर स्कॉट और उसके साथियों की मृत्यु

जब स्कॉट और उसके साथी ध्रुव पर पहुँचे तो वहाँ उन्होंने एमंडसन का तंबू और झंडा गड़ा पाया !

दक्षिणी ध्रुव प्रदेश पर मँडराता हुआ कैप्टेन बर्ड का हवाई जहाज

# दक्षिणी ध्रुव की विजय

**पृथ्वी के अधोभाग की खोज में बलि होनेवाले वीरों की अमर कहानी**

पृथ्वी के दक्षिणी छोर पर फैला हुआ यह पुंजीभूत क्षीर-महासागर! इस बर्फ़ीले महाद्वीप के मौन सौंदर्य पर, इसकी बर्फ़ीली बलिवेदी पर, कितने अदम्य साहसी वीरों ने अपनी जीवनाहुतियाँ न चढ़ा दीं! एक के बाद एक वीरों की टोलियाँ मीलों लम्बे समुद्र की छाती को चीरते हुए इस कुतूहलपूर्ण, विचित्र और भयानक हिम-प्रदेश की असीम सुनसान परिधि को नापने के लिए बढ़ीं और इसकी अथाह बुभुक्षित उदर-दरी में समाती गईं, फिर भी इसका संपूर्ण रहस्य मानव अभी तक नहीं जान पाया। किन्तु इससे क्या! इन साहसी अन्वेषकों ने अपनी कुर्बानियों की ईंटों से चुन-चुनकर ज्ञान की एक ऊँची दीवार तो खड़ी कर दी, जिस पर चढ़कर इस रहस्यपूर्ण क्षेत्र का विस्तृत रूप से अवलोकन करने और अंत में उस पर अपना पूर्ण साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग भावी पीढ़ियों के लिए खुल गया।

एक के बाद एक अन्वेषक पृथ्वी के इस तल-प्रदेश की ओर जान की बाज़ी लगा-लगाकर बढ़े और उन्होंने वहाँ क्या देखा? केवल बर्फ़ ही बर्फ़, और सुनसान में अपनी भयंकर फुफकार छोड़ती तथा १०० मील प्रति घंटे की गति से भागती हुई बर्फ़ीली आँधी!

इस सुनसान महादेश की छाती पर हहर-हहरकर भागने-वाली उस प्रचण्ड वायु का रूप कितना अदम्य था! इन यात्रियों को कभी-कभी तो साँस लेना भी मुश्किल हो जाता था और उनका दम घुटने लगता था। मुँह पर मानो कोई पञ्जों से खरौंच-सी लेने लगता था। आँखें चौंधिया जाती थीं। मुँह और ओंठ सतत् तीक्ष्ण प्रहार से सूज-से जाते थे। फोड़े-फुन्सियाँ निकल आती थीं। मुँह में ख़ून आने लगता था, और कभी-कभी तो उन्हें अपना सारा बोझ इस अंधड़ पर फेंककर झुके-झुके ही घंटों खड़ा रह जाना पड़ता था। यदि जूते कीलदार न हुए तो बस पीछे ही घसिटते चले गये, और मार्ग छूट गया! जब वे अपने यन्त्रों के धातु-निर्मित भाग को स्पर्श करते तो उन्हें बिजली की झनझनाहट-सी अनुभव होने लगती थी, और वे देखने लगते थे अपनी अँगुलियों के नाख़ूनों के सिरों से उठती हुई चिनगारियों की पतली-पतली-सी रेखाएँ! हवा में विद्युत्-कणों के इस चमत्कार को देखकर उन्हें आश्चर्य होने लगता था! किंतु संसार के इस निर्जनतम महादेश में उन्होंने यदि प्रकृति का विकराल प्रलयंकर रूप देखा तो साथ ही साथ देखा उसका वह मौन सौंदर्य भी, जो संसार के अन्य किसी भी भाग में मिलना दुर्लभ है। दिन के दस बजे हैं और वे देखते हैं कि क्षितिज पर एक जगमगाता हुआ गोला दृष्टिगोचर हो रहा है। धीरे-धीरे कई प्रकाश-स्तम्भ सीधे ऊपर की ओर उठने लगते हैं और तत्पश्चात् लपटों की तरह लपलपाते हुए उस विशालकाय अग्नि-मण्डल के दोनों ओर इन्द्र-धनुष के चटकीले रङ्गों से भरे दो झिल-मिलाते हुए प्रकाश-मण्डल एकाएक आकाश में जग-मगाने लगते हैं। कैसा स्वर्गीय दृश्य रहा होगा वह!

यों तो इस प्रदेश में अठारहवीं शताब्दी में जेम्स कुक से लेकर अभी हाल में कैप्टन बर्ड तक अनेक वीरों ने यात्राएँ कीं परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण यात्रा सन् १८४१ में रॉस-नामक एक अंग्रेज़ के अधिनायकत्व में हुई। रॉस ने ४०० मील तक पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए संसार के इस सबसे बड़े बर्फ़ीले भाग पर पहुँचकर देखा कि हिम की उस ठोस चादर का समुद्री किनारा पठार की तरह समुद्र से सैकड़ों फ़ीट ऊँचा उठा हुआ है। पता नहीं यह ठोस चादर समुद्र पर तैरती रहती है या भूमि पर स्थित है। साथ ही उसने वहाँ लावा उगलते हुए ज्वालामुखी पर्वत भी देखे। वह

सुदूर दक्षिण तक जाकर लौट आया और उसका रेकार्ड कोई भी न तोड़ सका। इसके बाद नारवे, बैलजियम और ब्रिटेन के अन्य कई यात्री ध्रुव की खोज में गए।

आधुनिक शताब्दी के प्रभात-काल में, सन् १९०१ में, कैप्टन स्कॉट के नायकत्व में एक ब्रिटिश जहाज़ दक्षिणी ध्रुव की खोज में चल पड़ा। उसी विशाल बर्फ़ के पठार पर जिस पर रॉस उतरा था, ये नये यात्री भी उतरे तथा पूर्व की ओर ७०० मील तक बढ़े चले गए। फिर भी ध्रुव-बिन्दु तक ये नहीं पहुँच पाये। स्कॉट ने बेलून पर ७५० फ़ीट ऊँचे चढ़कर चारों ओर देखा तो सिवा बर्फ़ के और कुछ नज़र नहीं आया!

सन् १९१२ में मावसन (Mawson) नामक यात्री दो वीर साथियों को लेकर चल पड़ा। उस रीढ़दार बर्फ़ीली भूमि की छोटी-मोटी टेकड़ियों, दरारों, खड्डों आदि को पार करते हुए ये लोग जा ही रहे थे कि एकाएक मावसन का एक साथी ग़ायब हो गया। मालूम हुआ, वह कुत्तों और स्लेज़ की गाड़ी सहित सैकड़ों फ़ीट नीचे एक बर्फ़ीली दरार के मुँह में समा गया है! उसके चीख़ने तक की भी आवाज़ नहीं आती थी। केवल १५० फ़ीट नीचे एक कुत्ता, जिसकी पीठ की हड्डी टूट गई थी, अपने प्राणों की अन्तिम शक्ति लगाकर मारे दर्द के मिमिया रहा था। लेकिन उतनी लम्बी रस्सी भी तो नहीं थी कि उस विशाल दरार के तले को छुआ जा सकता। स्लेज के साथ उस पर लदी हुई खाद्य-सामग्री आदि सभी वस्तुएँ भी उसी बर्फ़ की उदर-दरी में समा गईं। मावसन के पास अब केवल मुट्ठी भर किशमिश और एक कुत्ते की लाश बची थीं। एक स्लेज जिस पर कि तम्बू का बोझा लदा हुआ था उसके पास थी। इसी बोझे को खींचकर मीलों का रास्ता उसने अपने बचे हुए साथी के साथ पार किया। पर उसका यह साथी भी चल बसा। अब अकेले ही इस वज़न को घसीटकर चलना था। नीचे छिपी हुई हज़ारों फ़ीट गहरी दरारें थीं! फिर भी वह बढ़ता ही गया। एक बार तो वह दरार में गिर ही पड़ा, ६ फ़ीट नीचे तक लटक गया और चक्कर खाने लगा। बड़ी मुश्किल से वह बाहर निकल पाया। थकावट और भूख के मारे वह उस दरार के किनारे बेहोश हो गया। जब होश आया तो फिर आगे बढ़ा। लेकिन हवा इतनी तेज़ थी कि वह आगे बढ़ने के बदले पीछे ही अपने रास्ते से मीलों दूर घसिटता चला गया।

अन्त में अपने यन्त्र तोड़-ताड़कर उनकी कीलें जूतों में ठोंककर और पैर जमा-जमाकर वह आगे बढ़ा। इस तरह बड़ी कठिनता से समुद्र-किनारे तक पहुँचा।

इसके बाद फिर वही अमर यात्री कैप्टन स्कॉट अपने कुछ वीर साथियों को लेकर ध्रुव पर धावा बोलने के लिए चल पड़ा। यह वही स्कॉट है, जिसने विशाल बर्फ़ के पठार के किनारे-किनारे जहाज़ चलाकर एक बड़ा भू-भाग खोज निकाला था और जिसका नाम 'किंग एडवर्ड दि सेवंथ लैन्ड' रखा था। शीत बीत जाने पर वह अपने वीर साथियों के साथ ३७० मील तक बढ़ता चला गया, लेकिन मुख्य भूभाग
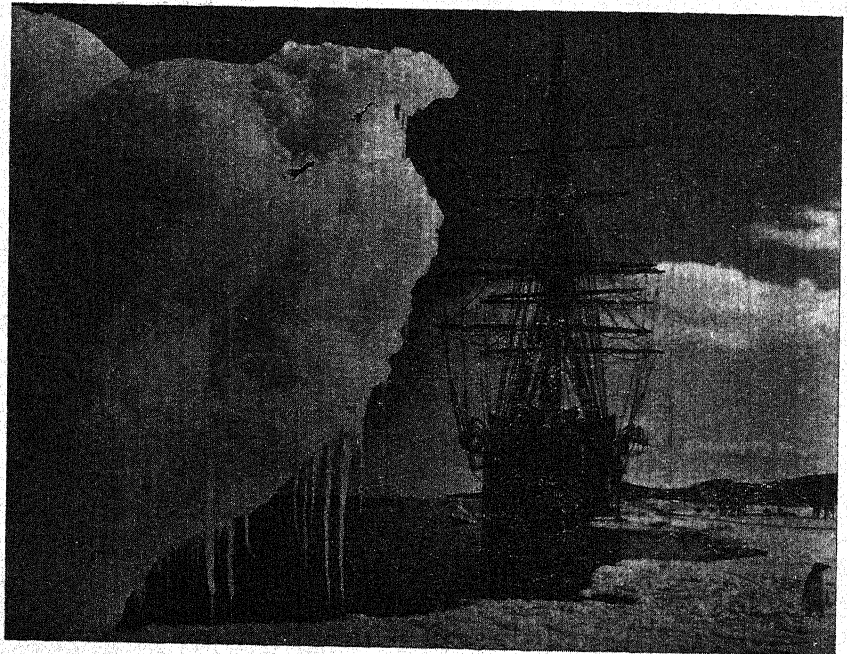
**ध्रुव-प्रदेश में कैप्टेन स्कॉट का प्रसिद्ध जहाज़ "टेरा नोवा"**

सामने की ओर तैरता हुआ एक बर्फ़ का पहाड़ (Iceberg) है, जिससे यह जहाज़ बाल-बाल बचा था।

स
(जन्
ध्रुव से लौ
स्को

तक नहीं पहुँच पाया। कुत्तों के मर जाने से, खाद्य सामग्री के ख़त्म हो जाने से, एक साथी शेकल्टन को ख़ून की बीमारी हो जाने से, उसे बरबस निराशा लेकर पीछे लौटना पड़ा। तो भी उसकी साधना असफल नहीं हुई, क्योंकि उसने दक्षिणी ध्रुव के मार्ग का पता लगा लिया था। १६०८ में वीर शेकल्टन बीमारी से आराम होने पर
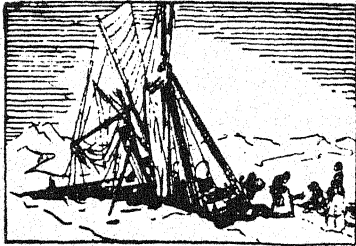
**शेकल्टन का जीर्ण-शीर्ण जहाज़**
जो बर्फ़ की आँधी से टुकड़े-टुकड़े हो गया था।

फिर चल पड़ा। जिस ठोस बर्फ़ीली ज़मीन पर उसने अपना असबाब रखा था, वह बर्फ़ के नीचे बहते हुए समुद्र के पानी की बाढ़ के दबाव के कारण फट गई और फलतः असबाब तो स्वाहा हुआ ही, साथ-साथ ८ टट्टू भी मर गये। यही नहीं, १०० मील प्रति घण्टे की गति से दौड़नेवाली आँधी ने उसके जहाज़ को भी तोड़-ताड़कर दुरुस्त कर दिया। तो भी वह बढ़ते ही गया और जब वह ध्रुव से ६७ मील ही की दूरी पर था, तब भयानक आँधी दौड़ती हुई दीवार के समान उसकी छाती से आकर टकराई और उसे हारकर आख़िरकार वापिस लौटना पड़ा। अब फिर कैप्टेन स्कॉट की बारी थी। इस बार वह अपनी यात्रा को, जिसे कि असफल होने पर भी हिम्मत न हारकर उसने कई बार प्रारम्भ की थी, और जिसे कि शेकल्टन ने क़रीब-क़रीब सफलता के नज़दीक पहुँचा दिया था, पूरी करने का प्रण कर चुका था।

जनवरी १६११ में ओट्स, एडगर इवान्स आदि चार वीर साहसियों को साथ लेकर स्कॉट अपनी अमर यात्रा को पूरी करने की साध में निकल पड़ा। भयङ्कर आँधियों को चीरते हुए, ग्लेशियर्स आदि से बचते हुए ये पाँचों वीर १८ जनवरी, १६१२, को आख़िरकार अपने स्वप्न के ध्रुव पर पहुँच गए। लेकिन स्कॉट का हृदय ही जानता होगा कि उसे कितनी निराशा हुई होगी, जब उसने देखा कि केवल एक माह पहले ही किसी दूसरे ने ध्रुव पर विजय प्राप्त कर ली थी। स्कॉट को दुनिया के इस सबसे वीरान स्थान में एक तम्बू मिला, जिसके पास एमण्डसन की विजयिनी उँगलियों से लिखा हुआ यह सन्देश था "६० डिग्री पर स्वागत!" स्कॉट की यह सफल यात्रा, यह अमर यात्रा, इतनी सफलता में भी असफल ही रही। क्या आख़िर दक्षिणी ध्रुव का विजय का टीका उसके उस देश के मस्तक को गौरवान्वित नहीं कर पाया, जिसने इस युग-युग के स्वप्न को साकार बनाने के लिए अपने प्राणों का कई बार होम किया था? नारवे का साहसी यात्री एमण्डसन अपने ४२ कुत्तों को ही लेकर थोड़े से समय में ही विजय का झण्डा गाड़ गया था। इतने अल्प समय में इतनी महान् विजय! स्कॉट और इसके वीर साथी निराशा का तूफ़ान प्राणों में छिपाए हुए लौट पड़े। भयङ्कर आँधी चल रही थी।

**कैप्टेन ओट्स का आत्म-बलिदान**
शिथिल हो जाने पर साथियों की प्रगति में बाधा न डालने के उद्देश्य से ओट्स ने बर्फ़ीली आँधी की ओर बढ़कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी!

**ध्रुव-प्रदेश की प्रचण्ड बर्फ़ीली आँधी का दृश्य**

टट्टू पहले ही मर चुके थे, अतएव सब सामान-असबाब उन्हें ही उठाना पड़ रहा था। एडगर इवान्स परिश्रम के कारण थककर चकनाचूर हो रहा था। भयंकर शीत, कँपा देनेवाले तूफ़ान और बरसती हुई बर्फ़! इवान्स चल बसा। अब ओट्स के भी पैर लड़खड़ाने लगे। वीर ओट्स, यह समझकर कि इन लोगों को कष्ट देना उचित नहीं, क्योंकि पग-पग पर मौत का ख़तरा है, बरसती हुई बर्फ़ के हहराते हुए तूफ़ान में, जहाँ कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था, एक ओर चल पड़ा। अपने फ़ौलादी कलेजे को सीने में थामे हुए ओट्स अपने साथियों द्वारा रोके जाने पर भी मौत का आलिङ्गन करने के लिए चल दिया,

और लड़खड़ाते हुए उस तीक्ष्ण बर्फ़ीले तूफ़ान के श्वेत अंधकार में विलीन हो गया। अब शेष रहे स्कॉट, और दो और साथी। बर्फ़ के तीक्ष्ण टुकड़े आ-आ कर उनके मुखों पर चुभ-चुभ जाते थे। उनके कपड़े बर्फ़ से तर-बतर हो रहे थे। अन्त में उन्हें क्रूर प्रकृति के भीषण अत्याचार से बचने के लिए वहीं रुककर तम्बू की शरण लेनी पड़ी। उनका मुख्य पड़ाव अब केवल ग्यारह मील दूरी पर ही रह गया था। वहाँ उनको भर-पेट भोजन मिल सकता था। लेकिन केवल दो दिन का भोजन लिए हुए वे वीर पथिक भयंकर तूफ़ान से हिलते हुए इस छोटे-से तम्बू में ही सिकुड़ कर पड़े थे। तूफ़ान एक सप्ताह से भी अधिक समय तक चलता रहा और वे उसी तम्बू में वीरतापूर्वक अनशन करते रहे।

स्कॉट के साथी ४ दिन तक ज़िन्दा रहे और आख़िरी दम तक उन्होंने सद्भावना के पत्र लिखे तथा अपनी-अपनी डायरियाँ भी वे लिखते रहे। स्कॉट ने, जिसकी मृत्यु सब के बाद हुई, अपनी डायरी में मृत्यु का कारण तथा अपने ध्रुव-सम्बन्धी अनुभवों की बातें लिखीं। जब मृत्यु की घड़ी सन्निकट आ गई, तब भी स्कॉट ने मरते-मरते लिखा—'अपनों की सुधि लेना।' कितना करुणा-जनक वाक्य था यह! जब १२ नवम्बर, १९१२, को इन अमर वीरों की खोज में एक पार्टी पहुँची, तब उक्त पार्टी के लोगों को वह मृत्यु-शिविर दिखलाई पड़ा। उन लोगों ने देखा कि वे तीनों मृत्यु की अमर शय्या में लिपटे हुए सो रहे हैं। उनकी डायरियाँ उनके आस-पास बिखरी पड़ी हैं। मूँगों के टुकड़े, कोयले, क़िस्म-क़िस्म की धातुओं के नमूने तथा अन्य कई वस्तुएँ, जिन्हें उन लोगों ने प्राणों से भी अधिक क़ीमती समझकर जुटायी थीं—उस तम्बू में मिलीं जिसमें खाने के लिए एक दाना भी न बचा था। स्कॉट का हाथ विल्सन के शरीर पर रखा हुआ था। ऐसी गौरवशालिनी वीर मृत्यु की महत्ता विनष्ट न होने देने के लिए, लोगों ने उन वीरों के मृत शरीरों को समुद्र से सैकड़ों मील दूर शाश्वत बर्फ़ीले मैदान पर छाते की तरह तने हुए नीरव निर्जन तम्बू में ही रहने दिया। आज दिन भी उनकी वीर आत्माएँ उनके मृत शरीरों के साथ-साथ उस बर्फ़ीले मैदान की छाती पर मानो क़दम बढ़ाये चली जा रही हैं!

इसके बाद के शेकल्टन तथा अन्य लोगों ने भी यात्राएँ कीं। शेकल्टन १९२२ में इसी प्रदेश में स्वर्गलोक को सिधारा।

पृथ्वी के दोनों छोर अर्थात् उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव की यात्राओं से मनुष्य को यह ज्ञात हुआ कि उत्तर का "आर्कटिक" प्रदेश बड़े-बड़े ज़मीन के टुकड़ों से घिरा हुआ एक समुद्र है तो दक्षिण का एण्टार्कटिक प्रदेश गहरे समुद्र से घिरा हुआ एक महाद्वीप है। दक्षिण का यह ध्रुव-प्रदेश पृथ्वी का सबसे ऊँचा पठार है। इसका भीतरी भाग समुद्र-सतह से ६००० फ़ीट ऊँचा तथा इस ऊँचाई पर भी हज़ारों फ़ीट ऊँची हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों से आच्छादित है। इस हिम प्रदेश में साल भर शुष्क रेत-कणों के समान चमकीले बर्फ़-कणों ही की झड़ी लगी रहती है। इस प्रदेश की समस्त ऊँची समतल भूमि लाखों वर्षों से बरसती हुई बर्फ़ की हज़ारों फ़ीट मोटी सतह से आच्छादित है। यहाँ पर हज़ारों फ़ीट नीचे तक पानी में डूबे हुए भिन्न-भिन्न आकार के बर्फ़ के तैरते हुए विशाल पहाड़ों (Icebergs) की भी भरमार है। ६०-६० मील लम्बे पानी पर तैरनेवाले बर्फ़ के पहाड़! प्रकृति का कितना भव्य और साथ ही भयानक दृश्य होगा वह! यहाँ न तो कोई मनुष्य ही रहता है और न वनस्पति ही पैदा होती है। हाँ, पैंग्वीन (Penguin) नामक एक विचित्र प्राणी यहाँ का एक-मात्र निवासी है। यह दूरी से कुछ-कुछ मनुष्य-जैसा दिखाई पड़ता है।

आज इस अखण्ड भू-भाग को हथियाने के लिए सात राष्ट्र अपने-अपने अधिकारों की माँग पेश कर रहे हैं। क्यों? कारण यही है कि इसके बर्फ़ीले गर्भ-स्तल में कोयला आदि कई प्रकार के खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। आज ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, स्वीडन, फ्रान्स, नॉरवे और यूनाइटेड स्टेटस् इसे हथियाने के लिए प्रयत्नशील हैं तथा अपने-अपने झण्डे गाड़ने के लिए उत्सुक हैं। यूनाइटेड स्टेटस् का वीर वायुयान-यात्री रिचर्ड एवेलीन बर्ड (Richard Evelyn Byrd) दक्षिणी ध्रुव पर उड़ा था और वहाँ झण्डा गाड़कर लौटा है। उसने अपनी पहली यात्रा में ४००००० वर्ग-मील अनदेखी ज़मीन का नक़्शा खींचा। १९३३ में उसने फिर वायुयान द्वारा यात्रा की। यूनाइटेड स्टेटस् बर्ड को ७०००० पौंड की आर्थिक सहायता दे रही है और वह इसी वर्ष में फिर दक्षिणी ध्रुव की यात्रा के लिए जहाज़ लेकर रवाना हो रहा है। अभी तो योरप आपसी लड़ाई-झगड़े से ही फ़ुरसत नहीं पा रहा है। सम्भव है, वह दिन भी आ जाय जब कि योरप के राष्ट्रों में इस महान् आश्चर्य-जनक बर्फ़ीले महाद्वीप के टुकड़ों के लिए भी रण-भेरी झनझना उठे!

Registered No. A-119

## महत्वपूर्ण सम्मतियाँ

"मेरी राय में यह एक बहुत ही आकर्षक और बड़ी योग्यता तथा सजधज के साथ तैयार किया हुआ प्रकाशन है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ।"

**( पं० ) जवाहरलाल नेहरू**

"मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि यह ग्रंथ विषयों की टेकनिकल या बारीक बातों को छोड़कर जनता को वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देने में बहुत अधिक सहायक होगा। मैं इस कार्य को हर तरह से सफलता चाहता हूँ।"

**( सर ) स० राधाकृष्णन्,**

[ वाइस-चांसलर, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय ]

"चित्रसंचय, छपाई और विषयचयन, सभी दृष्टियों से यह उपादेय वस्तु है और भाषा भी सर्वथा विषयानुकूल है। इसके प्रकाशन और संपादन से संबंध रखनेवाले बधाई के पात्र हैं।"

**( बाबू ) संपूर्णानन्द,**

[ भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, संयुक्त प्रान्त ]

"यदि इसी योग्यता से इसका सम्पादन होता रहा तो इसमें सन्देह नहीं कि अन्य भाषाओं के ज्ञान-कोषों से किसी अंश में यह कम नहीं रहेगा।"

**( पं० ) अमरनाथ झा**

[ वाइस-चांसलर, प्रयाग-विश्वविद्यालय ]